Guru Updesha
गुरु उपदेश

A collection of Talks and Sayings

प्रवचन संग्रह

(Hindi)

Manav Dayal Ishwar Chandra Sharma

मानव दयाल ईश्वर चंद्र शर्मा
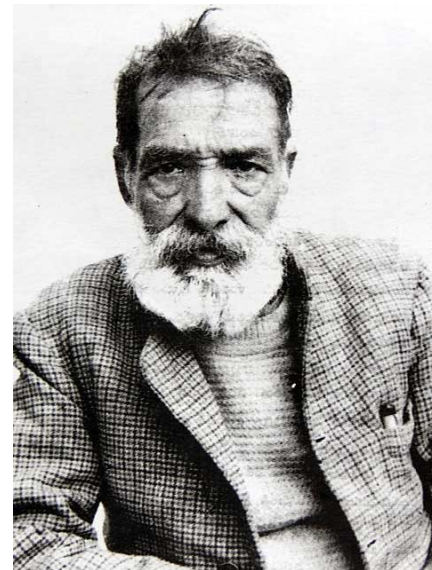
Param Dayal Faqir Chand Maharaj

(Satguru of Manav Dayal)
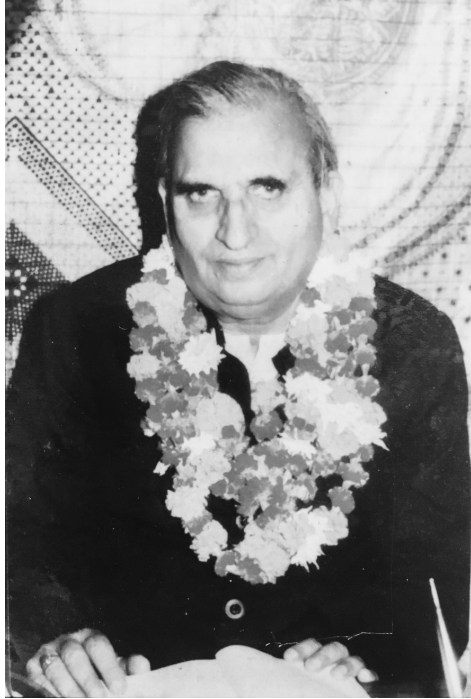
Manav Dayal Ishwar Chandra Maharaj

Param Dayal & Manav Dayal

हुजूर मानवदयाल जी महाराज द्वारा दिये गये सतसंगों के कुछ चुने हुये अंश जो उनकी शिक्षा एवं उनके पराप्रेम को दर्शाते हैं

(नोट–चूंकि प्रस्तुत अंश हुजूर मानव दयाल जी द्वारा दिये गये विभिन्न सत्संगों से लिये गये हैं अतः कई जगह आपको ऐसा लगेगा कि कुछ अंशों की पुनरावृत्ति हुई है, लेकिन ऐसा नहीं है। सत्संगों में हुजूर एक बात को समझाने के लिए यदि किसी बात को दोहराते हैं तो यह समय की मांग के अनुसार ही करते हैं। अतः हमें इस परा ज्ञान को आत्मसात करने का प्रयास करना है।)

सृष्टि की उत्पत्ति

परमतत्व वह शक्ति है जिससे चेतना भी निकलती है, गति भी निकलती है, सुख–दुख भी निकलते हैं, परन्तु वह स्वयं अपने आप में इन सबसे परे की अवस्था है। परमपुरूष की एक बूंद मात्र से न सिर्फ समस्त संसार की रचना हुई है बल्कि हम सब उसकी किरणें हैं। परमतत्व से तीन प्रकार की सृष्टियां निकलती हैं– पहली सृष्टि आधिभौतिक सृष्टि कहलाती है जिसमें ठोस, दृव्य, गैस तथा परमाणु आदि सभी ठोस तत्व शामिल हैं। दूसरी सृष्टि का नाम है देवी–देवताओं की दुनिया जिसे आधिदैविक कहा जाता है। इसके अन्तर्गत सभी नक्षत्र, सौर–मंडल, पृथव्वियां, आकाशगंगायें और लोक–लोकान्तर शामिल हैं जिन्हें संयुक्त रूप में ब्रह्माण्ड कहा जाता है। सृष्टि का तीसरा दर्जा आध्यात्मिक कहलाता है। यह मनुष्यता का दर्जा है अर्थात् इसके अन्तर्गत समस्त मानवमात्र का समावेश होता है।

मनुष्य में दैवी शक्ति भी है और दैवी शक्ति के साथ–साथ भौतिक दर्जा भी है जिसे शरीर कहते हैं। सूक्ष्म रूप में (दैवी रूप में) विचार या मन है। इस प्रकार मनुष्य में स्थूल और सूक्ष्म रूपों के साथ–साथ आत्मा भी है जिसके कारण मनुष्य आध्यात्मिक कहलाता है। इसके साथ ही मनुष्य में एक चौथा विशुद्ध रूप भी मौजूद है जिसे विशुद्ध आत्मा या सुरत कहते हैं। सुरत जब मानव शरीर में भौतिक दर्जे पर होती है तो वह शारीरिक सुख–दुख का अनुभव करती है। लेकिन सुरत अपने निज रूप में न शरीर है, न मन है, न विचार है वह तो इन सबसे अलग है और इन सबका साक्षी है। इन सबको समझने के लिए सुरत शब्द योग की विधि है जिसे राधास्वामी भी कहा गया है। राधा का मतलब है प्रकाश और स्वामी का मतलब है अनहद नाद। जो चीज प्रकाश और शब्द का अनुभव करती है वह मानव के अन्दर एक अविनाशी तत्व है।

मानवता धर्म कोई सम्प्रदाय या फिरका नहीं है यह तो ऐसा रास्ता है जो हमें परमधाम की ओर ले जाता है। परमधाम अनुभव का वह सबसे ऊँचा दर्जा है जो मानव चोले में ही पाया जा सकता है। जब तक मनुष्य जीते–जी इस दर्जे का अनुभव नहीं कर लेता, उसे मरने के बाद मुक्ति नहीं मिल सकती। अगर कोई मनुष्य ईश्वर को देखना चाहता है तो उसे ईश्वर के दर्शन मनुष्य में ही होंगे। यदि कोई ईश्वर से प्यार करना चाहता है तो उसे मनुष्य से प्यार करना चाहिए।

मन की शान्ति

लोग कहते हैं कि मन को चैन नहीं। चैन कैसे हो? चैन धन में नहीं, सम्पत्ति में भी नहीं और परिवार या यार–दोस्तों में भी नहीं है। ये सब चीजें जरूरी हैं लेकिन इनकी प्राप्ति पर चैन मिल ही जायगी यह जरूरी नहीं है। क्योंकि असल में चैन तो तभी मिलेगी जब इन्सान अपने अन्दर निज स्वरूप को जान जायेगा या उसे प्राप्त कर लेगा। जब तक अन्तर में मालिक के साथ तार नहीं बंध जाती तब तक पूर्ण शान्ति नहीं आ सकती।

एक दिन के कर्म और विचार का फल भोगने के लिये कई वर्ष चाहिए और पूरे जीवन के कर्मों और विचारों का फल भोगने के लिए तो लाखों जन्म लेने पड़ सकते हैं। सभी कर्मों का फल एक जन्म में नहीं चुक पाता। लेकिन इससे वचने का रास्ता भी है। गुरू की आज्ञा में रहकर क्रियमाणकर्म कट जाते हैं और सुरत–शब्द–योग के द्वारा संचितकर्म भी कट जाते हैं परंतु प्रारब्ध कर्म तो सभी को भोगने पड़ते हैं चाहे वह संत हो, पीर हो या पैगम्बर हो या अवतार हो क्योंकि प्रारब्धकर्मों के आधार पर ही इस शरीर की रचना हुई है। इसलिये जब तक कोई भी आत्मा शरीर में है उसे उस शरीर के साथ

लगे हुये प्रारब्धकर्मों को अनिवार्य रूप से भोगना ही पड़ता है, इसमें किसी भी प्रकार की छूट की संभावना नहीं है।

आपके मन के छः दर्जे हैं– भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और आपकी आत्मा के भी यही छः दर्जे हैं– तीसरा तिल, सहस्त्रदलकवंल, त्रिकुटि, सुन्न, महासुन्न और भंवरगुफा। इसके बाद आता है सतलोक। जब किसी चीज की जबरदस्त चाह होती है तो वह आदमी अपने अंदर प्रार्थना करता है तो उसके अन्दर Vaccum शून्य पैदा हो जाता है। कुदरत का नियम है कि कोई चीज खाली नहीं रहती। इसलिए चाह करने वाले की जिस किस्म की वासना के अबखरात जो संसार में होते हैं वह शक्ल बनाकर उसके अंदर चले आते हैं ओर उसकी इच्छा की पूर्ति करते हैं।

जो अपने अन्दर गन्दे ख्यालात रखेगा, दुश्मनी के विचार रखेगा तो चाहे उनसे किसी दूसरे का नुकसान हो या न हो परंतु उसका अपना नुकसान अवश्य होगा जिसने ऐसे ख्यालों को पैदा किया है। क्योंकि ऐसे सभी ख्याल ब्रह्माण्ड में रहते हैं और जब तक वे अपना असर ड़ाल नहीं
देते, नष्ट नहीं होते हैं।

क्राइस्ट (Christ) का मतलब है All those who come before you are theieves, I am the only way. अर्थात् तुम्हारे मन के विचार, तुम्हारा मन, तुम्हारी इच्छायें, तुम्हारा अहंकार, तुम्हारा शरीर ये सब तुम्हारी जात के सामने आते हैं इसलिये ये सब चोर हैं। इनके पीछे जो तुम्हारी आत्मा है, कृष्णतत्व है, वही क्राइस्ट है, वही परमतत्व है और वही सच्चा है। जब तुम उसे जान लोगे तो तुम मालिक के पास चले जाओगे, मालिक से मिल लोगे।

एक बार स्वामी रामतीर्थ अमेरिका में प्रवचन दे रहे थे तो किसी श्रोता ने उनसे पूछा कि क्या आप हिन्दू हैं? तो इस प्रश्न पर स्वामी रामतीर्थ ने साधारण सी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुये कहा कि नहीं! मैं तो अनडू (Undo) हूं अर्थात् मेरे मन पर, मेरी बुद्धि पर, मेरी आत्मा पर जितने पर्दे पड़े थे, जितने संस्कार पड़े थे उन्हें हटाकर मैं अब अपनी निज जात को पहचान गया हूं और यही मेरा वास्तविक परिचय है। गुरू आपको तब मिलता है जब आप उसे पाने के लिये तैयार होते हैं। फिर बाहरी गुरू तुम्हें Undo करके आपके पर्दों को धीरे–धीरे हटाकर परमतत्व से मिला देगा। परमतत्व या जात को जानने के लिये नाम का साधन कराया जाता है। नाम साधन भी है और वह अवस्था भी है जहां पहुंच कर परमतत्व से योग हो जाता है, साक्षात्कार हो जाता है।

प्रेम

प्रेम अनन्त है क्योंकि वह मालिक की धारा है। धारा जब ऊपर से चली तब एक से अनेक हो गयी। वह अनेक हम हैं। एक से अनेक होने के कारण हम सबमें तड़फ है, बेचैनी है, अशान्ति है और यह तब समाप्त होगी जब हम उस धार में मिल जायंगें। आपके सांस के अन्दर वह शब्द चल रहा है जो आपकी आत्मा को ऊपर जाने के लिये कह रहा है। यही प्रेम है। प्रेम बेअन्त बहता है क्योंकि यह आत्मा से निकलता है। हम जब भी किसी से प्रेम करते हैं तो उसके शरीर से प्रेम नहीं करते बल्कि उसके अन्दर जो आत्मा है उसके कारण उससे प्रेम करते हैं।

जब तक आप अपने आपसे प्रेम नहीं करते तब तक आप दूसरों से भी प्रेम नहीं कर सकते। प्यार से तो पशु भी वश में हो जाते हैं, इंसान की तो बात ही क्या है? प्रेम अपना नियम आप है। प्रेम में इनकार नहीं किया जाता, प्रेम में दिखावा भी नहीं किया जाता। प्रेम ड़र या चिन्ता के साथ नहीं किया जा सकता। प्रेम में प्रतिफल पाने की कोई इच्छा नहीं रहती अर्थात् प्रेम में केवल अपने प्रियतम को देने की भावना रहती है, उसको खुश करने के लिये कुछ भी कर सकने का जनून होता है और बदले में कुछ भी न चाहना ही प्रेम की सच्ची निशानी है।

जब हम गुरू को नमस्कार करते हैं तब 'तस्मै' शब्द का प्रयोग करते हैं जो चतुर्थी विभक्ति में प्रयोग किया जाता है। यह विचारणीय विषय है कि इसके लिये द्वितिया विभक्ति का प्रयोग क्यों नहीं किया जाता? इसका एक खास उद्देश्य है और वह यह है कि जब कोई चीज किसी के लिए दी जाती है और उसे वापस नहीं लिया जाता तो ऐसे में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार गुरू को जब

नमस्कार किया जाता है तो शरणागत होने के लिये किया जाता है जैसे 'तस्मै श्री गुरूवे नमः' अर्थात् हमने गुरू को सब कुछ दे दिया। यह है पूर्ण आत्मसमर्पण।

जब आप पूरी तरह से शरणागत हो जाते हैं तो जैसे तुम्हारे भ्रम होते हैं कि मुझे यह चीज नहीं मिली या वह चीज नहीं मिली, मौज से सब नष्ट हो जाते हैं और "मैं" नहीं रहती केवल मालिक की मौज ही रह जाती है। लोग कहते हैं कि हम दुखी हैं! मैं कहता हूं कि आप पूरी तरह दुखी नहीं हुये क्योंकि जब आप पूरी तरह दुखी हो जाओगे तो वह मालिक स्वयं तुम्हारे दुखों को दूर करने का प्रबंध कर देगा। अरे! जब गिरो तो इतना नीचे गिरो जहां से उठाने के लिये स्वयं मालिक आये। जब तुम पूरी तरह शरणागत हो जाते हो तो तुम्हें सब कुछ मिल जाता है।

पूर्ण शरणागति की अवस्था आने पर दुनिया के सभी काम पहले की तरह होते रहते हैं लेकिन वे तमाशों की तरह प्रतीत होते हैं। उस वक्त वे चीजें दुख नहीं देती जो पहले दुखदायी प्रतीत होती थीं। शरणागत हो जाने के बाद पूरा विश्वास रखने से भय नहीं रहता है। फिर आदमी माया के फंदों जैसे सुख–दुख, लाभ–हानि और जय–पराजय आदि द्वंद्वों से ऊपर उठ जाता है। दूसरे शब्दों में उस व्यक्ति पर इन द्वंद्वों का असर नहीं होता अर्थात् वह इन सबके बीच रहता हुआ भी निर्द्वंद्व रहता है, मुक्त रहता है।

नाम का मतलब केवल सुमिरन नहीं है, बल्कि उस अवस्था पर पहुंचना है जहां सब द्वंद्व समाप्त हो जाते हैं और जब ऐसी हालत हो जाती है तो वह जो भी काम करता है, तो वह काम मौज के आधीन होता है। जब नाम की प्राप्ति हो जाती है तो जीवन प्रकाशमय अर्थात् नूरी हो जाता है जिससे फिर किसी किस्म की भ्रांन्ति नहीं रहती, अज्ञान नष्ट हो जाता है।

परा और अपरा प्रकृति

भूमिरापोअनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।

प्रकाश को गुरू के चरण कहा जाता है। प्रकाश से ही सारी सृष्टि चर–अचर अर्थात् वह जिसका नाश होता है और जिसका नाश नहीं होता वे दोनों ही प्रकाश से बनती हैं। पांच तत्व, मन, बुद्धि और अहंकार ये आठ प्रकार की नाशवान प्रकृति मानी जाती हैं। इनको अपरा प्रकृति कहते हैं। दूसरी प्रकृति नाशवान नहीं होने के कारण परा प्रकृति कहलाती है। वह आत्मिक जीवों की सृष्टि है जो बिन्दु है और वो हम हैं।

इस प्रकृति में पांच महाभूत हैं जिनसे सारी सृष्टि की रचना होती है। इनके नाम हैं पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश। पृथ्वी का गुण है गंध देना, पानी का गुण है रस देना, वायु का गुण है स्पर्श देना, अग्नि का गुण है ज्योति और ताप देना तथा आकाश का गुण है शब्द। हमारे शरीर में भी पांच कर्मेन्द्रियां –वाक्, हाथ, पैर, उपस्थ और गुदा हैं तथा पांच ज्ञानेन्द्रियां–श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना और नासिका हैं। प्रकृति के पांच महाभूतों पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश का अनुभव हम अपनी ज्ञानेद्रियों क्रमशः नाक, जिव्हा, त्वचा, आंख और कान द्वारा महसूस करते हैं।

पांच ज्ञानेन्द्रियां, मन, बुद्धि और अहंकार ये सब नाशवान हैं लेकिन इन सबको चलाने वाली शक्ति जो शुद्धतत्व है, जो बिन्दु है, जो सारे जगत को धारण करने वाली एक मात्र चेतना है, जो हमारे अन्दर हर समय कायम और दायम रहती है, उसका कभी नाश नहीं होता। इस शक्ति को जानने के लिये किसी गुरू के पास जाना पड़ता है जो सुमिरन, ध्यान, भजन के साधनों द्वारा आपको आपकी फितरत के मुताबिक मंजिल तक पहुंचने का रास्ता बताता है।

जब सुरत शरीर में लग जाती है तो अपने आपको शरीर समझने लगती है। इसलिये शरीर के दुख–सुख अनुभव करने लगती है। सुरत के मन में लग जाने से मन केन्द्र बन जाता है और मन के ख्यालात, आशाऐं, तरगें, मन के संकल्प, फुरना और विचारों को अनुभव करने लगती है। इसे ही भव या संसार कहते हैं और इनमें उलझे रहना ही संसार सागर में डूबे रहना कहा जाता है।

इनसे छुटकारा भी मिलता है, ऐसा नहीं कि इसका कोई उपाय नहीं है। इस संसार सागर से छुटकारा पाने के लिये किसी मार्गदर्शक या गुरू की शरण में जाना पड़ता है और उसके ऊपर श्रद्धा और विश्वास रखकर उसके वचनों को मंत्र या सूक्त मानकर और उनका पालन करने से आदमी के अन्दर धीरे–धीरे उन्नति होनी शुरू हो जाती है। जो चीज हम सोचते हैं कि हम कर रहे हैं, या हम करते हैं, वह तो होनी ही होती है, उसमें अहंकार करने जैसा कुछ भी नहीं है। उस कर्म के करने या न करने से या उसके अच्छे या बुरे फल के प्राप्त होने में हमारे वश में कुछ भी नहीं है। लेकिन हमारे वश में एक चीज है कि हम मालिक पर विश्वास रखें। यह अवस्था मन की एक धारणा है, यह एक किस्म का हमारा अन्दरूनी व्यवहार है कि हम अन्दर से शरणागत हो जांय और बाहर से सब कर्म भी करते रहें।

शिष्य या सतसंगी के लक्षण

काक चेष्टा–कौवा बड़ा समझदार होता है। वह भोजन की तलाश में कभी कहीं कभी कहीं खोज करने जाता रहता है। उसी तरह सतसंगी भी शान्ति की खोज में लगातार चेष्टा करता रहता है।

बको ध्यानं–बगुला अपना ध्यान लगाये चुपचाप खड़ा रहता है और जैसे ही कोई मछली आई कि झट से पकड़ लेता है। इसका भाव यह है कि जो सतसंग आप सुन रहे हैं उसमें से जो बात आपको अच्छी लगे उसे पकड़ लो और उस पर अमल करो।

श्वान निद्रा–कुत्ता खटका होते ही एक क्षण में जाग जाता है। इसी तरह सतसंगी को भी अज्ञान की निद्रा से ज्ञान का शब्द सुनते ही तुरंत जाग जाना चाहिए।

हंस वृत्ति–हंस में यह गुण होता है कि वह दूध पी लेता है और पानी को छोड़ देता है, मोती तो चुग लेता है और अन्य खाद्य सामग्री को छोड़ देता है। इसी तरह सतसंगी को भी चाहिए कि वह अपने मतलब की बात समझ ले और बिना मतलब की बात छोड़ दे, अच्छाई अपना ले और बुराई को छोड़ दे।

गुरू ज्ञान देता है और सतसंगी परमतत्व का ज्ञान देने वाले गुरू को साक्षात् ब्रह्म ही मानता है क्योंकि असली ज्ञान तो ज्ञान देने वाले गुरू की अविनाशी सत्ता ही है। इस बात की समझ आने पर वृत्ति टिक जाती है। फिर गुरू की किरणें काम करती हैं और बार–बार सतसंग में आने से इन किरणों के द्वारा शिष्य गुरू जैसा बन जाता है।

अध्यात्म क्या है?

जगत् में जो कुछ भी है जड़ या चेतन सबके अन्दर वह ओत–प्रोत है। कौन कह सकता है कि वह अलग है, कौन कह सकता है कि वह एक है। इसलिए हम उसको कोई एक नाम नहीं दे सकते। हम कैसे कह दें कि वह जड़ है या चेतन है, वह साकार है या निराकार है। अरे! सभी कुछ उसी से निकला है, वही सभी में समाया हुआ है और सब कुछ उसी के अन्दर समाया हुआ है फिर भी वह सबसे न्यारा है। वह प्रकाश और शब्द से भी आगे है और सब कुछ होते हुये भी कुछ नहीं है। इस कुछ नहीं का मतलब शून्य नहीं है, बल्कि अकह अवस्था है।

हर चीज पर शक या संदेह किया जा सकता है मगर अपने आप पर शंका नहीं की जा सकती कि मैं नहीं हूं क्योंकि अगर भ्रम करने वाला ही नहीं है तो भ्रम भी नहीं है। लोग किसको ढ़ढ़ते हैं? दरअसल लोग अपने आप को ही ढूंढते हैं, अपने हैंपने को ही खोजते हैं।

मन जब इन्द्रियों के साथ लग जाता है तो परमात्मा से दूर हो जाता है और जब आत्मा के साथ लगता है तो परमात्मा की ओर बढ़ता है। मन एक चाबी की तरह है जो एक तरफ घुमाने पर तो ताले को बंद करती है और दूसरी तरफ घुमाने से ताले को खोलती है। वह ताला हमारा शरीर है और हमारी आशायें, इच्छायें, कामनायें, वासनायें, तृष्णायें लीवर हैं जो ताले को बन्द करने में या खोलने में सक्रिय भूमिका निभाती हैं। हमारे बुद्धि, चित्त और अहंकार उस ताले को बंद करने के बाद उसे सील कर देते हैं। यदि मन को दूसरी तरफ घुमा दिया जाय तो इनकी मदद से ताला खुल भी जाता है अर्थात् ईश्वर से मेल हो जाता है। इसलिए मैं कहता हूं कि न इन्द्रियां खराब हैं, न मन खराब है, न बुद्धि खराब है, न चित्त खराब है और न

ही अहंकार ही खराब है, बस इनके रूख को मोढ़ने की जरूरत है। जैसे हम पानी के वेग को या नदी के वेग को बांध बना कर काबू में कर लेते हैं और उसके बाद उससे बिजली पैदा करते हैं और नहर निकाल कर सिंचाई भी करते हैं और उसी पानी को पीने के लिये दूर–दराज के इलाकों में भी भेज देते हैं, उसी प्रकार हम अपनी शक्तियों को बांध कर उन्हें भी सही दिशा में लगा सकते हैं।

दुनिया की वास्तविकता

कहते हैं कि यह दुनिया भ्रम है परंतु इस भ्रम के पीछे भी एक हकीकत है जिसे झुठलाया नहीं जा सकता। रात में भ्रमवश रस्सी को सांप समझ लिया यह तो ठीक है परंतु गौर से सोचो तो इस भ्रम के पीछे भी रस्सी तो हकीकत में थी। यदि रस्सी न होती तो सांप का भ्रम भी न होता। इसी प्रकार इस संसार को यह मत समझ लेना कि यह नहीं है क्योंकि संसार तो है और इसमें सभी दृश्यमान वस्तुऐं भी उतनी ही सच्ची हैं जितना कि हमारा जीवित होने का भान। आदिशंकराचार्य जी ने भी यही कहा था कि **'ब्रह्म सत्यम् जगत मिथ्या'** अर्थात् यह संसार परमतत्व की तुलना में असत्य है। स्वप्न में आपको कभी भी यह एहसास नहीं होता कि यह झूठा है। उसके ढूठे होने का एहसास तो जाग्रत में ही होता है अर्थात् उससे ऊँची हालत में पहुंचने पर ऐसा भान होता है कि स्वप्न असत्य था। इसी प्रकार जब हम अपने आपको शरीर, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार की वर्तमान स्थिति से ऊँचें उठा लेते हैं तब हमें यह कहने का अधिकार मिल जाता है कि यह संसार एवं इसकी वस्तुऐं सच्ची नहीं हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जब हम अपने असली तत्व से मिल जाते हैं तब हमें लगने लगता है कि हमारा निज स्वरूप इन सब चीजों से न्यारा है। वह जो तत्व है वह इन सबका साक्षी है और उसे ही आत्मतत्व भी कहते हैं।

पुराने समय में गुरू तीन तरीकों से ज्ञान देता था–जिन्हें श्रवण, मनन और निदिध्यासन कहते थे। श्रवण का मतलब होता है गुरू के निकट बैठकर उसके उपदेश को सुनना जिसे आजकल सतसंग भी कहते हैं। मनन का मतलब है गुरू के वचनो को सुनकर गंभीरता से उन पर सोचना और यदि कोई शंका हो तो उसका समाधान कराना ताकि अविनाशी तत्व को पूरी तरह से समझा जा सके। निदिध्यासन का मतलब होता है उस परमतत्व का अनुभव करना, अपने अन्तर में परमतत्व का साक्षात्कार करना। शरीर और मन बदलते रहते हैं परंतु जो आत्मा है वह सबका साक्षी है, इन सबका अनुभव करने वाला है, वह कभी नहीं बदलता। संतमत में इसी को नाम की प्राप्ती या सतनाम की प्राप्ति कहते हैं और यही हमारे जीवन का लक्ष्य है जो हमें इस शरीर में रहते हुये ही प्राप्त करना है।

खालसा कौन है? खालसा उसे कहते हैं जिसने पूर्णरूप से अपने आपको पवित्र कर लिया है और निर्हंकार हो गया है। जब यह ज्ञान हो जाता है कि सभी के अन्दर उस मालिक का नूर है तो उस हालत में मैं किसी से नफरत कैसे कर सकता हूं। यदि किसी से नफरत करता हूं तो इसका मतलब तो यही हुआ कि मैं अपने आपसे नफरत करता हूं, यदि किसी पर गुस्सा करता हूं तो अपने आप पर ही गुस्सा करता हूं। अगर आपने इस बात को समझ लिया तो तो आपको निर्वाण मिल सकता है।

एक बात याद रखना–सच बोलना और चीज है और सच में रहना और चीज है। जो आदमी वाणी से सदा सच बोलता है जरूरी नहीं कि वह सच में रहता भी हो और जो सच में रहता है उसके लिये यह जरूरी नहीं कि उसकी वाणी से सदा सच ही बोला जाता हो। यदि बिना किसी स्वार्थ के किसी जीव की जान बचाने के लिए पूर्ण सत्य नहीं बोला गया तो भी वह सच की श्रेणी में ही आयेगा। इसी प्रकार कटु सत्य या अप्रिय सत्य बोलना भी सत्य भाषण की श्रेणी में नहीं आता। इसीलिए कहा गया है–**सत्यं ब्रुयात प्रियं ब्रुयात, न च ब्रुयात सत्यं अप्रियं।** अर्थात् यदि सत्य ऐसा है जिसे सीधे बोलने पर किसी को कष्ट होता है तो उसे दूसरे प्रकार से भी कहा जा सकता है जिससे सत्य भी कह दिया जाय और बात बुरी भी न लगे।

कितने ही आदमी कठिन प्रयत्न करने पर भी सफल नहीं होते जबकि कुछ आदमी थोड़ा प्रयत्न करने पर भी सफल हो जाते हैं। धन, सम्पत्ति, यश–अपयश, पद आदि सब प्रारब्ध में पहले से ही लिखे होते हैं। अगर यह बात समझ में आ जाय तो आपका जीवन सुखी हो सकता है। अब प्रश्न उठता है कि जब सभी चीजें कुदरत के हाथ में

हैं या प्रारब्ध में पहले से ही लिखी हुईं हैं तो हमें स्वतन्त्रता किस बात की है? हमें स्वतन्त्रता एक बात की है कि हम मालिक को सबमें मानकर सबसे प्यार करें तथा अपनी बुद्धि, विवेक और सामर्थ्य के अनुसार पुरूषार्थ करें और उस पुरूषार्थ को और उसके कर्मफल को मालिक को सुपुर्द करते रहें।

प्रत्येक व्यक्ति बंधन से मुक्ति चाहता है, भले ही उसका धन्धा कैसा भी क्यों न हो। परमतत्व वास्तव में आपकी अपनी ही आत्मा है जो केवल साक्षी है। जब साक्षी आत्मा का ज्ञान हो जाता है तब हमको शरीर एवं मन के दुख–सुख और संकल्प–विकल्प नहीं सताते। यदि आपने अच्छे कर्म किये हैं तो आप थोड़े समय के लिए स्वर्ग का आनंद भोगकर फिर वापस इस संसार में आयेंगे। मालिक की शरण में सच्ची लौ लगाने से आपको कर्मों का फल नहीं सतायेगा।

ओउम् का अर्थ

ओउम् का अर्थ है– "अ" किसी का उत्पन्न होना या वह शक्ति जो उत्पन्न करती है जिसे ब्रह्मा कहते हैं। "उ" किसी चीज का पालन करना, इसीलिए इस सृष्टि के पालनकर्त्ता को विष्णु कहते हैं। और "म" का अर्थ है विलीन होना। आत्मा से उत्पन्न यह जगत वापिस आत्मा में ही विलीन हो जाता है और इसके कर्त्ता का नाम है शिव। इसके ऊपर जो बिन्दु है वह चौथा पद है। ये तीनों तो काल मत में हैं लेकिन इनके ऊपर जो बिन्दु है वह दयाल मत में है। यह बिन्दु ही हमारी निज अवस्था है, अन्तिम अवस्था है।

यह ओउम् शब्द धुनात्मक है। यह शब्दब्रह्म है अर्थात् इस शब्द को इन्सान ने नहीं बनाया। ओउम् शब्द की ध्वनि अपने आप अन्दर से आती है और यह हर जगह व्याप्त है। यह हमारी रग–रग में समाया हुआ है। इस धुनात्मक शब्द की आवाज को सुनने का मतलब है अपनी आत्मा की आवाज को सुनना। हम शरीर की आवाज को सुनकर उसको खाना देते हैं और इसी प्रकार उसकी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। मन की आवाज को सुनकर उसे खुश रखने के लिये भिन्न–भिन्न प्रकार के मनोरंजन के साधन जुटाते हैं किंतु अपनी आत्मा की आवाज को सुनने की हम कोशिश ही नहीं करते। क्या कभी आपने सुना है कि जो सांस हम लेते हैं उसके द्वारा आत्मा क्या कहती है? 'सोहम्' अर्थात् मैं वही हूं। इसलिए जब तक हम अपनी आत्मा की आवाज को नहीं को पहचानते तब तक हमें शान्ति नहीं मिल सकती। क्योंकि हम सब यहां मालिक से बिछुड़ कर आयें हैं, इसलिये हमारे अचेतन मन में उससे मिलने की तड़फ है लेकिन हम इस तड़फ को महसूस नहीं करते और जीवन भर शीररिक और मानसिक तड़फ की संतुष्टि में ही लगे रहते हैं। दुनिया की सुख देने वाली चीजें आपका मन तो बहला सकती हैं परंतु शांति नहीं दे सकती क्योंकि उनमें शांति देने की शक्ति है ही नहीं।

मृत्यु की सत्यता

लोभ पाप का बाप होता है। एक जबरदस्त हैरानी की बात यह है कि लोग प्रायः दूसरों को मरता हुआ देखते हैं, उनके साथ मरघट तक भी जाते हैं लेकिन वे यह कभी नहीं सोचते कि उन्हें भी एक दिन मरना है। जब पांडव तेरह वर्ष का निष्कासन भोगने के लिये जंगलों में घूमते–फिरते थे तो एक बार वे सब एक पेड़ के नीचे बैठ गये और पानी की तलाश करने के लिये पहले नकुल गया। उसे पास ही एक तालाव दिखाई दिया जिस पर यक्ष ने कब्जा कर रखा था। जब नकुल ने पानी पीना चाहा तो यक्ष ने पूछा कि पानी पीने से पहले तुम्हें मेरे प्रश्नों का उत्तर देना पड़ेगा वरना तुम्हारी मृत्यु हो जायगी। उसने इस वाणी पर कोई ध्यान नहीं दिया ओर पानी पीने लगा। परिणामस्वरूप वह अचेत हो गया। उसके बाद बारी–बारी से सभी भाई आये और उस यक्ष की बात पर घ्यान न देते हुये उसी अवस्था को प्राप्त हो गये।

अन्त में जब धर्मराज युद्धिष्ठर आये तो उनसे भी यक्ष ने यही कहा। इस पर युधिष्ठर ने कहा कि पूछो आप क्या पूछना चाहते हैं तो यक्ष ने पूछाः "इस संसार में सबसे ज्यादा विचित्र क्या है?" युधिष्ठर ने इसका उत्तर इस प्रकार दियाः "दुनियां में सबसे विचित्र यही है कि प्रतिदिन मनुष्य दूसरों को मरते हुये देखता है परंतु वह कभी यह नहीं

सोचता कि उसे भी एक दिन मरना है।" यह सुनकर यक्ष प्रसन्न हो गया और युधिष्ठर को कोई एक भाई को जीवित करने के लिये वरदान मांगने को कहा। युधिष्ठर ने जब नकुल को जिन्दा करने को कहा तो यक्ष ने कहा कि तुमने अपने बलशाली भाइयों में से किसी एक को जिन्दा करने के लिये क्यों नहीं मांगा। तो इस पर युधिष्ठर जी ने कहा कि हम दो माता के भाई हैं एक माता का मैं जिन्दा रहूंगा और दूसरी माता का भाई नकुल जिन्दा रहना चाहिए जिससे दोनों का वंश चलता रहे। इस पर प्रसन्न होकर यक्ष देवता ने उनके चारों भाइयों को जिन्दा कर दिया।

तो मैं कह रहा था कि जब आपको इस बात का ज्ञान हो जाता है कि आपके अन्दर एक अविनाशी तत्व है और वही अविनाशी तत्व दूसरों के अन्दर भी मौजूद है तो आप किसी से ईर्षा नहीं करोगे, द्वेष और घृणा भी नहीं करोगे। आप सभी अनन्त सागर से निकले हुये बादल हैं, आपके अन्दर एक ही सागर का जल है। जब तक आप वापिस समुद्र में नहीं मिल जाते तब तक आपको शान्ति नहीं मिल सकती। कोई नहीं जानता कि किस क्षण एक ही झटके से आपको असलियत का सही ज्ञान हो जाय और आप भवसागर से तर जांय।

राधास्वामी का अर्थ

'राधा' नाम है आत्मा का और 'स्वामी' नाम है मालिक का। राधा भी आपके अंदर है और स्वामी भी आपके अन्दर है। जब 'राधा' यानी आपकी आत्मा 'स्वामी' यानी मालिक में मिल जाती है तो उस हालत का नाम है 'राधास्वामी'। राधा असल में मालिक की वह शक्ति है जिसकी एक बूंद से कोटि–कोटि ब्रह्माण्ड़ उत्पन्न हुये हैं।

आपके पास अपना है ही क्या जो आप मालिक को दे सकते हैं। हां एक चीज आपके पास अपनी है जो आप मालिक को दे सकते हैं और वह है आपकी "मैं"। **जब आप अपनी "मैं" मालिक को दे देते हैं तो कहीं दुनिया की "मैं" आपको कुचल न ड़ाले, मालिक स्वयं आपकी "मैं" बन जाता है।** गुरू के सामने झुकने का मतलब है अपने अहंकार को झुकाना। जब अहंकार झुक जाता है तब मालिक मिल जाता है।

भगवान कृष्ण ने गीता में कहा है: **"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्"।** मेरा जो भक्त जिस रूप में मुझे भजता है, जिस रूप में मेरे दर्शन करना चाहता है, मैं उसका विश्वास उसी रूप में ही बढ़ाता हूं। **जो भी रूप आपके अन्दर में प्रकट होता है, वह कहीं बाहर से नहीं आता बल्कि आपके मन के अन्दर ही आपके विचारों द्वारा ही बनाया जाता है।** मत चलाने वाले तो सच्चे होते हैं परंतु अनके अनुयायी नासमझी के कारण या अनुभव न होने के कारण अपने मत को अलग तथा दूसरों से ऊँचा जताने की होड़ में लगे रहते हैं। इसी संकीर्णता के कारण आज समाज छोटे–छोटे टुकड़ों में बंट गया है। इससे धर्म के असूलों की अवनति होती है और धर्म एक मजाक बन कर रह गया है।

हमें सदा दूसरों के साथ प्रेम का व्यवहार करना चाहिए क्योंकि दूसरे के अन्दर भी वही आत्मा है जो हमारे अन्दर है। **यदि किसी कारण से हमें किसी को अपशब्द या गाली देने पर मजबूर भी होना पड़े तो यह कोशिश करनी चाहिए कि हम मन से कभी उसका बुरा न चाहें।** जब आप मन से किसी का बुरा सोचेंगे तो उसका बुरा हो या न हो, परंतु आपको आपके बुरे विचारों का फल अवश्य भोगना पड़ेगा। क्योंकि आपका बुरा विचार आपके अचेतन मन में घुंस गया है और वह किसी न किसी समय जब बाहर निकलेगा तो वह बीमारी के रूप में आपको दुख देगा। **आप संसार भर के लोगों से प्यार नहीं कर सकते, इसलिए पहले आप उन लोगों से प्यार करो जो आपके निकट हैं।** इनकी सेवा के बाद अगर समय मिले तो आस–पास के लोगों से, सगे–संबधियों से प्यार करो, उनकी सेवा करो। सेवा करते समय यह हमेशा ध्यान में रखो कि मालिक हर एक के अन्दर मौजूद है। इससे आपका व्यवहार सबके प्रति सुह्रदयतापूर्ण हो जायगा। **एक बात और ध्यान में रखो कि जब आप आंखें बंद करके प्रार्थना करते हैं तो उसकी शक्ति बढ़ जाती है। जब प्रार्थना करते समय आप दुखी होते हैं तो वह प्रार्थना सच्ची प्रार्थना बन जाती है और जल्दी सुनी जाती है।**

भौतिक,सूक्ष्म और कारण शरीर

जाग्रत अवस्था में आपको शरीर का दुख–सुख महसूस होता है, इसके अलावा यदि कोई हमारा अपमान करता है तब भी हमें दुख होता है परंतु स्वप्नावस्था में शरीर नहीं होता इसलिए अगर स्वप्नावस्था में चोट भी लग जाती है तो उससे शरीर पर असर नहीं पड़ता। इसका मतलब है कि जब शरीर काम नहीं कर रहा होता तो कोई और चीज काम कर रही होती है। उसे सूक्ष्म शरीर कहते हैं। सूक्ष्म शरीर के अन्दर प्राणमय कोष, मनोमय कोष और विज्ञानमय कोष होता है। जब मनुष्य मर जाता है तब वह तीन दिन तक सूक्ष्म दर्जे पर रहता है–ऐसी हालत में वह सुनता भी है, देखता भी है परंतु चख नहीं सकता क्योंकि उसके अन्दर शरीर के तन्तु नहीं हैं। उसे यह भी पता नहीं होता कि वह मर गया है, अर्थात् वह उस समय स्वप्नावस्था में रहता है। जब आप सोते हैं तब सूक्ष्म शरीर बाहर निकल जाता है घूमने–फिरने के लिये। उस समय उसके साथ एक सूत्रात्मा होती है जो प्राण की शक्ति के साथ जुड़ी रहती है। गहरी नींद में हमारा सूक्ष्म शरीर भी काम नहीं करता। उस समय हमारा कारण शरीर जिसे विशुद्ध आत्मा या सुरत कहते हैं वह काम कर रही होती है।

जो भूत–भविष्य को अस्वीकार करके केवल वर्तमान को स्वीकार करते हैं वे अपनी दृष्टि को सीमित रखना चाहते हैं। यह बात मुंह से कहना बहुत सरल है परंतु इस पर विश्वास करना कठिन है कि जो शक्ति जड़तत्व को लेकर उससे शरीर का निर्माण करती है और जो शक्ति शरीर के भीतर है दोनों एक ही हैं। शक्ति कभी जड़तत्व से उत्पन्न हो ही नहीं सकती। यह प्रमाणित करना आसान है कि हम जिसे जड़ कह कर पुकारते हैं वह शक्ति की एक विशेष अवस्था है। द्रव्यों को प्रचुर शीर्षीय गति देने से वे ठोस हो जायंगे। यदि मकड़ी के जाले के एक तन्तु को अनन्त वेग दिया जाय तो वह लोहे की जंजीर जैसा सशक्त हो जायगा। वह शक्ति आत्मा है। आत्मा मन पर कार्य करती है और मन के माध्यम से शरीर पर। इस आत्मा का कोई रूप या आकार नहीं होता। वह अनन्त है और अनन्त कभी दो नहीं हो सकता।

गुरू वह सर्वाधार सत्ता है जिसकी शक्ति से इस चराचर जगत में प्राणी जड़, चेतन, द्रव्य, वनस्पति, पत्थर, बालू, पशु–पक्षी सभी पैदा होते हैं, वह कण–कण में व्याप्त है। उसके बिना किसी चीज का अस्तित्व ही नहीं हो सकता। उस सत्ता को कोई परमात्मा कहता है, कोई अल्लाह कहता है, कोई गुरू कहता है परंतु उसका अपना कोई नाम नहीं है और सभी नाम उसके हैं, उसका कोई आकार नहीं है और सभी आकार उसी के हैं।

काल और दयाल

वास्तव में काल अपने आप में कोई चीज नहीं है। काल दयाल का ही वितान है उसी का एक्सटेंसन Extension है। काल को समय भी कहते हैं। अतः समय के परे जाने पर काल का प्रभाव समाप्त हो जाता है। वैज्ञानिक कहते हैं कि गति के बढ़ने पर समय धीमा हो जाता है। इसलिये तेज रफ्तार वाले राकेटों में लगी हुई घड़ियों को बार–बार एडजस्ट Adjust करना पड़ता है। यदि गति अत्यधिक हो जाय तो समय ठहर जाता है। इसलिये राकेटों में अंतरिक्ष में सफर करने वाले अंतरिक्ष–यात्री पृथ्वी पर रहने वाले अपने साथियों की तुलना में अधिक तरोताजा और जवान लगते हैं। मन की गति बहुत अधिक होती है इसीलिये मन अत्यधिक चंचल होता है। यदि मन की गति से बचना है तो इससे अधिक गतिशील वाहन जो कि आत्मा है पर सवार हो जाओ तो समय ठहर जायगा या मन की गति से बाहर निकल कर अगति या शून्य की स्थिति में आ जाओ तब भी समय ठहर जायगा। इसीलिए समाधि–ध्यान करने वालों की आयु प्रायः अधिक हुआ करती है।

काल की कल्पना करके हमने काल को स्वयं ही पैदा किया हुआ है। हम जितना प्यार नाशवान चीजों से करते हैं उतना ही हम काल के अन्दर फंसते जाते हैं। जिस गुरू को आप मानते हो उसे आप परमतत्व मानो परंतु मालिक के जो अन्य गुरू–रूप हैं उनका भी निरादर या तिरस्कार नहीं करना चाहिए।

जो चीज जैसी है उसका वैसा ही साधन है। चूंकि मालिक अविचल है, अचल है, वह स्वयं नहीं चलता परंतु संसार को चलाता है,

इसलिये उसका साधन तब तक नहीं हो सकता जब तक कि आपका मन स्थिर नहीं हो जाता। चक्की के दो पाट होते हैं– एक स्थिर रहता है और दूसरा चलता है तभी उससे आनाज पीसा जाता है, यदि दोनों पाट चलने लगें तो कुछ भी नहीं पिसेगा। इसी प्रकार हमारे मुंह में भी एक जबड़ा स्थिर रहता है और दूसरा चलता है तभी काम चलता है, यदि दोनों जबड़े चलने लगें तब कुछ भी नहीं होने वाला। बस यही बात मन और आत्मा के संबंध में भी लागू होती है। जब तक ये दोनों चलते रहते हैं तब तक परमात्मा से मिलन नहीं होता। जब मन ठहर जाता है या आत्मा स्थिर हो जाती है तभी परमात्मा के साथ मिलन संभव हो पाता है।

गुरू एक है लेकिन उसके रूप अनेक हैं। इसलिए अगर सभी रूपों में उसी एक परमतत्व का अनुभव किया जाय तो मन टिक जाता है। शान्ति उसको मिलती है जो मन के सभी संवेगों को समेटकर चलायमान नहीं होता है। शान्ति उसको नहीं मिलती जो कामनाओं के पीछे भागता है जिनका कोई अन्त नहीं है। इसका यह मतलब नहीं है कि इच्छाओं का दमन कर दिया जाय बल्कि इसका मतलब यह है कि हमें संयम का जीवन जीने की आदत ड़ालनी चाहिए। जिस प्रकार समुद्र में उफनती हुई नदियां आकर मिलती हैं लेकिन समुद्र में कभी भी बाढ़ नहीं आती, समुद्र कभी भी विचलित नहीं होता। बस इसी तरह हमें भी जीवन में सांसारिक सभी संवेगों के बावजूद अचल रहना चाहिए।

अब मैं आपको राधास्वामी का मतलब बतलाता हूं–'रा' का अर्थ है सुरत और 'धा' का अर्थ है शब्द। 'रा' वह सुरत है जो 'धा' से निकली है, शब्द से निकली है। यह सारा जगत शब्दमय है और 'धा' से निकला है। इस जगत में जो यह सौंदर्य है, यह जो शक्ति है, यह उस मालिक की शक्ति है जिसकी एक बूंद से कोटि–कोटि ब्रह्माण्डों की रचना हुई है। इसलिए उस शक्तिमान को मालिक या स्वामी कहा गया है। यह राधास्वामी का अर्थ है। राधास्वामी कोई फिरका या सम्प्रदाय नहीं है और न ही राधास्वामी मत किसी मत का खंडन करता है। हां यह जरूर कहा जा सकता है कि राधास्वामी मत सनातन मत की आखिरी पौड़ी है।

यदि आपका मन शुद्ध है तो आप जो इच्छा करोगे वह पूरी हो जायगी। आप किसी को हानि पहुंचाने का काम मत करो यहां तक कि किसी का बुरा भी मत सोचो अर्थात् बुरे विचार भी मन में मत आने दो। इससे आपका मन शुद्ध हो जायगा और आपके मन में इतनी इच्छा शक्ति आ जायगी कि आप जो चाहोगे वह आपको मिल जायगा। यह बात तो सांसारिक इच्छाओं के लिए कही गई है, यदि आप मालिक से मिलना चाहते हो तो आपकी यह इच्छा भी मन ने शुद्ध होने पर पूरी हो जायगी,
यह हमारा वायदा है। **यदि तुम मालिक से प्यार करना चाहते हो तो मनुष्य से प्यार करो, यदि मालिक की सेवा करना चाहते हो तो किसी गरीब या वृद्ध की सेवा करो।** जो कुछ तुम चाहते हो, यहां (दोनों भौवों के बीच में थोड़ा सा ऊपर जहां महिलायें बिंदी लगाती हैं) ध्यान लगाकर दर्दे दिल से मांगा करो, वह तुम्हें अवश्य मिल जायगा। जरूरत से ज्यादा काम में मत फंसों। अपने मन को शुद्ध करने के लिये किसी निर्बंध पुरूष के सम्पर्क में रहो, उसके मार्गनिदेर्शन में साधन– अभ्यास करते रहो, तुम्हारा कल्याण हो जायगा।

हमेशा दूसरों की भलाई चाहो, किसी की बुराई मत करो, किसी पर गुस्सा मत करो और यदि गुस्सा करना भी पड़े तो मन से उसका भला चाहो, तुम्हारा गुस्सा माफ हो जायगा। किसी पर बिना बात लांछन मत लगाओ और जिसने तुम्हारे साथ भलाई की है, उसका उपकार मानो। कृतघ्नता बुरी बात है। अपने निजी स्वार्थ के लिये किसी के साथ चारसोबीसी मत करो। अपनी रोटी आप कमाओ किसी दूसरे पर निर्भर रहना ठीक नहीं। कहा भी है **–पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।** जैसा बर्ताव तुम अपने साथ होना पसंद नहीं करते वैसा व्यवहार दूसरों के साथ मत करो।

भक्ति से मन एकाग्र हो जाता है। मन के एकाग्र होने से बुद्धि स्थिर होने लगती है और फिर धीरे–धीरे अज्ञान का पर्दा हटने लगता है और कर्म कटने शुरू हो जाते हैं। कुछ समय बाद वह संत हो जाता है और ऐसी अवस्था में आ जाता है जहां सुख–दुख, लाभ–हानि, जय–पराजय, निन्दा–स्तुति आदि किसी भी प्रकार का द्वंद्व

नहीं रहता। ऐसा भक्त फिर अपनी बुद्धि का इस्तमाल नहीं करता क्योंकि बुद्धि आलोचना करती है और बीच में रूकावट ड़ालती है।

विवेक अलग चीज है। सत्य क्या है? असत्य क्या है? असली तत्व क्या है? मन क्या है? मन से परे क्या है? इसको समझ लेना विवेक है। जब यह समझ में आ जाता है तो जिंदगी ऐसे चलती है जैसे बिना हाथ–पैर मारे तैर रहे हों। प्रजापति वह तत्व है जो प्रत्येक के केन्द्र में मौजूद है। उस केन्द्र के चारों तरफ आत्मा घूमती है, आत्मा के चारों तरफ मन धूमता है और मन के चारों तरफ शरीर घूम रहा है, लेकिन प्रजापति स्थिर है और प्रत्येक के अन्तस में रहता है। वह कभी न जन्मता है और न मरता है। वही गुरू तत्व है।

नाम नामी के अन्दर रखा हुआ है, उसको खोदने के लिये प्रेम की कुदाल चाहिए। जब तक प्रेम नहीं होता तब तक ज्ञान भी नहीं हो सकता। जब आप किसी से ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं तो आपको ज्ञानदाता से प्रेम करना पड़ेगा। ज्ञानदाता भी उसी को ज्ञान देता है जिसको वह प्रेम करता है। **भक्त वह है जो विभक्त नहीं है अर्थात् जो अपने इष्ट को अपने से अलग नहीं समझता, उसमें एकाकार कर लेता है।** शरणागत की स्थिति में 'मैं' और 'तू' कुछ नहीं रहता। **बस! विश्वास रखो कि वह सब जगह है, तुम्हारे पास भी है और वह तुम्हें रास्ता जरूर दिखायगा।**

जब यह समझ आ जाती है कि परमतत्व सबके अन्दर मौजूद है बस उसे माया नहीं सताती है। माया अपने आप में कुछ नहीं है। माया तो ब्रह्म की अभिव्यक्ति है, उसी से निकली है और उसी में समा जायगी। माया ही बांधती है और माया ही आजाद करती है क्योंकि मन और बुद्धि भी माया में ही हैं। स्वप्न भी माया की ही निशानी है।

अगर सूर्य का सेवन करो तो पीठ से करो, आंखों पर या मुंह पर सूर्य की किरणें पड़ने से नुकसान हो सकता है और अग्नि का सेवन करना है तो सामने से करो क्योंकि पीठ से सेवन करोगे तो आग से हानि होने की संभावना रहेगी।

पांव छूने का कोई मतलब नहीं अगर छुआने वाला यह समझे कि वह बड़ा है और पैर छूने वाला छोटा हो गया। वास्तव में पांव तो इसलिए छुये जाते हैं कि छूने वाला यह समझे कि एक जगह तो है उसके झुकने के लिये। जिसके पैर छुयें जांय यदि उसे परमतत्व मानकर छुये जांय तो अहंकार चला जाता है और जब अहंकार चला जाता है तो माया का पर्दा हट जाता है। माया अपने आप में झूंठ नहीं है लेकिन जब उसकी तुलना ब्रह्म से करोगे तो माया नीचे आती है। सबके शरीर, मन, बुद्धि, विचार, भाव, संस्कार अलग–अलग होते हैं और होने भी चाहिए। लेकिन इन सबको जो मिलाने वाली चीज है वह तो एक है और वह है आत्मा। जब यह ज्ञान हो जाता है तब कोई किसी से नफरत या द्वेष कैसे कर सकता है! नहीं कर सकता।

'राधा' का दार्शनिक भाव

राधा शब्द नहीं है। असल में यह एक धारा है जिसमें बहकर हम सब ऊपर से नीचे की ओर आये हैं। धारा का मतलब है लोक, जगत, मूल प्रकृति और वह सब कुछ जो हमें दिखाई देता है, जिसके अन्दर आप भी हैं, आपका शरीर भी है, आपका मन भी है और आपकी आत्मा भी है। राधा लोक है और स्वामी परलोक है। राधास्वामी उस हालत का नाम है जहां आपकी आत्मा परमात्मा से मिल जाती है। इस परमतत्व का असली सेवक वह है जो अपने आपको उस मालिक से अलग नहीं मानता क्योंकि मालिक उसके अन्दर है उससे अलग नहीं है। प्रेममय भक्त वही है जो विभक्त नहीं है। जो अपने आपको परमतत्व से अलग समझता है वह परमतत्व को कभी भी प्राप्त नहीं कर सकता।

हमारी प्रकृति, हमारे विचारों और हमारे कर्मों का प्रभाव हमारे चारों ओर सतत एक आभामंडल का निर्माण करता रहता है। जब आप नीचता का काम करते हैं तो आपके आभामंडल का रंग काला हो जाता है। जब आप क्रोध में होते हैं तो उस वक्त आपका आभामंडल लाल होता है। जब आप प्रेम से भरे होते हैं तो उस वक्त आपका आभापंडल गुलाबी रंग का होता है। जब आपको किसी चीज से वैराग्य हो जाता है तो उस समय जोगिया रंग होता है और जब आप मालिक में लग जाते हैं और आत्मसात्कार कर लेते हैं तो उस समय आपका आभापंडल सफेद रंग का
जाता है। यदि कोई आदमी त्रिकुटि पर ध्यान लगाता है और गन्दे विचार भी रखता है तो उसके गंदे विचारों को और अधिक बल मिलता

है जिसके परिणामस्वरूप उसको भयंकर हानि होने की संभावना बनी रहती है। इसलिए हमेशा अच्छे विचार रखो, शिव–संकल्प रखो, शुभ–संकल्प रखो।

तुम कौन हो?

एक बार श्रीकृष्ण भगवान ने गोपियों का भ्रम दूर करने और उन्हें तत्वज्ञान देने के लिए एक लीला रची। एक दिन गोपियों ने श्रीकृष्ण से कहा कि हम तुम्हारे गुरू जी को मिलना चाहती हैं। श्रीकृष्ण ने कहा कि यह तो बड़ी खुशी की बात है। जाओ यमुना के उस पार उनका आश्रम है, परंतु जब गुरू या बच्चे के पास जाते हैं तो कुछ भेंट अवश्य लेकर जाना चाहिए। गोपियों ने लड्डूओं के थाल सजाये और चल दीं गुरू जी के दर्शन करने के लिए, लेकिन जैसे ही यमुना के तट पर पहुंची तो यमुना में बाढ़ आई हुई थी। वे श्रीकृष्ण के पास आईं और अपनी व्यथा बताई। तब श्रीकृष्ण ने उनसे कहा कि जाओ यमुना से कहो कि यदि कृष्ण ने कभी भी हमारा मक्खन न खाया हो, कभी हमारी मटकी न फोड़ी हो तो यमुना मैया हमें रास्ता दे दो। गोपियों ने ऐसा ही किया और यमुना ने उन्हें रास्ता दे दिया। वे उनके गुरू जी के पास गईं, उनका दर्शन किया, उन्हें शौक से लड्डू खिलाये और आशिर्वाद लेकर जब लौटने लगीं तो फिर यमुना में बाढ़ आई हुई थीं। वे सब गुरू जी के पास जाकर बोलीं कि हम घर कैसे वापिस जांयगी? इस पर गुरू जी ने पूछा कि इस पार कैसे आईं थीं तो उन्होंने सब बता दिया। अब गुरू जी ने कहा कि जाओ यमुना से कहो कि यदि गुरू जी ने लड्डू का एक दाना तक भी न चखा हो तो यमुना मैया हमें रास्ता दे दो। गोपियों ने ऐसा ही किया और यमुना ने उन्हें रास्ता दे दिया। जब वे लौटकर वापस कृष्ण के पास गईं तो कृष्ण ने उनसे पूछा कि मिल आईं मेरे गुरू से, कैसे लगे मेरे गुरू जी? तब सब गोपियों ने कहा कि तू भी झूठा और तेरा गुरू तो महाझूठा। तूने हमारा मक्खन चुराया, हमारी मटकी फोड़ी और कहता है कि ऐसा नहीं किया और तेरे गुरू ने हमारे सामने लड्डओं से भरे इतने थाल हड़प कर दिये और फिर कहते हैं कि उन्होंने एक दाना भी नहीं चखा। इस पर श्रीकृष्ण मुस्कराते हुये बोले कि मेरी प्यारी गोपियों यही तो एक रहस्य है जो मैं तुम्हें बताता हूं तुम्हारा मक्खन इस शरीर और मन ने खाया होगा, तुम्हारी मटकी भी इस शरीर और मन ने फोड़ी होगी परंतु "मैं" न तो शरीर हूं, न मन हूं, न इन्द्रियां हूं, न वो हूं जो तुम इन भौतिक आंखों से देख रही हो, अरे! मैं तो इन सबसे न्यारा हूं, इन सबका साक्षी हूं जो इस भूल भुलैया से बाहर आने का ज्ञान देता है। **(कृपया श्रीकृष्ण की इस बात पर गंभीरता से गौर कीजिए और आप भी अपने अस्तित्व को पहचानिए और स्वयं से पूछिये कि आप कौन हैं?)**

आपका जो असली आपा है वह एक रंगमंच है, उस पर नाटक खेला जा रहा है और आप नाटक को देखने वाले दृष्टा या साक्षी हो। जब आपको यह पता चल जाता है कि मैं दृष्टा हूं तो कोई भी सुख–दुख आपको प्रभावित नहीं करते, लेकिन जब आप अपने आपको नाटक का पात्र समझ लेते हो तो उस नाटक की सब घटनाओं से आपको दुख–सुख अनुभव होना लाजमी है। विश्वास रखो कि मालिक सबके अन्दर मौजूद है परंतु हमने किसी को मित्र और किसी को शत्रु बना रखा है। जिसने इस रहस्य को जान लिया उसका अज्ञान का पर्दा हट गया, फिर उसे सबके अन्दर मालिक ही मालिक नजर आयेगा।

हम अपने आप ही गलत कर्म करके या गलत विचार करके विपत्ति मोल लेते हैं। हम अपनी बुद्धि से काम निकालना चाहते है, लेकिन बुद्धि से काम नहीं चलता, प्रेम से काम बनता है। गुरू से प्रेम करो, उसका प्रेम हजार गुना बढ़कर आपके पास आयेगा। गुरू पर कभी शंका मत करो, गुरू पर अविश्वास भी मत करो, यह अपराध है और इस अपराध की माफी सिर्फ गुरू ही दे सकता है, अन्य किसी के पास इतनी सामर्थ्य नहीं है कि गुरू के अपराधी को कोई माफी दे सके। देवताओं में संकल्प शक्ति नहीं होती है। देवताओं के अन्दर सुरत की ताकत भी नहीं होती है। देवताओं के अन्दर चेतना तो है परंतु शरीर नहीं होता, दानवों में शरीर तो है पंरतु चेतना नहीं है। इसलिए मालिक ने मनुष्य को पूर्ण बनाया है जिसमें शरीर भी है और चेतना भी है। तुम न तो पूरी तरह देवता बनो न पूरी तरह दानव बनो, तुम मानव हो बस! मानव ही बने रहो, जो मानव के गुण हैं उन गुणों

को धारण करो, उनका पालन करो और अपना परमपद हासिल कर लो।

एक प्रश्न मेरे मन में अक्सर उठता है कि मालिक ने हमें अपने से जुदा क्यों किया? इसका उत्तर मेरी राय में यही है कि उसने हमें प्रेम का अनुभव कराने के लिए अपने से दूर फेंका क्योंकि प्रेम का असली अनुभव विरह में ही होता है। लेकिन हम इस जगत में आने के बाद यह भूल गये कि हमें वापस जाना है। इसलिए हमें चिताने के लिए संतों का अवतार होता है। **बच्चों को यदि आप पीटें नहीं तो बच्चे अच्छे होते हैं। उनके ऊपर प्रभाव भी अच्छा पड़ता है। बच्चों को पीटने से बड़े होकर उनमें अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं।** अगर बच्चों को पीटना भी पड़े तो कभी भी कटु वचन नहीं बोलने चाहिए क्योंकि कटु वचन का संस्कार अधिक घातक और दीर्घकालीन होता है। एक काम को आप कटु वचन कह कर भी कर सकते हैं जिससे दोनों पक्षों में कटुता और नफरत बढ़ती जायगी और थोड़ा संयम में रहकर उसी बात को मीठ वचनों द्वारा भी कह सकते हैं जिससे चारों तरफ खुशहाली हो जायगी।

मन से किसी को भी नुकसान न पहुंचे अर्थात् किसी को दुख देने के लिए अपने मन में विचार तक नहीं आना चाहिए। किसी के प्रति नफरत के विचार भी मन में मत लाओ। ऐसा करने से आपका व्यक्तित्व ऐसा हो जायगा कि आपको कोई हानि नहीं पहुंचेगी। यदि आप अच्छे विचार छोड़ते हैं तो आने वाले व्यक्ति पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा।

यदि आपके घर में शान्ति नहीं है तो आप समाधि में भी नहीं बैठ सकते। यदि बैठोगे तो यदि आपके अन्दर क्रोध है तो क्रोध बढ़ेगा, ईर्षा है तो ईर्षा बढ़ेगी, रोग है तो रोग बढ़ेगा। इसलिए तो कहा जाता है कि शिवसंकल्प रखो। यदि आपकी कोई चिन्ता है तो वह आपके सामने आ जायगी क्योंकि सूक्ष्मतत्व की ताकत ज्यादा होती है। **मन के शुद्ध होने से शरीर भी शुद्ध हो जाता है, यह अजमाई हुई बात है।**

सतगुरू तुम्हें बंद गाड़ी में ले जा रहा है। आप आराम से बैठो। यदि आज हमारी माताएं इस बात को समझ लें कि हम मधुर वचन बोलेंगी, यदि कोई ताना भी मारेगा तब भी उसका उत्तर मीठे वचनों से ही देंगी तो विश्वास रखो वह घर स्वर्ग बन जायगा और उस घर में रहने वालों का जीवन सुखमय हो जायगा।

इस संसार में रहते हुये माया से ड़रना नहीं चाहिए बल्कि माया में रहते हुये इसे पहचानना और पहचानने के बाद तठस्थ रहकर इससे पार जाने का प्रयास सतत करते रहना चाहिए। माया से पार जाने का मतलब है कि संसार को त्यागना नहीं है, बल्कि इसमें रहते हुये इसमें फंसना नहीं है, किसी भी चीज के प्रति आसक्ति नहीं रखनी है। अगर आप अपनी काम वासना को भी मालिक की तरफ लगा दोगे तो तुम्हारी मुक्ति हो जायगी। अगर आवागमन से बचना चाहते हो तो किसी अनुभवी गुरू के मार्गनिर्देशन में प्रकाश और शब्द का साधन करो।

खुश रहने का एक ही तरीका है–मस्त रहो, हर हाल में और हर वक्त। अपने वचन से किसी को बुरा मत कहो और मन से किसी का बुरा सोचो तथा कर्म से किसी का बुरा मत करो। ऐसा करने से मन की ताकत बढ़ती है।

हमारे घर के अन्दर माताएं और बहने अपने हाथ से जो सात्विक भोजन बनाती हैं उस भोजन को करने से मन के बुरे प्रभाव समाप्त हो जाते हैं और वह खाना स्वास्थ्यप्रद हो जाता है। जो बुद्धिजीवी सात्विक और शाकाहारी भोजन करते हैं उनकी आयु अधिक होती है।

धन अपने आपमें बुरा नहीं है। हमारी संस्कृति ने धन की इतनी प्रशंसा की कि लक्ष्मी को भगवान के समकक्ष ही बिठा दिया। धन के अभाव में तो न सांसारिक कामनाएं पूरी हो सकती हैं और न ही धर्म का प्रतिपादन करना संभव है। इसलिए धन कमाओ और उसे अच्छे कामों में लगाओ। जो धन को पाकर उसे दान देता है, उसे धन मिलता है। काम भी अपने आपमें बुरा नहीं है। कहते हैं –

'काम काम सब कोई कहे, काम न चीन्हें कोई।
जेती मन की कामना काम कहावे सोई'।

जिसकी कामनाएं पूरी नहीं होतीं उसका मन दुखी रहता है। कामनाओं की पूर्ति के लिए गृहस्थ आश्रम बनाया गया है। ऋषियों ने काम को प्रेम में बदल दिया और जीवन का लक्ष्य, जो मोक्ष है, प्राप्त

कर लिया। शरणागत तो खुद होना पड़ता है, कोई दूसरा किसी को शरणागत नहीं करा सकता। **सेवा तो आपको खुद करनी होगी, किसी के कहने पर सेवा करने का कोई लाभ नहीं है।** यदि एक स्त्री अपनी दासी से कहे कि उसके पति की सेवा करे तो, वह सेवा दासी की हैसियत से तो सुख देगी परंतु इस सेवा से पति और पत्नि के बीच जो माधुर्य पैदा होना चाहिए था वह कदापि नहीं होगा।

धर्म का अर्थ

धर्म 'धृ' धातु से बना है जिसका अर्थ है धारण करना परंतु आज धर्म का अर्थ सामप्रदायिकता माना जाता है। जो चीज हमारे जीवन का आधार है उसे धर्म कहते हैं। यह सारा जगत कर्त्तापुरूष से निकला है जिसे हम काल भी कहते हैं। यह सब कुछ धर्म व्यवस्था से चल रहा है, कोई भी चीज बगैर व्यवस्था के नहीं ठहर सकती। यह प्रकृति भी अपनी व्यवस्था पर चल रही है। मनुष्य भी जो स्वयं प्रकृति का नमूना है उसे भी प्रकृति के नियमों पर चलना चाहिए।

सनातनधर्म में चार वर्णाश्रम बताये गये हैं– ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र। वास्तव में ये मनुष्य के स्वभाव एवं कर्म के अनुसार बनाये गये थे। इनका संबंध मनुष्य के उन चार अंगों से है जिन्हें हम सुरत या विशुद्ध आत्मा, आत्मा, मन और शरीर कहते हैं। जिनका स्वभाव खुद भी ऊपर जाने का है और दूसरों को भी ऊपर ले जाने का है, उन्हें ब्राह्मण कहते हैं। जो प्रशासन एवं सुरक्षा रखने में निपुण होते हैं, उन्हें क्षत्रिय कहते है। जिनका मन प्रधान होता है या अधिक विकसित होता है और जो वाणिज्य या कृषि कार्य में कुशल होते हैं, उन्हें वैश्य कहते हैं और जो शरीरिक सेवा अच्छी प्रकार कर सकते हैं, उन्हें शूद्र कहते हैं।

हमारे सनातनधर्म में चार पुरूधार्थ माने गये है– अर्थ काम, धर्म और मोक्ष। जब तक किसी के पास धन नहीं होता, तब तक वह धर्म भी नहीं कमा सकता। ब्रह्मचर्य आश्रम में व्यक्ति को पढ़ने के लिये भेजा जाता था ताकि वह धन कमाने के योग्य बन सके। लेकिन धन ही सब कुछ नहीं है। धन में अधिक आसक्ति खराब होती है। इसी तरह काम का मतलब इच्छाओं की पूर्ति करना है जो गृहस्थ आश्रम में रहकर ही संभव है। गृहस्थ आश्रम सब आश्रमों से उत्तम है। वानप्रस्थ आश्रम का संबंध धर्म से है। धर्म का संबंध आत्मा से है। सबसे बड़ा धर्म है दूसरों का हित करना, दूसरों का कल्याण करना। मोक्ष का संबंध सन्यास से है।

यदि आपका ध्यान मालिक में है तो सांसारिक चीजें आपके रास्ते में रूकावट नहीं डालेंगी। कोई भी मनुष्य ज्ञानेद्रिंयों का इस्तमाल किये बिना रह नहीं सकता, लेकिन इन्हें अपने नियंत्रण में रखना जरूरी है। संतमत में शरीर, मन, आत्मा और सुरत का समन्वय होता है अर्थात् अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष को छोड़ना नहीं है बल्कि इनका रूख मालिक की ओर लगाना है जिससे यह लोक भी बन जाय और परलोक भी बन जाय। धर्म और कर्म को इतना साध लो कि धर्म और कर्म करते हुये शरीर और मन से परे चले जाओ। यही इस मानव जीवन का लक्ष्य है।

जिसमें प्रेम नहीं है वह न तो इस संसार में सुखी रह सकता है और न ही उसे मोक्ष मिल सकता है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव सब मन के अन्दर हैं। यदि मन को प्रेममय बना दिया जाये तो मन इतना पवित्र हो जाता है कि यह आपको स्थूल से सूक्ष्म की ओर और सूक्ष्म से प्रकाश की ओर ले जाता है। प्रेम और मोह में अन्तर होता है। प्रेम निस्वार्थ होता है, प्रेम में त्याग होता है, प्रेम पवित्र होता है, परंतु मोह में स्वार्थ होता है, लेने की या कुछ पाने की लालसा होती है। बस! यही लालसा हमें नीचे गिराती है, वरना प्रेम तो हमें ऊँचे से भी ऊँचा उठाता है। सच्चे प्रेमी कभी यह नहीं कहते–I fall in love with you. अर्थात् मैं तुम्हारे प्रेम में गिर गया या पागल हो गया।

सूक्ष्म, स्थूल और कारण शरीर

जो स्थूल के बाद सूक्ष्म में फंस गया, ऋद्धि–सिद्धि में फंस गया वह आगे नहीं जा सकता, उसे मोक्ष नहीं मिल सकता है। इसलिए पहले स्थूल को अर्थात् शरीर और कर्मेद्रिंयों को साधो फिर सूक्ष्म अर्थात् मन और ज्ञानेद्रिंयों को साधो उसके बाद कारण की बारी आती है अर्थात् सुरत को प्रकाश में लगाने की बारी आती है। लेकिन इनमें फंसना नहीं है। स्वप्न में हम शरीर से आजाद हो जाते हैं, स्वप्न

सूक्ष्म है। उसके आगे है कारण शरीर अर्थात् सुषुप्ति। सुषुप्ति में शरीर भी सो जाता है और मन भी सो जाता है अर्थात् गहरी नींद में द्वैत समाप्त हो जाता है। उस समय केवल एक ही रह जाता है और वह है हमारी आत्मा। **शरीर का लक्षण है सत्, स्वप्न का लक्षण है चित्त और सुषुप्ति का लक्षण है आनन्द।** इसलिए सच्चिदानन्दघन वाला भगवान तो शरीर, मन और आत्मा तक ही है। असली मंजिल तो उससे भी आगे है। उस मंजिल पर पहुंचने के बाद ही शान्ति मिलती है। ये जितने भी देवी–देवता हैं ये सब प्रकाश में रहते हैं। **चूंकि प्रकाश में ठोसपना होता है इसलिए देवी–देवता भी मुक्त नहीं होते।**

आत्मा केन्द्र है। आत्मा बुद्धि को,कारण शरीर को चलाती है। बुद्धि चलाती है मन को और मन चलाता है शरीर को। ज्ञानेद्रिंयां शरीर से संबंध रखती हैं और सूक्ष्म होती हैं लेकिन मन इनसे भी ज्यादा सूक्ष्म होता है। यदि मन साथ न दे तो ये इन्द्रियां कुछ नहीं कर सकतीं। मन भी उस समय तक काम नहीं कर सकता जब तक बुद्धि साथ न दे। बुद्धि से ऊपर है आत्मा। आत्मा अविनाशी है और वही हमारा निजस्वरूप है। हमारी सुरत जिसे विशुद्ध आत्मा भी कहते हैं मालिक का अंश है और जब तक उसे विकसित नहीं किया जाता तब तक आत्मा भूखी रहती है। आत्मा की खुराक है सुरत–शब्द–योग।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शरीर निर्भर है मन पर,, मन निर्भर है आत्मा पर और आत्मा निर्भर है अविनाशी तत्व पर। जब आप शरीर, मन और आत्मा से भी ऊपर चले जाते हैं तब सुख–दुख, मान–अपमान कुछ भी नहीं भासते। ऐसा व्यक्ति किसी से नफरत नहीं कर सकता क्योंकि यदि वह नफरत भी करेगा तो अपने आपसे, क्रोध भी करेगा तो भी अपने आप पर। तुम तो परमतत्व हो परंतु यहां आकर के तुमने अपने आपको शरीर, मन और आत्मा के चक्कर में फंसा लिया है। एक प्रकार से पत्नि सुरत है और पति शब्द है। यदि वे एक दूसरे से सच्चा प्रेम करते हैं तो उन्हें इसी जन्म में मोक्ष मिल सकता है।

सतगुरू का रूप

सतगुरू आपके अंदर भी है और एक सतगुरू ज्ञानदाता के रूप में बाहर भी है। यदि किसी मनुष्य को सतगुरू और सतसंग का मतलब समझ में जाय तो उसे यह पता चल जाता है कि कौन सी चीज नाशवान है और कौन सी चीज अविनाशी है। और यह समझ किसी अनुभवी सतगुरू के सतसंग में या उसके साथ सम्पर्क में आने से ही आती है। राधास्वामी का अर्थ है आत्मा और परमात्मा के मिलन की अवस्था। राधा आत्मा है, लोक है, प्रकृति है और स्वामी परमात्मा है, परलोक है और परमपुरूष है। जब तक आपका लोक नहीं बनता, तब तक आपका परलोक नहीं बन सकता।

जो एक का सहारा पकड़ता है, वह सफल हो जाता है। लेकिन जो आज राम को पूजता है, कल कृष्ण को पूजता है, कभी देवी–देवताओं को पूजता है और कभी गुरू को पूजता है, कभी कहीं जाता है और कभी कहीं जाता है तो उसका काम नहीं बनता, वह असफल ही रहता है क्योंकि उसका विश्वास कहीं भी नहीं टिकता। **सारा खेल विश्वास का है। मालिक तो सबमें है, मगर जीव को विश्वास नहीं, इसलिए काम नहीं बनता।**

शुरू–शुरू में तो मुझे फकीरी जरूर कठिन लगती थी लेकिन अब फकीरी मेरा जनून बन गया है। मुझे हरवक्त सतसंगियों की सेवा करते रहना अच्छा लगने लगा है। मैं जब तक सतसंगियों की सेवा नहीं कर लेता तब तक चैन नहीं मिलती। मेरा गला ठीक नहीं रहता लेकिन जब सतसंग देने लगता हूं तो गला ठीक हो जाता है और मैं घन्टों तक सतसंग देता रहता हूं, उस समय मुझे गला खराब होने का आभास नहीं रहता। **संत काल के देश में आकर बड़े प्रेम से यहां के नियमों का पालन करते हैं और अपना मिशन पूरा करके खुशी–खुशी भौतिक शरीर का त्याग करते हैं।** ईश्वर ऐश्वर्य वाला है और ब्रह्म प्रकाश है लेकिन परमतत्व तो इन सबसे परे है। परमतत्व तो प्रकाश और शब्द से भी आगे है अर्थात् जहां ये सब कुछ नहीं हैं जहां किसी भी प्रकार के बोधभान नहीं होते, वह अवस्था परमतत्व की अवस्था कहलाती है। इसका वर्णन नहीं किया जा सकता परंतु यह अनुभवगम्य है।

सतगुरू के सतसंग से क्या मिलता है? सतगुरू के शरीर से और वाणी से जो धार निकलती है वह आप पर अपना प्रभाव ड़ालती है। अगर आप उसे ग्रहण करने के लिए तैयार बैठे हैं तो उनके एक शब्द से आपको उद्‌बोधन हो सकता है। सतगुरू के शरणागत हो जाने से वह तुम्हें अपने जैसा बना लेता है। सतगुरू सैन–बैन से अकह को भी कह देता है और अलख को भी लखा देता है। सतगुरू के सतसंग से हमें अपनी जात का या निज स्वरूप का पता चल जाता है।

ओंकार शब्द को भारत के ही नहीं अपितु अन्य देशों के भी सभी धर्म मानते हैं। उदाहरण के तौर पर ईसाई, इस्लाम और यहूदी आदि भी ओंकार को मानते हैं लेकिन वे इसका उच्चारण अलग ढ़ंग से करते हैं। वे इसे 'आमीन' कहकर उच्चारते हैं। ओंकार के साथ जो बिन्दु लगा हुआ है, उसका अर्थ है कि हम उस ओंकार को नमस्कार करते हैं जिसमें अ उ म इन अक्षरों के साथ इनका अधिष्ठाता जो बिन्दु लगा हुआ है उसको नमस्कार करते हैं। अ उ म का अर्थ है ब्रह्मा, विष्णु और महेश। ब्रह्मा परमात्मा का स्थूल शरीर है, यह सारा चराचर जगत जो दृश्यमान है यह परमतत्व का स्थूल शरीर है। जगत को पैदा करने के बाद उसका पोषण करने के लिए उस परमतत्व ने एक शक्ति और पैदा कर दी जिसे विष्णु कहते हैं। यह मालिक का सूक्ष्मरूप है जिसे ब्रह्माण्डी मन कहते हैं। जब जगत पैदा हो गया तो इसका नाश भी होना जरूरी है क्योंकि यह स्थाई नहीं है। अतः जहां से यह पैदा होता है, शिव शक्ति इसे वापस वहीं पहुंचा देती है। इसे कारण और महाकारण भी कहते हैं। इसी प्रकार मनुष्य का शरीर ब्रह्मा है, मन विष्णु है और आत्मा शिव–आनन्द है। इस प्रकार सत्, चित्त और आनन्द आपके अपने ही अन्दर हैं।

योगी कौन है

योगी कौन है? **उपनिषद् के ऋषि कहते हैं कि जो अपने आपको स्वयं के अन्दर बैठे हुये परमतत्व से मिला दे वह योगी है और जिस साधन से मिलाये उस साधन को ही योग कहते हैं।** घर के अन्दर पत्नि अपने पति की, अपने बच्चों की सेवा कर रही है, वह भी योग कर रही है, वह किसी योगी से कम नहीं है। शरीर सेवा करने के लिए मिला है। आप सारी दुनिया की तो सेवा कर नहीं सकते, इसलिये अपने माता–पिता, भाई–बहनों, बच्चों और पड़ोसियों की सेवा किया करो आपका कल्याण हो जायगा। माताएं अपने घर में अपने पति की ईश्वर मानकर सेवा करें, उनको इसी से परमधाम की प्राप्ति हो जायगी।

मन इसलिए मिला है कि उससे आप मालिक से प्यार करो। एक बार हनुमान जी ने राम से कहा कि प्रभु! यह शरीर तो आपकी सेवा में है, इसलिए शारीरिक दृष्टि से मैं आपका सेवक हूं जीव की दृष्टि से मैं आपका अंश हूं और आत्मा की दृष्टि से मैं हूं ही नहीं, आत्मा के रूप में तो केवल आप ही आप हो। अतः मैं तो आपकी शरणागत हूं, आपका दास हूं, इससे ज्यादा मैं कुछ नहीं जानता। एक भक्त को वास्तव में इससे ज्यादा जानने की जरूरत भी नहीं है। (जिसने इतना जान लिया उसने तो सब कुछ जान लिया, परमात्मा को जान लिया)।

मन का स्वभाव है सोचना और विचार करना। **जिस प्रकार सेवा करने से शरीर शुद्ध होता है उसी प्रकार शुभसंकल्प करने से मन पवित्र होता है।** मन का संबंध हमारे भावों से है। यदि हम प्रेममय बनकर दूसरों के प्रति दुर्भावना न रखें तो हम स्वयं भी सुखी रह सकते हैं और दूसरों को भी सुखी रहने में मदद कर सकते हैं। किसी शायर ने अच्छा कहा है–

हर शै में कारसाज उसी एक खुदा को देख।
शैतां भी पास आये तो उसमें भी खुदा को देख।।

अक्सर लोग झूठे अहंकार में भूले रहते हैं कि मैं अमुक हूं, अमुक अफसर हूं, इतना धनवान हूं, इतना शिक्षित हूं, अमुक खानदान का हूं, बड़ी कोठी वाला हूं आदि–आदि। परंतु यह सब उपमायें या उपाधियां तो शरीर रूपी घोड़ें की हैं और आप तो इस शरीर रूपी घोड़े के सवार हो। लोग घोड़े के पीछे भागते हैं और जिसका यह घोड़ा है उसकी परवाह नहीं करते। एक बार एक आदमी घोड़े पर बैठकर राजा से मिलने गया। राजा ने अपने नौकरों–चाकरों से कहा कि इनको आरामगृह में ले जाओ और इनका विशेष ध्यान रखना।

खुशकिस्मती से उस आदमी का घोड़ा बहुत ही सुंदर और लाजवाब था।

राजा के नौकर– चाकर उस घोड़े की ही देख–भाल में लगे रहे और उसके सवार के खाने–पीने की तरफ कोई ध्यान नहीं दिया। अगले दिन जब वह आदमी राजा से मिला तो राजा को यह जानकर बहुत दुख हुआ कि उससे मिलने आये मेहमान की उसके कहने के बावजूद कोई सेवा नहीं की गई, उल्टे उसे कष्ट पहुंचा। अब आप साचो कि हमारा राजा परमात्मा क्या सोचता होगा कि हम शरीररूपी घोड़े की तो इतनी देखभाल करते हैं लेकिन इसके सवार जो परमात्मा का अंश है उसकी कितनी अनदेखी करते हैं। इससे परमात्मा निश्चित ही निराश होगा।

हम साये के पीछे तो रात–दिन भागते रहते हैं लेकिन जिसका वह साया है उसकी परवाह नहीं करते। जब तक उस सार तत्व को, उस आधार को मिलने की तड़फ हमारे अन्दर नहीं जागती तब तक हमें शान्ति नहीं मिल सकती। अगर धन से मालिक मिल जाता तो इस संसार में धनवान लोग गरीबों को भगवान से कभी भी नहीं मिलने देते।

एक बार एक शेर का बच्चा किसी परिस्थितिवश भेड़ों के झुंड में जा मिला और भेड़ो का दूध पीकर ही बड़ा हुआ। भेड़ों के साथ रात–दिन रहने के कारण उसका खान–पान भी भेड़ों जैसा ही हो गया। एक बार एक सिंह ने जब अपने वंशज उस बच्चे को भेड़ों के झुंड़ में देखा और घास खाते देखा तो उसने उस बच्चे को अपने पास बुलाया और समझाया कि तू भेड़ का बच्चा नहीं है तू शेर का बच्चा है लेकिन वह नहीं माना। तब उसने उसे उसका चेहरा नदी के पानी में दिखाया और कहा कि देख! तू मेरे जैसा है कि नहीं। उसके बाद उस सिंह ने जोर से दहाड़ मारी तो सारी भेड़ डर कर भाग गईं और उससे भी ऐसा ही करने को कहा तो उसने भी कुछ प्रयास के बाद वैसी ही दहाड़ लगाई। यह बात मैंने इसलिए आपको बताई कि आप भी शेर के बच्चे हो, आप भी अविनाशी परमतत्व के अंश हो लेकिन भूले हुये हो। अगर आप भी अपने अन्दर झांककर देखो तो आपको भी यह बोध हो जायगा कि आप महज खाक नहीं हो बल्कि पूर्ण के अंश हो।

स्व की पहचान

कोई भी अपने अन्दर ईश्वर को तब तक नहीं देख सकता जब तक कि उसमें अपने इष्ट के प्रति निर्बाध श्रद्धा, अटूट विश्वास और निस्सीम प्रेम न हो। श्रद्धा का मतलब ही अपने इष्ट से प्रेम करना है। प्रेम वो धारा है जो आत्मा से निकलती है और रास्ते में जलाशयों को भरती हुई, खेतों को सींचती हुई अपने इष्ट में अपने समुद्र में पुनः समा जाती है। माता–पिता के प्रति जो प्रेम होता है उसे श्रद्धा कहते हैं, भाई–बहन या मित्र के प्रति जो प्रेम है उसे स्नेह कहते हैं और जो प्रेम हम अपने से छोटों को करते हैं उसे वात्सल्य कहते हैं। पति–पत्नि के बीच जो प्रेम होता है उसे दामपत्यरति कहते हैं जो उपरोक्त तीनों प्रेम का समन्वय है। दामपत्यरति से भी बढ़कर एक और प्रेम है जो मालिक से या अपने इष्ट से किया जाता है। मालिक से कोई भी नाता जोड़ लो चाहे शत्रुता का ही नाता जोड़ लो, तुम्हारा उद्धार हो जायगा। अगर आप मालिक का साधन समय से करें तो आपका मन स्थिर होने लगेगा, आपके सभी काम जल्दी और सहजरूप से होने लगेंगे। आप चूंकि साधन नहीं करते इसलिए आपको साधन के लिए समय नहीं मिलता और आप व्यर्थ के बहाना बनाते रहते हो।

गुरू या मालिक के प्रति जो प्रेम होता है उसमें इतनी अलौकिक शक्ति होती है कि आपके और संबंधों को भी शक्ति प्रदान करती है। सारा वैभव और ऐश्वर्य राधा है और आप स्वामी हो। राधा आपका आवरण है और आप उसके आधार हो। शुकदेवमुनि जब राजा जनक के पास ज्ञान लेने गये तब राजाजनक ने उनके हाथ में तेल से भरा कटोरा देते हुये कहा कि इस कटोरे को लेकर आप इस नगर का एक चक्कर लगाकर आओ और देखो तेल की एक बूंद भी भूमि पर न गिरने पाये। फिर कल से आपकी पढ़ाई शुरू की जायगी। इधर राजाजनक ने नगर में हर जगह नाच–गाने और खेल–तमाशों का जोरदार प्रदर्शन करा रखा था। जब शुकदेव जी नगर का चक्कर लगाकर लौट आये तो राजाजनक ने उनसे पूछा कि आपने नगर में

जो उत्सव देखा उसका कुछ वर्णन कीजिए। इस पर शुकदेवमुनि ने कहा महाराज मेरा तो सारा ध्यान इस कटोरे पर था, मुझे तो इसके अलावा कुछ भी ध्यान नहीं रहा। राजाजनक बोले, "शुकदेव ठीक ऐसे ही मैं भी राज–काज और ऐश्वर्य के बीच रहता हुआ सारा ध्यान मालिक में लगाए रखता हूं। यही मेरी विदेह अवस्था है।" फिर राजाजनक ने शुकदेवमुनि को ज्ञान देते हुये कहा कि सच्चा त्याग तो मन से होता है, दुनिया त्यागने से सच्चा त्याग नहीं होता। यह बात इसलिए बताई क्योंकि शुकदेवमुनि गर्भ से ही और गर्भ से बाहर आते ही सब कुछ त्याग कर जंगल में चले गये थे लेकिन उन्हें सच्चा ज्ञान नहीं मिला था, जो अब मिला।

स्वप्न और आनन्द की अवस्था घोड़ा है, आत्मा भी घोड़ा है और आप उसके सवार हो, आपकी जात सवार है। सतगुरू वह है जिसे परमतत्व का अनुभव हो गया है, उसका शरीर, मन और आत्मा सब आनन्दमय होते हैं। फकीर हमेशा खुश रहता है और खुश रखता है। दुनिया खाक में मिल जाय लेकिन मैं तो परमतत्व हूं, जो ऐसा समझता है बस! वही सही समझता है। हर मनुष्य के अन्दर एक कुरेद होती है और जब तक वह कुरेद नहीं मिटती उसे शान्ति नहीं मिलती और वह कुरेद होती है परमतत्व से जुड़ने की, मालिक से मिलने की,अपनी जाते–पाक से मिलने की।

ईश्वर का रूप

बहुत कम लोग हैं जो राम के रूप को भली–भांति जानते हैं। राम के अनेक रूप हैं–

"एक राम दशरथ का बेटा, एक राम घट घट में बैठा।
एक राम का सकल पसारा, एक राम दुनिया से न्यारा।"

एक शरीरधारी राम है जो दशरथ का पुत्र है जिसके पीछे दुनिया पागल हो रही है। दूसरा राम इस जगत को चलाने वाला मन है जिसको ब्रह्माण्डी मन भी कहते हैं। यह प्रत्येक के घट में विद्यमान है यहां तक कि अणु और परमाणु में भी इसकी सत्ता मौजूद है। इसके अलावा एक राम वह है जो सारे जगत का पालन करता है, उसे विष्णु कहते हैं। एक राम दुनिया से न्यारा है, जिससे सब कुछ निकलता है, वह कारण शरीर है। इसे हिरण्यगर्भ भी कहते हैं। और एक राम इन सबसे परे है जो इन सबमें रहता हुआ भी कूटस्थ है, केन्द्रस्य–केन्द्रम है, अलख, अगम और अनामी है। तुम सब उसी के अंश हो और उसी को ढूंढ़ रहे हो।

ईश्वर का स्थूल रूप

इस रूप में पृथ्वी, आकाश, नक्षत्र, तारे, सौरमंड़ल और अनन्त आकाशगंगायें हैं। यही एक पृथ्वी नहीं है जिस पर हम तुम रहते हैं, बल्कि इस जगत में ऐसी अरबों–खरबों पृथ्वियां हैं जो अरबों–खरबों सूर्यों के चारों ओर चक्कर लगा रही हैं।

ईश्वर का सूक्ष्म रूप

इस सारे जगत को चलाने वाली ताकत को, पोषण करने वाली ताकत को प्राण शक्ति या मन की शक्ति कहते हैं। आप परमतत्व का अंश हो–वंश हो परंतु उसका भाग या टुकड़ा नहीं हो। आप उसकी फोटोकापी भी नहीं हो, बल्कि उसकी संतान हो। अगर आपने अपने आपको परमतत्व मान लिया तो आपमें अहंकार आ जायगा। परंतु यह भी सत्य है कि मालिक ने तुम्हें अपने जैसा ही और अपने रूप में ही बनाया है लेकिन तुम मालिक नहीं हो।

नमूने के तौर पर ईश्वर सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। आपके शरीर में, आपके मन में और आपकी आत्मा में भी वह मौजूद है। मन विष्णु है, मन को विष्णु कहते हैं। यह जगत मन से अर्थात् विष्णु से चलता है। यही विष्णु आपके विचार,, आपका मन है।

कारण शरीर या हिरण्यगर्भ

जहां से यह विष्णु–प्रकाश निकलता है, जो इस ब्रह्म का मन है, इस मन का आधार ब्रह्मस्वरूप कारण शरीर है जिसको हिरण्यगर्भ कहते हैं। इसी तरह हमारे शरीर का आधार मन है और मन का आधार आत्मा है। वह कारण शरीर है, वह प्रकाशमय है।

आप समझो आपका शरीर भी राम है, आपका मन भी राम है, आपकी आत्मा भी राम है और आपकी सुरत भी राम है। अब आप स्वयं तय करो कि आपको किस राम की तलाश है। यह सोचने की बात है। यदि आपको मनुष्यरूपी राम की आवश्यकता है तो वह भी आपको मिल जायगा। यदि आप चाहते हो कि आपका लोक बन जाय

तो वह भी बन जायगा। आप राम के जिस स्वरूप की चाह करोगे वह आपको मिल जायगा लेकिन कब मिलेगा? वह तब मिलेगा जब आप अपने अहंकार को छोड़ देंगे। तब वह आधा नाम लेते ही दौड़ा चला आता है। सीधे–सादे, भोले–भाले लोगों को राम जल्दी मिलते हैं क्योंकि उनमें बनावटीपन नहीं होता।

संतमत तो भक्तिमार्ग है, पराभक्ति मार्ग है इसके अलावा और कुछ नहीं है। भक्ति में तीन चीजें आवश्यक हैं। प्रथम तो इष्ट का होना आवश्यक है जिसकी भक्ति की जाती है। सतगुरू मनुष्य रूप में साक्षात् ईश्वर का अवतार होता है। वैसे भी जिसे इष्ट धारण किया जाता है उसका कोई रूप या आकार तो होना आवश्यक है। चाहे आप राम,कृष्ण, शंकर, क्राइस्ट या किसी अन्य को इष्ट मानो परंतु जिसे भी इष्ट मानो उसका कोई–न'–कोई रूप या आकार तो ध्यान में रखना ही पड़ेगा। यदि आप उस रूप को केवल शरीर या मनुष्य या मूर्ति ही मानोगे तो आपकी भक्ति निम्नकोटि की और अधूरी होगी।

जब भक्त अपने इष्ट का ध्यान करते हुये नाम में रच जाता है, लय हो जाता है तो सकाम भक्ति निष्काम भक्ति में बदल जाती है। जब इष्ट के प्रति अथाह प्रेम हो जाता है तो भक्त शरीर, मन और आत्मा से परे चला जाता है। गुरू को परमतत्व मानकर पूजने का प्रभाव यह होता है कि पुजारी स्वयं भी परमतत्व हो जाता है। इस प्रकार भक्ति के लिये भी तीन चीजें आवश्यक हैं–इष्ट, इष्ट का सुमिरन और इष्ट का ध्यान। ये तीनों चीजें एक ही हैं परंतु प्रारंभ में इन्हें अलग–अलग समझना पड़ता है, अलग–अलग मानकर चलना पड़ता है।

परमतत्व का स्वरूप

परमतत्व स्थाई और अविनाशी है। कोई नहीं कह सकता कि उस अविनाशी तत्व का निज नाम क्या है? सभी नाम उसके हैं फिर भी वह अनामी है, उसका कोई नाम नहीं है। उसी परमतत्व का ज्ञान देने के लिए सतगुरू जीवों को चिताता है। जब यह ज्ञान हो जाता है कि हम शरीर, मन और आत्मा नहीं हैं अपितु इनसे परे जो अविनाशी तत्व है, जो इन सबका संचालक है, इनका साक्षी है वही हमारा असली रूप है, तब जितने भी सुख–दुख जीवन में आते हैं उनका कोई असर नहीं होता।

जो भी काम करो, जो भी व्यवसाय करो, उसे मन लगाकर करो, मालिक को दिल में याद करके करो। गुरू भक्ति में किसी प्रकार के कर्म काण्ड़ करने की जरूरत नहीं है। इसमें केवल अपने आपको गुरू के प्रति समर्पित कर देना होता है, गुरू के सामने नतमस्तक हो जाना है, झुक जाना है। झुकने का मतलब अहंकार को त्यागना है। मालिक तो हर समय तुम्हारे दिल में है, जरा अहंकार हटा और मालिक का साक्षात् दर्शन हो गया। गुरू कभी भी रूठता नहीं है। गुरू की जात से कभी भी आपका अहित नहीं हो सकता। **गुरू के अस्तित्व से अपार दया की धार उमढ़ती है। लेकिन आप संदेह करते हो इसलिए आपके काम नहीं बनते। यही आपकी कमी है– शारीरिक कमी, मानसिक कमी और आत्मिक कमी। शरीर से अस्वस्थ, मन से चिन्ताग्रस्त और आत्मा से अज्ञानी।** ये तीन ताप हैं जो इन्सान की कमी का कारण है।

तुम्हारे और मालिक के बीच में अहंकार का एक झीना पर्दा पड़ा हुआ है। इसी से तुम सतगुरू को मनुष्य मान बैठे हो। बन्दा कौन है? जो शरीर, मन और आत्मा के बंधनों में बंधा हुआ है वही बन्दा है। अगर तुम दुनिया की बातों को गुरू के दरबार में लेकर आओगे तो बड़ी भारी भूल होगी क्योंकि गुरू के दरबार में आने के बाद किसी और चीज की जरूरत नहीं रहती। केवल आपके और मालिक के बीच में जो झीना पर्दा है, उसे हटने की देर है उसके बाद तो सारे काम अपने आप हो जाते हैं।

राधास्वामी मत के संस्थापक हुजूर स्वामी जी महाराज ने जो दृश्य हिदायतनामे में लिखे हैं यह जरूरी नहीं कि सभी सतसंगियों को वे नजारे नजर आयें। गुरू आपको बंद डब्बे में भी ले जा सकता है। आपकी बुद्धि रास्ते की रूकावट है। जब तक गुरू के विचार की धारा और शिष्य के विचार की धारा एक नहीं हो जाती, तब तक काम बनने में विलंब हो सकता है।

बल पौरूष से हीन भया हूं,
बुद्धि का लाचार मैं मेरे सतगुरू सांई।

ज्ञान भक्ति नहीं कुछ बन आवे,
कर्म का निपट गंवार मैं मेरे सतगुरू सांई।।
कायर सम सबको तज डाला,
कुल कुटंब परिवार मैं मेरे सतगुरू सांई।।

जो लोग पोथी–ग्रन्थ पढ़कर यह समझ बैठते हैं कि उन्हें ज्ञान हो गया, वे सब वाचक ज्ञानी होते हैं। ज्ञान का लाभ तभी मिलता है जब किसी सतपुरूष के सतसंग में जाकर भेद का पता लगाया जाय। इसलिए संतमत में जीवित गुरू की महिमा है। सतगुरू जीव की प्रकृति और परिस्थितियों के अनुसार उससे कर्म करा कर उसके सारे कर्म कटवा देता है लेकिन जीव जब तक अपने मन के अनुसार कर्म करता रहता है तब तक उसके कर्म नहीं कटते। भेड़ चाल चलने से परमार्थ नहीं मिलता।

संतमत आपको न कर्म करने से रोकता हे, न धर्म करने से रोकता है और न ही संसार के व्यवहार करने से रोकता है। संतमत तो आपको इनका सच्चा रूप बताकर जीवन को सुख और शान्तिपूर्वक व्ययतीत करने की युक्ति बताता है। **गुरू के दरबार में कभी खाली हाथ नहीं जाना चाहिए। इस संसार का यह व्यवहार है कि जिस भाव से जो कुछ भी तुम देते हो, वही लौटकर तुमको मिलता है।** प्यार दोगे प्यार मिलेगा, नफरत दोगे नफरत मिलेगी, गाली दोगे गाली मिलेगी और सम्मान दोगे तो सम्मान मिलेगा।

निष्काम कर्म

मन, वचन और कर्म से किसी को हानि न पहुंचाना ही परम धर्म है। सबसे प्यार करो मगर किसी के मोह में मत फंसो। जैसे आप किसी के पिता, भाई, मित्र, पति, अफसर, नौकर होते हुये भी उस पहचान के अलावा कुछ और भी हो। आप वच्चे भी थे, किशोर भी थे, जवान भी थे और बुढ़े भी हो गये हो, आपने से सब अवस्थायें अपने शरीर और मन के साथ होती हुईं देखीं हैं लेकिन आप दृष्टा के रूप में सदा इन बदलती हुई अवस्थाओं के साक्षी रहे हो। बस! उसी एक को पकड़ो, उसको साधो, उसी एक को सींचो तो आपका वृक्ष हरा–भरा और पुष्पित हो जायगा और आपको अपने जीवन का लक्ष्य मिल जायगा।

आपको तो न किसी को छोड़ने की जरूरत है, न किसी को पकड़ने की जरूरत है बस! अपने विवेक–विचार से प्रेमपूर्वक अपना स्वाभाविक कर्त्तव्य निभाते हुये सतगुरू की शरणागत रहना है, इसी से आपका कल्याण हो जायगा। लेकिन गुरू को मनुष्य मानकर उससे प्यार मत करो क्योंकि गुरू का मानव शरीर तो नाशवान है परंतु गुरूतत्व तो अविनाशी है; गुरूतत्व न जन्म लेता है और न ही मरता है।

घर में रहते हुये अपने माता–पिता की, बाल–बच्चों की निस्वार्थ सेवा करो, भाई–बहन का कर्त्तव्य निभाओ, पति–पत्नि आपस में प्रेम का व्यवहार करें और मालिक को हमेशा अपने अन्दर, अपने आस–पास महसूस करें। यही सच्ची भक्ति और परमार्थ है। जो प्रत्येक प्राणी में मालिक का रूप देखता है और सबसे प्रेम का व्यवहार करता है, उसकी सुरत ही ऊपर जा सकती है और उसकी ही ध्यान–समाधि में तरक्की हो सकती है। ऐसा करने के बाद ही आपकी सुरत राधास्वामी से मिल सकती है और आप अपने अविनाशी स्वरूप को पा सकते हैं।

स्वामीजी महाराज का एक शब्द है जिसमें आता हैः **'गुरू तारेंगे हम जानी, तू सूरत काहे बौरानी।'** जब आप जानते हैं कि गुरू तारेंगे तो आपको किसी भी परिस्थिति में घबराना नहीं चाहिए। "हम जानी" का मतलब है कि गुरू मेरे कण–कण में, मेरे अणु–अणु में मौजूद है और मेरी रक्षा करता है। **यदि आपको गुरू पर भरोसा है तो आप अवश्य सफल होंगे। यदि आप अपनी सारी चिन्तायें उस मालिक के हवाले कर दो तो जो आपके अन्दर बैठा हुआ है वह परमतत्व आपको सही सास्ता अवश्य दिखायेगा।** लेकिन तुम तो अपने शरीर को, अपनी ताकत को, अपनी विद्वता को अपना आपा समझे बैठे हो, यह गलत है। **आपको चिन्ता छोड़ने के साथ–साथ उसके कारण को भी छोड़ना चाहिए तभी आपकी चिन्ता मिटेगी। अर्थात् आप गृहस्थ में**

रहते हुये गृहस्थ का अनुभव करो लेकिन उसमें फंसो नही, यह फंसना ही करण है, जिसे छोड़ना है।

सतसंगियो! यदि घर का एक भी आदमी सतसंगी होता है और गुरू का प्यारा होता है तो उसका सारा खानदान गुरू का प्यारा हो जाता है। यदि तुमने अपने आपको उसकी शरणागत कर दिया तो आपके सब काम मालिक स्वयं करेगा, उसकी चिन्ता आपको नहीं करनी होगी। आप बेकार में चिल्लाते रहते हो कि आप का काम बना या नहीं बना। आप विश्वास रखो कि सब काम उसी के हैं और कर्त्तापुरूष भी वही है। **यदि तुम्हें यह पता ही नहीं कि मैं नहर हूं और मेरे अन्दर मालिक की धार चल रही है तो तुम दुखी रहोगे।** जब मौज से ही सारा काम होना है तो आप अपने आपको मौज के हवाले क्यों नही करते?

आपको सहज में ही सतसंग में पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जायगा। सहज में ही मुक्ति मिल जायगी। मैं जो कुछ भी बोल रहा हूं वह मैं नहीं बोल रहा कोई और ही बोल रहा है। जब अन्दर की आंख खुल जाती है तो फिर किसी से ईर्ष्या, नफरत, द्वेष आदि दोष नहीं रहते। जो बनता है, वह बिगड़ता भी है। लोग कुछ का कुछ बनते हैं और हम कुछ बनना तो दूर जो कुछ थे वे भी नहीं रहे।

उनको गुमां है कि वे बहुत कुछ हैं।
हमें फर्क है कि हम कुछ भी नहीं ।।

निज स्वरूप

जब आपको यह पता चल जाता है कि शरीर बदलता है, मन बदलता है, आत्मा भी जन्म लेती है लेकिन मैं तो अविनाशी तत्व हूं तो फिर आप काल के चक्कर में कभी नहीं आओगे। काल में रहते हुये भी आप काल से आजाद रहेंगे। जिस आनन्द को आप बाहर ढूंढ़ते हैं वह तो आपके अन्दर ही है। आप जो भी काम करते हैं, उसे करते जाओ, उसी के अन्दर आपको सहज रूप में ही आपका स्वरूप नजर आ जायगा। संतों ने बताया है कि जो ताकत तुम्हारे शरीर को चला रही है, वह मालिक की धार है। जो बह रही है वह धार ही राधा है और उसका केन्द्र उसका स्वामी तुम्हारे अन्दर मौजूद है। यदि इस धारा को नीचे की ओर ले जाओगे तो आवागमन में फंसे रहोगे और यदि इसे ऊपर इसके केन्द्र की ओर ले जाओगे तो आवागमन के चक्कर से छूट जाओगे।

अभी तक तुम्हारी धार नीचे की तरफ बह रही है, इसको उल्टा कर दो तो तुम देखोगे कि इस जगत के अन्दर प्रपंच है, झूठ है, नफरत है। इससे बचने के लिए तुम सबसे प्यार करो परंतु किसी पर भी निर्भर मत रहो। इस संसार में केवल सतगुरू ही एक निस्वार्थ है बाकी सभी के अन्दर कुछ न कुछ स्वार्थ रहता ही है। तुम्हारा मन एक ज्योति है, जब तुम्हारा मन एकाग्र हो जाय तब तुम ऊपर अपने केन्द्र की ओर जा सकते हो। यह सहस्त्रदलकवंल का स्थान है। इससे आगे त्रिकुटि है जहां ब्रह्मा, विष्णु और महेश, भक्त, भक्ति और भगवान रहते हैं। यहीं पर गुरू के रूप में प्रकाश नजर आता है। यहां पर जो कुछ आप मांगते हो आपको मिल जाता है। आगे चलकर प्रेम इतना बढ़ जाता है कि उसमें सिर्फ दो ही रह जाते हैं–एक गुरू दूसरा शिष्य। यह सुन्न की हालत है। यहां द्वैत की भक्ति होती है। इससे आगे महासुन्न है जहां गुरू ओर शिष्य एक हो जाते हैं। यहां पर मस्ती ही मस्ती रहती है। वेदान्तियों की यह अन्तिम मंजिल है, परंतु संतमत में इससे आगे भी और मंजिले हैं।

संतमत कहता है कि शून्य के बाद जहां कुछ दिखाई नहीं देता उसके आगे सोहम् देश है। सोहम् देश के अन्दर ब्रह्म भी है और माया भी है, दयाल भी है और काल भी। जो सोहम् में फंस जाते हैं, वे कभी ऊपर और कभी नीचे सांस की तरह होते रहते हैं। इसलिये इसे भंवरगुफा कहते हैं। इससे आगे गुरू–कृपा से ही जाया जाता है। भंवरगुफा से आगे सतलोक है। सतलोक में न एक है और न अनेक हैं, केवल प्रकाश ही प्रकाश है। सतलोक में पहुंचकर आप अमर तो हो जांयगे लेकिन अभी आत्मिक स्थूलता बनी रहेगी। अलख पुरूष में शब्द ज्यादा है प्रकाश कम है और अगम पुरूष में शब्द ही शब्द है। यह शब्द मालिक का आत्मिक कारण शरीर है। इसके अन्त में आता है अनामी धाम या दयालदेश। इसका ब्यान नहीं किया जा सकता। यही अन्तिम स्थान है और इसे ही राधास्वामी धाम भी कहते हैं।

यद्यपि संत भी आम आदमी जैसा व्यवहार करता प्रतीत होता है तथापि संत का व्यवहार आम आदमी जैसा नहीं है। संत जिन्दा जीवों का आहार करता है। वह आपकी आशाओं और कामनाओं का जिन्हें आप जीवन समझते हैं, उनका आहार करता है क्योंकि इनमें जीवन नहीं है अपितु ये तो मृत्युतुल्य हैं। जो आम लोगों के लिए रात होती है, संत उसमें जागता है, उस समय उसकी तार मालिक से जुड़ी होती है और दिन में संत संसार के प्रपंचों के प्रति सोता है।

जो परमतत्व है वह जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में चैतन्य रहता है लेकिन मनुष्य इन अवस्थाओं में चैतन्य नहीं रहता। आम आदमी जब जागता है तो उसको स्वप्न भूल जाते हैं और जब स्वप्न में होता है तो उसे जाग्रत का ध्यान नहीं रहता। जब वह आनन्द के क्षेत्र में होता है तो उस समय के आनन्द के अनुभव के अलावा उसे कुछ भी पता नहीं चलता। हालांकि उस वक्त भी उसकी आत्मा प्रकाशमय जगत में होती है।

हर युग के अन्दर मनुष्य को उठाने कि लिए, उसे निज घर ले जाने के लिए मालिक मनुष्य का चोला पहन कर इस पृथ्वी पर अवतरित होता है। गुरू को पाना बड़े अच्छे कर्मों का फल है परंतु गुरू को धोखा देना अपने आपको धोखा देना है। **गुरूमुख बनकर मनमुख बनने से तो बेहतर है कि आप गुरूमुख बनो ही मत, संतसंग में आओ ही नहीं और अगर सतसंग में आ गये हो तो फिर सीधे रास्ते पर चलो।** गुरू के सामने सच बोलने से तुम्हें कभी हानि नहीं हो सकती। अपनी कमजोरी को महसूस करना, अपनी कमजोरी को दूर करने की दिशा में पहला कदम है। जो बात पहले–पहल मुंह से निकलती है वह ठीक होती है परंतु दुनिया वाले मानते नहीं। सतगुरू के एक वाक्य मात्र से भी आप ऐसी अवस्था में पहुंच सकते हैं जहां पहुंच कर आपको किसी चीज की जरूरत नहीं रहेगी।

हर आदमी अपने–अपने वातावरण में अपने संस्कारों के साथ आता है। उसके संस्कारों के मुताबिक जैसी उसकी दृष्टि होती है वैसी ही उसकी सृष्टि होती है। पहले भक्ति जरूरी है–चाहे द्वैत की भक्ति ही हो। **गुरू की शारीरिक सेवा हरएक के भाग्य में नहीं आती। वेसे तो सतसंग में आना भी शारीरिक सेवा है। गुरू भक्ति का मतलब है प्रेम। प्रेम का मतलब है अपने आपको भूल जाना।** जब आप अपने आपको भूल जाओगे तो जिसकी तुम भक्ति कर रहे हो, जिससे तुम प्रेम कर रहे हो, तुम वैसे ही हो जाओगे। यदि गुरू ने एक क्षण भी आपको अपने पास बैठा लिया तो इतना ही काफी है। लेकिन तुम तो मुसीबत में भी मुसीबत को ही याद करते हो, गुरू को भूल जाते हो। तुम्हें जो कुछ भी मिलता है, तुम्हारे कर्म, विश्वास और श्रद्धा से ही मिलता है और उतना ही मिलता है जितना तुम्हारा कर्म, विश्वास और श्रद्धा होती है। कर्म क्या है? कर्म है आपका पुरूषार्थ। जितनी लग्न से और जिस सीमा तक कोई पुरूषार्थ करता है, वैसा ही उसका प्रतिफल उसे मिलता है। लेकिन कई बार पुरूषार्थ करने पर भी फल नहीं मिलता। विश्वास क्या है? **विश्वास कहते हैं प्रेम को जितना अधिक प्रेम करोगे उतना ही विश्वास दृढ़ होगा। विश्वास जगत को बदल सकता है। श्रद्धा किसके प्रति? श्रद्धा गुरू के प्रति। पहले श्रद्धा होती है, फिर विश्वास होता है।**

सतगुरू की दया

तुम्हारे बहुत अच्छे कर्म हैं जो मालिक ने तुम्हें अपने ही रूप में बनाया है। फिर तुम्हारी मालिक की तरफ आने की इच्छा हुई यह तुम्हारा प्रारब्ध कर्म है। करोड़ों–अरबों की जनसंक्ष्या में से कितने लोग हैं जो मालिक की तरफ आने की इच्छा करते हैं? सभी लोग जगत के अन्दर फंसे हुये हैं। तुम कितने धन्य हो कि तुम परमतत्वाधार के पास बैठे हो। कुछ जीव अपने कर्म और भक्ति के बलबूते पर मालिक को पा लेते हैं, इसमें शक नहीं है परंतु कुछ जीवों को मालिक अपनी दया मेहर से सभी रूकावटों को हटाकर केवल शराणागति के द्वारा ही अपने आप में मिला लेता है, इसके भी बहुत से उदाहरण मौजूद हैं।

आपकी मति स्थिर नहीं है। आपकी मति स्थिर तब होगी जब आप गुरूमुख होकर गुरू की कही हुई बात पर चलोगे। सतगुरू की आंखों में देखते–देखते उसका सत् तुम्हारे अन्तर में उतर आता है और वह तुम्हारा सत् बन जाता है। जैसा सतगुरू होता है, वैसे ही तुम भी हो जाते हो। जब तुम नाम की हालत पर पहुंच जाओगे तब यदि तुम्हारे ऊपर दुख भी आयगा तो तुम उस दुख से घबराओगे नहीं।

आपकी दृष्टि बदल जायगी। **गुरू आपको जैसा भी काम दे वैसा ही करो।** उस काम को या उस नाम को इतना पकाओ कि हर जगह वही दिखाई दे। उसे अपने जीवन का मुख्य लक्ष्य मान कर अपना सबकुछ उसे पाने के लिए न्यौछावर कर दो, इसी से आपको मुक्ति मिल जायगी।

दुख तो हम स्वयं पैदा करते हैं। हम मकड़ी की तरह अपनी वासनाओं का जाल बुनकर उसके अन्दर फंस जाते हैं और वह जाल है सांसारिक सुखों का परंतु खेद है कि वह सुख इस जाल में फंसने के बाद भी नहीं मिलता। **जब कष्ट आये तो सोचो कि हमने क्या गलती ही है? जरूर मनमुख हुये होंगे।** गुरूमुख होने से सभी चिन्ताओं और कष्टों से मुक्ति मिल जाती है। मुक्ति का मतलब है आजादी, हर किस्म की आजादी। **गुरूमुख को अव्वल तो दुख आयेगा नहीं और अगर आ गया तो दुख महसूस नहीं होगा क्योंकि गुरूमुख की मति हर हालत में धीर होती है और जगह उसे मालिक ही दिखाई देता है।** जब ऐसी हालत हो जाती है तो उसे दुनिया ख्वाब नजर अपने लगती है और उस ख्वाब में वह जागते हुये भी ख्वाब के भेद को जान लेता है। जो जात है, जो असली तत्व है, वह ख्वाब को देखने वाला है। जो जाग्रत में जागता रहता है, स्वप्न में भी जागता है और सुषुप्ति में भी जागता रहता है, वही तुम हो।

गुरू की संगत से आपके सभी कर्म जो आपको बांधे हुये हैं, कट जांयगे। माया ठगनी है। इस माया को भक्ति के द्वारा ठगा जा सकता है। यदि आपने मन से गुरू की आज्ञा को नहीं माना तो आप इस रास्ते पर नहीं चल सकते। प्रेम के द्वारा गुरू भी बंध जाता है क्योंकि वास्तव में वह मुक्तअवस्था से बंधन में बंधने के लिए आता ही इसलिए है ताकि वह आपको बंधंन से मुक्त कर सके। **इसलिए गुरूमुख बनकर मनमुख बनने में आपकी ही हानि है लेकिन गुरू बेचारा भी आपके साथ घिसटता है, जब वह आपकी जिम्मेदारी अपने ऊपर ले लेता है।**

माया क्या है? माया है दुनिया की इच्छायें। माया है नहीं लेकिन दिखाई देती है और जो वास्तव में है, जो सबका आधार है, वह दिखाई नहीं देता। हमने अपने विचारों से यह माया–जाल बुन रखा है। हम जितना इन्द्रिय सुख भोगते है उनकी इच्छा उतनी ही बढ़ती जाती है। **इन्द्रिय सुख तो माया है लेकिन इन्द्रिय सुख की इच्छा छाया है। छाया तो माया से भी ज्यादा नचाती है। माया इतनी बुरी नहीं है जितनी की उसकी छाया अर्थात् माया की इच्छा या वासनाओं की तृप्ति की इच्छा।**

वह सतपुरूष जिसे आपने अपना इष्ट माना हुआ है, अगर वह सतपुरूष नहीं भी है या पूर्णअनुभवी नहीं भी है तो भी आप अपने विश्वास के कारण उसको इष्ट मानकर तर जाओगे। यदि वह पूर्णपुरूष है तब तो सोने पर सुहागा है। सच्चाई यह है कि आपका विश्वास काम करता है। **जैसे पुत्र पिता को पिता बनाता है वैसे ही शिष्य गुरू को गुरू बनाता है। व्यक्तित्व तो उनका पहले से ही होता है लेकिन उनका पद पुत्र या शिष्य द्वारा प्रदान किया जाता है।**

संतमत में तीन चीजें मिलती हैं–सतसंग, सतगुरू और सतनाम। जब आप संतसंग में आओगे तो आपको सतगुरू भी मिलेगा और उसका सतसंग भी मिलेगा और उसका सतसंग सुनते–सुनते आपको सतनाम की भी प्राप्ति हो जायगी। संतमत कहता है कि जीते–जागते हुये गुरू का ध्यान करो क्योंकि वह आपसे वार्तालाप करके आपकी शंकाओ का समाधान कर सकता है। **उसका प्यार निःस्वार्थ होता है। अगर मान भी लें कि गुरू में भी स्वार्थ होता है तो वह स्वार्थ भी इतना ही है कि उसका शिष्य उस जैसा बन जाय।**

गुरू पर विश्वास

संतमत में पूजा का मतलब है जीते–जागते गुरू के प्रति समर्पण। क्योंकि उसके सामने झुकने से आपका अहंकार समाप्त हो जायगा। इसी दृष्टिकोण से कहते हैं कि संतमार्ग सहज है क्योंकि इसमें कर्म–काण्ड जैसी कठिनाइयां और औपचारिकताएं नहीं हैं। हस्पताल या धर्मशाला बनवाने को लोग धर्म कहते हैं लेकिन यह धर्म नहीं है हां! अच्छा कर्म जरूर है। इसी प्रकार कर्मकाण्ड करना भी कर्म है और इन कर्मों का फल यह होगा कि आपका अगला जन्म सुखी हो

जायगा लेकिन जन्म तो लेना पड़ेगा, आवागमन से छुटकारा नहीं मिल सकता।

जिस पर तुम आस और विश्वास रखते हो, सब कुछ उस पर छोड़ दो, सब कुछ उस पर न्यौछावर कर दो, सब कुछ उस पर बलिहारी कर दो। अगर ऐसा नहीं कर सकते तो उसके साथ चिपके रहो, उससे प्रेम करते रहो। यह प्रेम, भक्ति, भावना एक दिन का काम नहीं है, यह पार्ट–टाइम जॉब नहीं है कि चार घन्टे या छः घन्टे काम करके तनख्वाह भी मिल जायगी और छुट्टियां भी मिलेंगी। यहां तो चौबीस घन्टे उसी की रट लगानी पड़ती है, उसी का ध्यान करना पड़ता है, तब काम बनता है। मन की और शरीर की सेवा करने से ही नाम की प्राप्ति होती है अर्थात् मन और शरीर से सेवा करना जरूरी है तभी नाम की प्राप्ति होती है। **जब गुरू का रूप और नाम आपके साथ है तो आपका कोई भी काम कभी नहीं रूक सकता।** इसके बाद आता है मुक्तिपद जो कुछ बिरले जीवों को ही प्राप्त होता है जो इसके अधिकारी होते हैं। राधास्वामी मत किसी मत का खण्डन नहीं करता। इसमें अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष सभी सहज में मिलते है और लोक और परलोक भी सहज में ही बन जाते हैं।

सृष्टि की रचना

वह सर्वाधार मालिक अपने आपमें परिपूर्ण है। उससे धारा निकली और उस धारा ने शब्द का मंडल बनाया और आदि–शब्द प्रकट हुआ। उस आदि–शब्द से प्रकाश के मंडल की रचना हुई। उस प्रकाश से फिर शब्द की धार प्रकट हुई। इस शब्द और प्रकाश की धारा ने मिलकर अनेक मंडलों की रचना की। इस प्रकार वह सर्वाधार मालिक सब रचना के अन्दर आधार रूप में मौजूद है। वह आपके अन्दर भी मौजूद है। उसके आदिशब्द से आपका हैंपना या आपकी सुरत प्रकाश में आती है और नीचे के मंडल बनाती जाती है। पहला मंडल आकाश मंडल बनाया जो कण्ठचक्र है, फिर वायुमंडल बनाया जो हृदयचक्र है। नीचे उतर कर नाभिमंडल बनाया जो विष्णु का केन्द्र है और अग्नितत्व कहलाता है। उससे नीचे स्वाधिष्ठानचक्र की रचना हुई जो ब्रह्मा का मंडल है और जलतत्व का केन्द्र है। उससे नीचे उतर कर मूलाधार की रचना हुई जो पृथ्वीतत्व का केन्द्र है। यह गणेश का मंडल है।

मालिक की प्रेरणा से या अपनी अतृप्त इच्छाओं के प्रभाव से हम स्वयं इस जगत में आये। मालिक ने हमें अपने से दूर इसलिए भेजा ताकि हम इस बात का अनुभव कर सकें कि प्रियतम से बिछुड़कर कितना कष्ट होता है और हम उससे मिलने के लिए उसके पास वापस जांय। उसके पास वापस जाने का रास्ता केवल प्रेम का रास्ता है। किसी भी चीज की सच्ची कदर तब होती है जब वह हमारे पास नहीं रहती। एक अस्सी–नब्बे साल का बूढ़ा आपके घर में हर समय खांसता रहता है और आप उससे तंग आजाते हैं तो कभी–कभी मन में विचार करते हैं कि यह मर क्यों नहीं जाता। एक दिन जब वह मर जाता है तो उसके बाद आप उसकी उपस्थिति और उसकी उपयोगी सलाह आदि को लेकर सोचते हैं कि उसका हमें बहुत सहारा था अर्थात् उसके जाने के बाद आपको उसकी कदर महसूस हुई।

हम किसी भी चीज को इसलिए प्रेम करते हैं क्योंकि उसके अन्दर मालिक मौजूद है। प्रेम करने के लिए ही मालिक ने हमें अपने से दूर फेंका है। जिसमें विरह नहीं है वह माालिक से नहीं मिल सकता। जड़ में भी उसकी सत्ता व्याप्त है। **हर परमाणु के अन्दर एक केन्द्र है जिसके चारों तरफ इलेक्ट्रान, प्रोट्रोन और न्यूट्रोन बड़ी तेजी से घूमते रहते हैं। इनके अलावा एक ग्लूट्रोन और है जो शेष तीनों तत्वों को मिलाने वाला है अर्थात् यही प्रेम की धुरी है।**

मालिक की सभी शक्तियां प्रेम स्वरूप हैं। मालिक स्वयं भी प्रेममय है। ईर्षा भी प्रेम के लिए ही की जाती हैं प्रेम के बिना कोई अस्तित्व में रह ही नहीं सकता। यदि आप अपने प्रियतम से मिलना चाहते हैं तो उसकी बनाई हर चीज से प्रेम करो, हर इन्सान से प्रेम करो। इसके विरूद्ध जब हम अहंकार करते हैं तो मालिक की इच्छा के विरद्ध काम करते हैं। मालिक का अगर कोई वास्तविक रंग–रूप है तो वह मनुष्य है। मालिक मनुष्य का रूप धारण करके दुखी जीवों का उद्धार करने के लिये प्रकट होता है।

नरक क्या है?

हर आदमी जब मरता है तो उसके शरीर में से सूक्ष्म शरीर निकल जाता है जो प्राणमयकोष का शरीर होता है। आजकल उस सूक्ष्म शरीर की फोटो भी ली जाती है। उस सूक्ष्म शरीर के अन्दर हड्डी, मांस कुछ नहीं होता, लेकिन वह चलता भी है और सुनता भी है, परंतु वह चख नहीं सकता क्योंकि उसके अन्दर स्वाद लेने वाले तन्तु नहीं होते। इस पृथ्वी का भी प्राणमयकोष है जिसे वायुमंडल या वातावरण कहते हैं। मृतक व्यक्ति आमतौर पर तीन दिन तक पृथ्वी के वातावरण में रहता है। जब इसकी इन तीन दिन में तत्कालीन इच्छायें समाप्त हो जाती हैं तब वह मनोमयकोष में जाता है। यहां पर सब चीजें मन की बनी हुई होती हैं, जैसे स्वप्न में होती हैं। इसके बाद मृतक मनोमायकोष से निकल कर प्रकाशमय और विज्ञानमयकोष में आता है। अब आप पूछ सकते हैं कि नरक क्या होता है? जीव का भौतिक शरीर को त्यागकर मनोमयकोष में रहना ही नरक है जिसने ज्यादा खोटे कर्म किये है वह इस प्राणमयकोष में ज्यादा समय तक रह सकता है।

अपने आपमें पाप कोई चीज नहीं है। अपने अन्दर कमी महसूस करना और अपने आपको बुरा मानना ही सबसे बड़ा पाप है। जब हम जान–बूझ कर अपने निज स्वार्थ के लिए किसी को कष्ट देते हैं या उसका अहित करते हैं तो उसे अनैतिक या पाप समझना चाहिए। बुरे से बुरा व्यक्ति भी भला बन सकता है अगर उसके साथ प्रेम का व्यवहार किया जाय। हर आदमी अन्तस में अपने आपमें पूर्ण है, अपूर्णता का आभास ही पाप है।

अपनी अपूर्णता को मिटाने के लिए ही सतगुरू से प्रेम किया जाता है और उसके सतसंग के द्वारा ही अपूर्णता को मिटाया जा सकता है। सुरत की शक्ति को या धारा को आप जिधर भी लगा दोगे उधर ही सफलता मिलेगी। यह सुरत ही शक्ति का खजाना है और यह आपके अन्दर मौजूद है। यदि इसे नीचे की ओर लगाओगे तो दुनियावी सफलता मिलेगी और यदि इसे ऊपर की ओर ले जाओगे तो निजस्वरूप को पहचान कर पूर्णता को प्राप्त कर लोगे। अब यह आपकी स्वाभाविक स्वतन्त्रता के ऊपर निर्भर है कि आप इस शक्ति का उपयोग किस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए करते हो।

एक बात और है, आप लाख मंदिर में घंटियां बजायें, नित्य पूजा–पाठ करें लेकिन **यदि आपके मन में किसी को हानि पहुंचाने की चाह है तो आप सुखी नहीं रह सकते, मालिक को मिलना तो बहुत दूर की बात है।** याद रखो– शारीरिक चोट की अपेक्षा कटु वचन से जो आप दूसरों को क्षति पहुंचाते हैं, वह ज्यादा खतरनाक है। सास–बहू में जो आपस में तानाकशी होती रहती है वह बहुत खतनरनाक है। किसी को जो कुछ भी कहना हो उसे मीठे शब्दों में कहो। अगर आप अपनी वाणी को वश में रखें तो कभी हानि नहीं उठानी पड़ेगी। वाणी दुधारी तलवार है–एक तरफ तो यह आपके विचार से जुड़ी होती है और दूसरी तरफ कर्म से। वाणी एक दीपक है जो अन्दर भी प्रकाश देती है और बाहर भी प्रकाश करती है। लेकिन अगर किसी की भलाई के लिए कभी कुछ कडुआ बोलना भी पड़े तो मन से उसका कभी बुरा न चाहो।

योगाभ्यास क्या है?

योगाभ्यास क्या है? मालिक से प्रेम करना सबसे सुगम और उत्तम योगाभ्यास है। आप देखते हैं कि कुत्ते–बिल्ली की स्वाभाविक ही परस्पर दुश्मनी होती है लेकिन जब वे एक ही मालिक के घर में पलते हैं तो अपने मालिक का प्यार देखकर अपना स्वाभाविक वैर त्याग देते हैं। लेकिन इन्सान ही एक ऐसा प्राणी है जो एक ही मालिक की संतान होते हुये भी परस्पर वैर का त्याग नहीं कर पाता, इसीलिए उसे अपने मालिक का प्यार नहीं मिल पाता। सतगुरू के प्यार की धारा समुद्र है, जितना आपका पात्र है उतना आप ले सकते हैं।

किसी से राग नहीं रखना चाहिए क्योंकि राग में मोह होता है, पक्षपात होता है। इसलिए राग के स्थान पर अनुराग होना चाहिए क्योंकि अनुराग में वो अनन्त प्रेम है जो आपको मालिक से मिला देता है। जब आप सबमें उस मालिक को मानकर प्रेम करोगे तो आप स्वयं मालिक का स्वरूप हो जाओगे।

योगी वह होता है जो अपने आपको परमतत्वाधार की धार से मिला देता है। जिसने यह सारा जगत बनाया है उसको आदिकर्त्ता कहते हैं। कर्त्ता वह है जिसने स्थूल जगत् बनाया है, जिसे ब्रह्मा कहते हैं। विष्णु सूक्ष्मरूप में उसके पीछे बैठे हुये हैं। देवता और देवियां इस जगत् को चला रहीं हैं। ये सारी शक्तियां प्रकाशमय हैं और विष्णु की धार हैं। शिव इस जगत् के अन्दर जब–जब खराबी आती है उसका संहार करके ठीक करता है। यह सब उसी एक मालिक के अलग–अलग दर्जे हैं। संत हर युग में समय की मांग के अनुसार पैदा होते हैं और किसी विशेष देश या जाति के लिये नहीं आते अपितु मानव–जाति के कल्याण के लिए आते हैं।

सतगुरू की सीख

सतगुरू वह है जो हर समय परमतत्व से जुड़ा रहता है। उसके सतसंग में ऐसा माहौल बन जाता है कि उसकी वाणी सुनने वालों की आत्मा और हृदय परिवर्तित होने लगते हैं। सतगुरू को परमतत्व मानकर भक्ति करने से तुम खुद भी परमतत्व हो जाओगे। यदि आप अपने को शरीर या मन माने बैठे है तो आपने परमतत्व को नहीं पहचाना। **यदि आपने उस आदिकर्त्ता से मिलना है तो गुरू को कभी भी मनुष्य मानकर उसके शरीर से प्यार न करना।** किसी भी स्थूल पदार्थ से प्यार नहीं किया जाता। यदि तुम्हें किसी स्थूल चीज से प्यार है तो तुम्हारी आत्मा पर उसका बोझ आयेगा और गुरूत्वाकर्षण के सिद्धांत के अनुसार तुम्हारी आत्मा ऊपर नहीं जा सकती, उसे नीचे ही रहना पड़ेगा। **इस जगत में किसी चीज की इच्छा मत करो क्योंकि इस जगत की हर चीज अपूर्ण है और यहीं रहने वाली है।** लेकिन आप तो पूर्ण के अंश हो, इसलिए आपका लक्ष्य भी उस पूर्ण में मिलना ही होना चाहिए। यह ज्ञान सतगुरू ही देता है।

राधास्वामी मत परा–आध्यात्म का मक्खन है जो उन संतो के पास है जिन्होंने इसे चखा है और दूसरों को चखाने के लिए आये हैं। संत कहते हैं कि आप कोई ख्वाहिस मत करो, बेख्वाहिस रहो। लेकिन आप कह सकते हैं कि बेख्वाहिस भी तो एक प्रकार की ख्वाहिस ही है। हां! है, लेकिन बेख्वाहिसी की ख्वाहिस ऐसी ही होती है जैसे मैल छुड़ाने के लिए साबुन लगाया जाता है जो बाद में मैल के साथ स्वयं भी धुल जाता है। **बेख्वाहिस होने का मतलब है बिलकुल खाली हो जाना** और जब तुम खाली हो जाओगे तो मालिक तुम्हें अपने आप से भर देगा, तुम्हें पूर्ण बना देगा। **जो खाली होता है वही भरा जाता है।** इसीलिए तो किसी ने कहा हैः **'सिर के बल आती है, सुराही पैमाने के पास'।** और आगे कहा है– **सबकी साकी पे नजर हो यह तो जरूरी है, सबपे साकी की नजर हो यह जरूरी तो नही।** अरे! सतगुरू तो तुमको वह शराब पिलाता है जिसके पीने के बाद कुछ और करना शेष नहीं बचता।

मालिक मनुष्य का रूप धारण इसलिए आता है ताकि उसे नर का कष्ट, भूख और दर्द क्या होता है यह पता चले और उन्हें दूर करके जीवों को निज धाम ले जाय। लेकिन निज धाम जाना कौन चाहता है? सभी तो इस संसार के माया–मोह में फंसे रहना चाहते हैं। जीवों के दुखों से दुखित होकर परमतत्व बिन मांगे ही अपनी दया बहाता है। निर्बंध पुरूष बंधुआ बनकर बंधुए जीवों को छुड़ाने के लिए ही आता है, लेकिन कोई बिरला जीव ही उसके साथ उसकी नांव में जा पाते हैं, बाकी तो इस संसार में ही झकोले खाते रहते हैं।

संतमत में ध्यान, पूजा, यज्ञ, मंत्र सब कुछ हैं लेकिन उसे समय और परिस्थिति के अनुसार आसान बना दिया है। सतगुरू तुम्हारी प्रकृति और स्थिति के अनुसार सलाह देता है और निज स्वरूप का साक्षात्कार भी करा देता है। लेकिन इसके लिए सतसंग जरूरी है और गुरू की आज्ञा मानना भी जरूरी है। **अपने गुरू की कृपा का पात्र बनने के लिए जरूरी है कि हरवक्त अपने इष्ट का ध्यान करो, उसी की बात करना, खाना भी उसी के लिए खाना, पानी भी उसी के लिए पीना, परिवार भी उसी का, नौकरी भी उसी की, व्यापार भी उसी का, कर्म भी उसी का, क्रिया भी उसी की, कर्त्ता भी वही और भोक्ता भी वही।** जब ऐसी हालत आ जाती है तो मालिक में आपमें दूरी नहीं रहती। विष्णु का ध्यान करते–करते शंकर सफेद हो गये और शंकर का ध्यान करते–करते विष्णु काले हो गये। इसका मतलब है कि आप भी अपने इष्ट का ध्यान करते–करते अपने इष्ट के समान हो जाओगे।

अपनी नीयत से अपने आपको धोखा मत दो। जो समय एकान्त में मिले मालिक के सुपुर्द करते रहो। यदि किसी गुरू या पंथ पर आपको विश्वास नहीं तो कोई बात नहीं। जैसे–जैसे आप सच्चे बनते जाओगे, विश्वास भी आता जायगा और आप आगे बढ़ते जाओगे। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार ये सब विराट के भी अंग हैं और हमारे भी अंग हैं। ये आठ तत्व वाली अपरा प्रकृति है। मन सूक्ष्म तत्वों का बना हुआ है परंतु बुद्धि में चेतनता है।

इस प्रकृति में क्षर भी है और अक्षर भी है परंतु वह मालिक क्षर और अक्षर से परे है। आपकी आत्मा हद और बेहद से परे है। हद आपका शरीर है और बेहद मन है। परंतु आपकी आत्मा तो आनन्दमय है, प्रकाशमय है। परमसंत हुजूर दातादयाल जी महाराज ने अपने सबसे प्रिय गुरूमुख संत बाबा फकीर को संबोधित करते हुए एक जगह लिखा है:–

हद टपे सो औलिया, बेहद टपे सो पीर।
हद बेहद दोनो टपे, वाको कहें फकीर।।

गुरू किस चीज का भूखा है? गुरू तुम्हारे भाव का भूखा है। यदि आपने अपना मन गुरू को दिया हुआ है तो आपका मन बलवान हो जायगा, तुम्हें कोई नुकसान नहीं पहुंचा सकता। तुम्हारा शरीर भी ठीक रहेगा और मन भी ठीक रहेगा और तुम्हारी आत्मा भी आनंदित रहेगी। यदि तुम गुरू से प्यार करते हो तो वह भी तुमसे इतना प्यार करता है जिसका तुम अन्दाजा भी नहीं लगा सकते। वह आपको भव सागर से पार ले जाने के लिये आया है। शरीर, मन और आत्मा भव हैं। वह आपको इनसे परे ले जाने के लिए आया है। वह तुम्हारे शरीर को पुष्ट करने के लिए धन भी देगा, मन को संतुष्ट करने के लिए तुम्हारी कामनायें भी पूरी करेगा और आत्मा की संतुष्टि के लिए ज्ञान भी देगा जिससे तुम्हें मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।

यह संसार असार है। इस संसार में जिसके साथ भी आप जितनी भलाई करोगे वह उतना ही धोखा देगा, चाहे वह कितना ही निकट संबंधी क्यों न हो। अगर इस संसार में कोई निस्वार्थ प्रेम करता है तो वह सिर्फ गुरू ही है। गुरू का रूप जगत के अंदर भी है और जगत् के बाहर भी है। गुरू तुम्हें सन्यासी बनाने नहीं आया बल्कि वह आपको आपके व्यवहार में ही सच्ची समझ देता है जिससे तुम्हारा लोक और परलोक दोनों बन जाते हैं। जो आत्मा में ठहर गया वह गुरू है, पीर है, वह दूसरों को रास्ता दिखा सकता है। दुनिया में गुरू बहुत हैं परंतु सतगुरू वक्त एक होता है। दुनिया में अनेक पति हैं लेकिन सतीत्व पत्नि के लिए उसका एक ही पति होता है। उसके परिवार में भी अनेक आदरणीय पुरूष हो सकते हैं, लेकिन पति तो एक ही होता है।

तुम अपना क्रोध, अपनी चिन्ताएं उसी प्रकार गुरू को दे दो जैसे रेलगाड़ी में अधिक सामान होने पर बुक करा देते हैं जिसे रेलवे अपनी जिम्मेदारी पर आपके गन्तव्य स्थान तक पंहुचा देता है और आप आराम से रेलगाड़ी में यात्रा करते हैं। **यदि आप भी अपनी जिम्मेदारी गुरू को सौंप देते हैं तो वह आपको उठा लेगा। गुरू आपसे सिर्फ प्यार चाहता है और बदले में सब कुछ देने के लिए तैयार रहता है।**

जो दूसरों को बुरा कहते हैं वे स्वयं बुरे हैं क्योंकि उनका मन पहले से ही बुरा है तभी तो उनके मन में बुराई के विचार आये। जो बुरे हैं उन्हें दूसरों की बुराई करने का कोई अधिकार नहीं है और जो अच्छे हैं उन्हें किसी में बुराई नजर ही नहीं आती, इसलिए वे किसी की बुराई नहीं करते। लाभ–हानि, जय–पराजय, निंदा–स्तुति, दुख–सुख तो हर किसी के जीवन में आते ही रहते हैं और इनसे व्यक्ति कभी न कभी तंग भी आ ही जाता है। इनसे बचने का तरीका है सच्चा ज्ञान प्राप्त करना और वह सतगुरू की संगत से ही आता है।

वेद का मतलब है ज्ञान और वेदान्त का मतलब है अन्तिम ज्ञान। यह ज्ञान भौतिक ज्ञान नहीं है बल्कि इस भौतिक जगत् के परे का ज्ञान है, अविनाशीतत्व का ज्ञान है। वह अविनाशीतत्व तुम्हारे अन्दर भी है। बस! तुम्हें उसकी अनुभूति प्राप्त करनी है। तुम्हारे अन्दर जो अविनाशीततव है वह अजर, अमर है।

मनुष्य के अन्दर राधा भी है और स्वामी भी है। इसीलिए जब मालिक अवतार लेता है तो मानव रूप धारण करता है और सतगुरू

के रूप में आता है। **सतगुरू शरीर में रहता हुआ भी शरीर से परे, मन में रहता हुआ भी मन से परे रहता है, इनमें फंसता नहीं है जबकि अज्ञानी जीव इन्हीं सबमें फंसे हुए हैं। सतगुरू इन फंसे हुए जीवों को छुड़ाने के लिए ही आता है। सतगुरू अज्ञानी जीवों को आत्मा का सच्चा ज्ञान देकर निजधाम ले जाता है लेकिन सिर्फ उन्हें जो सतगुरू के बताये हुए रास्ते पर चलते हैं।**

परमसंत हुजूर दातादयाल जी महाराज ने एक जगह कहीं लिखा है कि एक समय में 56 गुरू उपस्थित होते हैं (यह जरूरी नहीं कि इतने ही हों, कम या ज्यादा भी हो सकते हैं) जिनको ज्ञान होता है और वे दूसरों को रास्ता दिखाते हैं। उनमें से आठ सतगुरू होते हैं और यह जरूरी नहीं कि वे आश्रम ही चलाएं। वे कुछ भी व्यवसाय कर रहे होते हैं, परंतु ये सब अवतार होते हैं। लेकिन सतगुरू वक्त अपने समय में एक ही होता है।

मालिक की सच्चाई में और मालिक से प्यार करने में कोई मर्यादा नहीं होती। सब मर्यादा को तोड़ देना ही सच्चे प्रेम की मर्यादा है। उपकार करने का अर्थ है किसी की मदद करना, बिना किसी स्वार्थ के या बदले में कुछ पाने की भावना के, लेकिन परोपकार का अर्थ है उसे मालिक से मिला देना। आपके सब काम पूरे होंगे बशर्ते आपका विश्वास अड़िग हो। 'रा' कहते हैं स्त्री को। अगर राधेश्याम में से 'र' निकाल दें तो राधेश्याम आधेश्याम रह जाता है अर्थात् राधा के निकल जाने पर श्याम अपूर्ण है, प्रकृति के बिना पुरूष अकेला कुछ नहीं करता। दाता दयाल जी महाराज के एक शब्द में आता है–

ब्रह्म रहे माया के ओले, बिन माया ब्रह्म क्या बोले'।

भक्त भी वही है जो भगवान है, अन्तर केवल अवस्था का है। इष्ट धारण करो और रात–दिन अपने इष्ट का नाम जपो और उसी का ध्यान करो क्योंकि **नामी के बिना नाम का जपना फिजूल है, बेकार है, दो कौड़ी का है।** अपने इष्ट के साथ कोई भी संबंघ जोड़ लो चाहे दुश्मनी का ही जोड़ लो, तर जाओगे। सतगुरू की प्रेम और एकत्व की दृष्टि तब पड़ती है जब तुम सब कुछ भुला करके अपने आपको पूर्ण समर्पित कर देते हो। अपने को समर्पित करके तुमने मुझे ले लिया। 'तू' मैं हो गया और 'मैं' तू हो गया।

केवल प्रेम ही ऐसी अवस्था पैदा करता है कि प्रेम और प्रेमी दो बदन होते हुये भी एक जान हो जाते हैं। तुम सतगुरू को नहीं चुन सकते, सतगुरू ही तुमको चुनता है। पहले गुल के दिल में प्यार पैदा होता है, उसके बाद ही बुलबुल उस पर फिदा होती है।

सृष्टि की उत्पत्ति

बच्चे सारा दिन खेलते हैं। यदि कोई उनसे पूछे कि बच्चो! तुम सारा दिन क्यों खेलते हो? इसका क्या उत्तर हो सकता है? इसका एक उत्तर तो यह हो सकता है कि 'खेलना' उनका स्वभाव है, इसलिए खेलते हैं। इसका दूसरा उत्तर यह हो सकता है कि उनके अन्दर अधिक शक्ति होती है, अधिक उर्जा होती है, उसे खर्च करने के लिए वे खेलते हैं। बस यही बात मालिक की है, ब्रह्म की है कि यह सब लीला करना उसका स्वभाव है या दूसरे शब्दों में वह इतना अधिक हो गया कि बस उबल पड़ा। दातादयाल जी महाराज ने एक जगह लिखा है कि मालिक एक ऐसा जौहर है, ऐसा हीरा है जिसकी किरणें जब निकलती हैं तो विकास होता है और जब वह अपनी किरणों को समेटता है तब उसकी लीला समाप्त हो जाती है। इससे यही ज्ञात होता है कि हम सब उसके अंश है, उसी के रूप है और हम भी उसी के वंश के हैं **(तू तो थी सतपुरूष की अंशी, गोत लजाया शरम न आई–स्वामी जी महाराज)**। हम दुख इसलिए उठाते हैं ताकि उस मालिक के महत्व को जान सकें और उससे मिलने की चाह पैदा करें। हम इस संसार में अभी तक इसलिए तड़फ रहे हैं क्योंकि वह हमें मिला नहीं है। **हम शरीर को स्वस्थ रखने के लिए और मन को खुश रखने के लिए न जाने क्या–क्या उपाय करते हैं लेकिन आत्मा की तपन–करारी को शांत करने के लिए कुछ नहीं करते, इसलिए अशांत रहते हैं।**

कण–कण के अंदर वह मौजूद है। पदार्थ में वह सो रहा है, वनस्पतियों में वह स्वप्नावस्था में है, पशुओं में वह चेतनावस्था में है और मनुष्य में वह आत्मचेतन है, संत में वह परमचेतन है। उसी से सब कुछ निकलता है और उसी में समाविष्ट हो जाता है। परंतु यह जगत् ब्रह्म नहीं है, हां! ब्रह्म पर आधारित जरूर है। ब्रह्म तो इससे

कहीं अधिक ऊँचा और बड़ा है। बूंद समुद्र का अंश जरूर होती है लेकिन बूंद को समुद्र मानना बड़ी भूल होगी। **हम मालिक के अंश जरूर हैं, मगर मालिक नहीं हैं। किसी भी चीज को उस मालिक के समकक्ष नहीं कहा जा सकता क्योंकि सभी चीजें उसी से निकली हैं।**

आत्मा–परमात्मा का स्वरूप

आत्मा देखा नहीं जा सकता लेकिन सब कुछ आत्मा की शक्ति से ही देखा जाता है। एक गुरू ने अपने शिष्य को ज्ञान देकर कहा कि जाओ अब स्वयं इसका अनुभव करो। बारह वर्ष बाद जब वह शिष्य आया तो परमात्मा के बारे में व्याख्यान देने लगा। गुरू ने कहा कि अभी बात तुम्हारी समझ में नहीं आई है, जाओ! और अनुभव करो। फिर बारह वर्ष बाद जब वह पुनः आया तो कहने लगा कि वह सबमें व्याप्त है उसको बताने की जरूरत नहीं है। गुरू बोला कि बात तो तुम्हारी ठीक है मगर अभी पूरा ज्ञान नहीं हुआ। जाओ! और अनुभव करो। तीसरी बार पुनः वह बारह वर्ष बाद आया तो गुरू को प्रणाम करके चुपचाप एकान्त में बैठ गया। पांच मिनट के बाद गुरू स्चयं उसके पास गये और बोले कि अब तू पूरी बात समझ गया है कि असलियत क्या है? इसलिए जहां तर्क–वितर्क और सम्भाषण समाप्त हो जाते हैं वहां उसका अवतरण होता है फिर कुछ नहीं करना पड़ता।

बूंद पानी में मिला, दरिया बना क्या जुस्तजू।
जात में जब मिल गया, फिर वह करे क्या गुफतगू।।

मानव शरीर इतना दुर्लभ है कि देवता भी मानव शरीर धारण करने के लिए लालायित रहते हैं क्योंकि पूर्ण मोक्ष की प्राप्ति केवल मनुष्य शरीर में ही हो सकती है। आप एक कदम भी अगर मालिक की तरफ बढ़ाते हैं तो मालिक सौ कदम आपकी तरफ चला आता है। सतसंग में आने से कष्टों का, क्लेषों का शमन हो जाता है। यहां यह बात समझनी जरूरी है कि सतसंग में इनका शमन होता है दमन नहीं। दमन उसे कहते है जिसमें बलपूर्वक आप किसी को दबा देते हैं परंतु शमन में सहजरूप से समाधान हो जाता है जिससे उसके पुनः प्रकट होने की संभावना नहीं रहती। सतसंग में आदर पूर्वक बैठने से नाम की प्राप्ति सहज में ही हो जाती है। नाम प्राप्त होने के बाद नाम की भक्ति होती है और भक्ति से बाकी सारे काम अपने आप हो जाते हैं।

जब तुम किसी से प्यार करते हो तो उसके शरीर से प्यार नहीं करते बल्कि उसके अन्दर जो परमतत्व है उससे प्यार करते हो। शरीर का नाश हो जाता है, मन परिवर्तित हो जाता है, आत्मा भी आवागमन के चक्र में फंसी रहती है लेकिन अविनाशी परमतत्व तो नित्य मंगलकारी है। संत सतगुरू इस अनुभव के बाद ही सतसंग देता है। इसलिए उसके सतसंग से मंगल होता है। जो गुरू के आस–पास रहते है वे गुरू को मनुष्य मानते हैं, इसलिए उनको ज्यादा फायदा नहीं होता लेकिन जो उनको परमतत्व मानकर उनकी आज्ञा पर चलते हैं, उन्हें सफलता मिलती है। नाम लेने का मतलब मुंह से नाम उच्चारण करना नहीं है बल्कि नामतत्व को इस तरह साधना है कि बस सब जगह वही दिखाई देने लगे। परमतत्व स्वरूप सतगुरू का ध्यान करने से मन स्थिर हो जाता है। भक्त वह है जो परमतत्व से मिलकर एक हो गया है।

इष्ट क्या है? हम जिस चीज की इच्छा करते हैं वह हमारा इष्ट बन जाता है। जब हम धन चाहते है तो धन हमारा इष्ट बन जाता है, बेटा चाहते हैं तो बेटा हमारा इष्ट बन जाता है आदि–आदि। **ये चीजें अपने आपमें इष्ट नहीं हैं बल्कि माध्यम हैं।** जब इन चीजों की प्राप्ति हो जाती है तो हमें इनसे मुक्ति मिल जाती है। चूंकि इन चीजों से पूर्ण सुख या पूर्ण आनंद नहीं मिलता, इसलिए इनकी प्राप्ति पर भी पूर्ण मुक्ति नहीं मिलती। **पूर्ण मुक्ति के लिए तो पूर्ण इष्ट को पाना जरूरी है और वह बिना सतगुरू के प्राप्त नहीं होता।**

जब आप इष्ट को प्राप्त कर लेते हो तो छोटे–मोटे या दुनियावी इष्ट तो अपने आप प्राप्त हो जाते हैं बल्कि आप इन्हें दूसरों को देने वाले हो जाते हैं। परम इष्ट की प्राप्ति सतगुरू की संगत से ही होती है, बिना गुरू के यह संभव नहीं है। अगर गुरू से नाम लेने के बाद भी कोई व्यक्ति आम लोगों की तरह दुख–सुख का अनुभव करता है, लाभ–हानि और जय–पराजय से प्रभावित होता है तो समझो उसे नाम को कोई लाभ नहीं हुआ। असल में तो मैले कपड़े ही धोबी के पास धुलने के लिए आते है, उजले कपड़े तो लोग अपने आप ही

साफ कर लेते हैं। परंतु आम लोगों को तो यह भी मालूम नहीं चलता कि उनके कपड़े मैले भी हैं या नहीं।

यह जरूरी नहीं कि संत या फकीर फटे–पुराने चीथड़े ही पहने, कोट–पैंट और टाई पहने वाला भी संत हो सकता है और यह भी जरूरी नहीं कि सभी वेश–धारी सच्चे संत या फकीर ही हों। संतपना या फकीरी कपड़ो से नहीं आती बल्कि मन के विचारों से आती है। एक बार जब विवेकानंद जी अमेरिका में भाषण देकर मंच से उतरे तो कुछ मनचले लड़कों ने उनके भगवे कपड़ों को देखकर कुछ आपत्तिजनक टिप्पणी की तो विवेकानंद जी ने उस टिप्पणी पर तीखी प्रतिक्रिया करने के बजाय कहा कि अमेरिका में क्या दरजी आदमी को योग्य बनाते हैं? भारत में तो आदमी की योग्यता उसके गुणों से आंकी जाती है, कपड़ों से नहीं। वे लड़के बहुत शर्मिंदा हुये और उनके चरणों पर गिर पड़े।

जो भी चीज हल्की होती है, वह तैरती है और जो भारी होती है वह डूब जाती है। यही बात मनुष्य के ऊपर भी लागू होती है। मनुष्य जितना अधिक तनाव में होगा, उतना ही वह भारीपन महसूस करेगा। इस तनाव के जिम्मेदार हम स्वयं ही है। आप लोग निनयान्वे के चक्कर में रहते हैं और तनाव को बढ़ाते रहते हैं। इसीलिए आपसे न भजन–ध्यान होता है और न मन वश में होता है। **अन्दर में शब्द को सुनने के बाद किसी पूजा–पाठ की या यज्ञ की आवश्यकता नहीं रहती, न किसी कर्म–काण्ड की जरूरत रहती है। बस जो शब्द तुम्हारे अन्तस में हो रहा है उसे सुनते जाओ, वही शब्द तुम्हें मालिक से मिला देगा।**

आप अपनी दृष्टि ऊँची रखो और हमेशा यही समझो कि आप परमतत्व के अंश है और वही परमतत्व सब प्राणियों के अंदर भी मौजूद है। जड़ पदार्थ भी प्राणियों की श्रेणी में ही आते हैं क्योंकि वे भी पैदा होते है, जीवित रहते हैं और समय आने पर नष्ट हो जाते हैं। इसलिए किसी को भी नीच या हीन मत समझो, किसी से नफरत मत करो, किसी से भेद–भाव मत रखो। हमारे घट के बैरी कौन हैं? हमारे घट के बैरी हैं काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहंकार, ईर्षा, द्वेष, वासना आदि ही हमारे बैरी हैं जो हमें हमारे मालिक से नहीं मिलने देते। इन्हें कोई नष्ट नहीं कर सकता और नष्ट करना भी नहीं चाहिए क्योंकि इनके अंदर जो ऊर्जा है वही तो हमें जीवित रखे हुये है। बस! इनका रूख प्रेम से सतगुरू की ओर मोड़ना है। सतगुरू इन्हें आपकी उन्नति का साधन बना देगा। **संसार के सारे काम करते रहो बस उनमें फंसो नहीं।**

क्रोध यदि करना ही है तो इस बात का करो कि हम मालिक को क्यों भूल गये? काम की प्रवृत्ति को विश्व–प्रेम में बदल दो, मोह को प्रेम में बदल दो, लोभ को परमार्थ में लगाओ, जिस चीज से आपको सबसे ज्यादा लोभ हो उसे दूसरों के हित के लिए अर्पण कर दो, तुम्हारा उसके प्रति लोभ और आसक्ति जाती रहेगी। अब रही बात अहंकार की तो उसे मालिक के हवाले कर दो और कहो कि हे मालिक! "मैं कुछ नहीं, सब कुछ तू है और सब कुछ तेरा ही है।" हकीकत भी यही है कि जो लोग दुनिया छोड़कर वैरागी होने की बात करते हैं उन्हें पता नहीं कि संसार बाहर ही नहीं है, अंदर भी संसार भरा है। मन के अन्दर जो आपके विचार हैं वही तुम्हारा संसार है और जब तक इस मन से परे नहीं जाओगे तब तक घर–परिवार छोड़कर भी कोई लाभ नहीं होगा।

इसलिए कहते हैं कि त्याग मन से होता है, बाहरी त्याग कोई त्याग नहीं है। अपने विचारों को शुद्ध रखो, शिव संकल्प रखो और बच्चों को भी अशुभ विचार मत दो। तुम किसी के बारे में कभी भी बुरा मत सोचो, न बुरा कहो और न ही कभी किसी का बुरा करो, यकीन मानिए आपका कभी बुरा नहीं होगा।

सारी शक्ति मन की एकाग्रता में है। जो व्यक्ति अपनी इच्छा या वासना को एकाग्र कर लेता है, उसकी इच्छायें अवश्य पूरी होती हैं। अब भी मेरे मन में कभी–कभी ऐसे विचार उठते हैं जिन्हें मैं नहीं चाहता। तो मैं क्या करता हूं मैं तत्काल उन विचारों से तटस्थ हो जाता हूं, उन विचारों को विचारों से काट देता हूं या उनमें रूचि नहीं लेता तो वे विचार जहां से आये थे वहीं चले जाते हैं। **असल में विचार तो आते ही हैं जाने के लिए, मगर वे ठहरते इसलिए हैं कि हम उनमें रूचि लेने लगते हैं।** इसलिए तुम भी ऐसा ही करने की कोशिश किया करो, तुम भी विचारों के समुद्र में डूबने से बच सकते हो।

पशु–पक्षियों में तीसरा नेत्र खुला होता है जिससे वे आंधी, तूफान या अन्य प्राकृतिक आपदाओं का पूर्वानुमान लगा लेते हैं और अपने बचाव का प्रबंध कर लेते हैं। लेकिन मनुष्य इस सृष्टि की सुंदरतमकृति होने के बावजूद प्रकृति की इस देन से वंचित है। इसका कारण यह है कि मनुष्य ने इस सुविधा को अपने विचारों से दूषित कर रखा है जिसके कारण यह मौजूद होने के बावजूद क्रियाशील नहीं है। मनुष्य के अंदर यह शक्ति दोनों नेत्रों की भौंवों के बीच आज्ञाचक्र में स्थित होती है लेकिन इसका उपयोग केवल वे ही कर सकते हैं जिन्हें विधिवत इसका ज्ञान और अनुभव है, अन्य नहीं।

हालांकि सुरत का मतलब ध्यान है, लेकिन ध्यान को प्रभावित करने वाली शक्ति ही सुरत है। इसे संकल्प–शक्ति भी कहते हैं। यह संकल्प–शक्ति उसी परमतत्व का अंश है जिसने अपनी शक्ति से सारा जगत् बनाया है। हरएक मनुष्य के अंदर यह शक्ति मौजूद है लेकिन सभी मनुष्य इस शक्ति को अपने आपमें समेटने में सक्षम नहीं हैं। इस शक्ति को कुण्डलिनी शक्ति भी कहते हैं। इसे कुण्डलिनी इसलिए कहते हैं क्योंकि यह गुदा चक्र में कुण्डल मारकर सो जाती है। **यही धार या शक्ति शरीर के अन्य चक्रों में रत होने के कारण सुरत कहलाती है। इस सुरत को अच्छाई–बुराई दोनों से हटाकर ऊपर ले जाने को निरत कहते हैं और जब यह निज धाम में पहुंच जाती है तो इसे अरत कहते हैं।**

प्रसिद्ध वैज्ञानिक आईन्स्टीन ने उपनिषदों का अनुवाद जर्मनी भाषा में पढ़ा और ध्यान लगाकर बता दिया कि विश्व की रचना क्या है? उसने एक सूत्र निकाला E=Mc2 इसमें E का अर्थ है Energy और M का अर्थ है घनत्व यानी की ठोस पदार्थ + गति और वर्ग अर्थात् गति का ऊपर उठना। इस जगत् में जो कुछ भी अस्तित्व रखता है इसमें गति है, उसकी चाल है। 'मास' अथार्त् घनत्व तमोगुण है। तमोगुण के बाद रजोगुण आता है और रजोगुण गति प्रदान करता है। रजोगुण के बाद सतोगुण आता है और सतोगुण ऊपर ले जाता है।

सुरत ख्याल से चलती है और ख्याल इच्छा शक्ति से चलता है। इच्छा शक्ति या संकल्प की स्वतन्त्रता ही परमतत्वधार का प्रमाण है। **जो चीज आपके अधिकार क्षेत्र में ही नहीं है, उसको आप कर ही कैसे सकते हो।** सतगुरू के सम्पर्क में आने से, उसका सतसंग सुनने से आपके कर्म सहजरूप में ही कट जाते हैं। इन्द्रियों का प्रयोग तो सांसारिक व्यवहार में करना है, लेकिन उनमें फंसना नहीं है। ज्ञानी इन्द्रियों को बाघास्वरूप समझ कर इनका दमन करने का प्रयास करता है और जीवन बरबाद कर लेता है। लेकिन प्रेमी भक्त इन्द्रियों को ईश्वर की भेंट मानकर ईश्वर को ही अर्पण करके अपने लक्ष्य को पा लेता है।

अन्तर्मुखी

आप इन झगड़ों में क्यों पड़ते हो। आप तो शरीर से तथा मन से किये गये सभी कर्मों को मालिक की तरफ लगा दो, अहंकार भी मालिक को सौंप दो। इसके बाद जो भी कार्य आप करोगे, उसमें आपको आनंद की अनुभूति होगी। जब आपकी सुरत गुरू की प्रीति–रीति में केन्द्रित हो जायगी तब दुनिया की ऐसी कोई चीज नहीं होगी जो आपको उपलब्ध न हो। आप अपने परिवार वालों के साथ प्यार करो, अपना फर्ज निभओ, परंतु उनके मोह में मत फंसो। जितना फंसोगे उतना ही आपको अन्त में दुखी होना पड़ेगा। इसके लिए अपनी वृत्ति को बाहर की ओर से हटाकर अन्दर की ओर ले जाओ।

अन्तर्मुख होने के लिए दो चीजें जरूरी है– बाहर और भीतर का सतसंग। अन्तर के सतसंग की बात छोड़ो आप तो बाहर का सतसंग भी ठीक से नहीं करते हो। **आप तो गुरू को मनुष्य मानकर उसमें दोष निकालते हो और जिस उद्देश्य के लिए आप आए हो, उसे ही भूल जाते हो।** बाहर का सतसंग बार–बार करना इसलिए जरूरी है क्योंकि इससे आपका दृष्टिकोण बदल जाता है, आपके विचार बदल जांयगे और आपकी जिदंगी बदल जायगी। आंतरिक सतसंग सुमिरन, ध्यान और भजन है। आंतरिक सतसंग सतसंगी के मन को एकाग्र कर देता है। अन्तर्मुखी होने से शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक तीनों सुख प्राप्त हो जाते हैं।

अगर इंसान अपनी असलियत को पहचान ले और अपने आपको उस मालिक से अलग न समझे तो वह स्वयं मालिक का रूप ही है। किसी ने ठीक ही कहा हैः

पहचान ले अपने को तो इंसान खुदा है।
जाहिर में गो खाक है मगर खाक नहीं है।
जलवों की खता क्या जो दिखलाई नहीं देते।
खुद देखने वालों की नजर पाक नहीं है।।

बाहरी दृष्टि से तो मनुष्य मिट्टी का पुतला नजर आता है लेकिन अंदर से वह मिट्टी का पुतला नहीं है। हमें इस बात का ज्ञान नहीं होता क्योंकि हमारा मन मलिन है, हम उस मालिक को अपने से अलग समझते हैं। हमें इस बात का अंहकार कि हम हैं, हमारी अलग हस्ती है। यह अहंकार हटते ही हम स्वयं खुदा का रूप बन जाते हैं। वह मालिक दयाल है, परंतु काल भी उसी का है, उसी से निकला है, उसी का वितान है। इस काल के देश में जो भी कर्म आपने किये है उनका फल तो भोगना ही पडता है परंतु यदि आप दयाल की शरण में चले गये तो कर्म के चक्कर से बच जाओगे – जैसे कोई अपराधी भारतवर्ष में अपराध करके यदि अमेरिका चला जाय तो वहां भारतवर्ष का कानून लागू नहीं होता, इसलिये वह बच जाता है।

दान

पैसे से मालिक नहीं मिलता। वैसे दान देना अच्छा है क्योंकि दान देने से मन पवित्र हो जाता है। 'दान' में भी दान देने वाले की इतनी महिमा नहीं है जितने कि दान लेने वाले की महिमा है क्योंकि वह आपके द्वारा दिये हुये दान को स्वीकार करता है। मालिक तुम्हारे द्वारा दिये जाने वाले दान का मौहताज नहीं है। तुम उसे क्या दोगे? उसी ने तो तुम्हें यह सब कुछ दिया है। यह सारा जगत् उसकी एक बूंद मात्र से बना है। जिस आदमी को आप दान दे रहे हैं यह मत समझो कि तुम उस पर कोई अहसान कर रहे हो या वह तुम्हारे दान से ही जीवित रहेगा। आज तक जिसने उसकी परवरिस की है वह आगे भी उसको जीवित रखने में समर्थ है। हां आपको एक अवसर मिला है उसकी सेवा करने का यदि आप इस अवसर का लाभ उठाते हैं तो इसमें आपका ही लाभ है। तुम्हारी अपनी एक चीज है जो तुम मालिक को दे सकते हो और वह है तुम्हारी "मैं"। जब तुम अपनी "मैं" मालिक को दे देते हो तो वह तुम्हारी "मैं" बन जाता है, तुम्हारे आधीन हो जाता है। उस अवस्था में नाम भी छूट जाता है और केवल मालिक ही रह जाता है। बस! केवल दृष्टिकोण बदलने की जरूरत है।

मनुष्य का अज्ञान

जब भी मैं गंभीरता से सोचता हूं तो महसूस करता हूं कि मैं चेतन का एक बुलबुला हूं, जो प्रकृति के खेल के क्रम में प्रकट हुआ हूं। जब मैं शब्द अभ्यास में होता हूं, तब मैं सुरत रूप हो जाता हूं। जब मैं प्रकाश में होता हूं तो आत्मरूप हो जाता हूं। तुम दूसरों की नकल मत करो, हमेशा अपने अनुभव से लाभ उठाने की कोशिश किया करो। पतंगा तो अज्ञानी है जो अज्ञान में फंसकर जलती हुई लौ पर अपने प्राण न्यौछावर कर देता है कि उसे इससे सुख मिलेगा लेकिन आज का मनुष्य तो विज्ञानी होते हुये भी माया–मोह में फंसकर व्यर्थ में अपना जीवन बरबाद कर रहा है।

मालिक एक जादूगर है, उसने अपने जादू से कोटि–कोटि ब्रह्माण्ड की रचना की है। यह जादू क्या है? यह जादू है उसकी माया। अब जो व्यक्ति इस माया को जानता है वह तो कहेगा कि मालिक एक है और ऐसा भक्त ही हो सकता है। भक्ति क्या है? भक्ति मालिक के साथ एक हो जाना है, अपने आपको मालिक के सुपुर्द कर देना या उससे अभिन्न हो जाना, अविभक्त हो जाना ही सच्ची भक्ति है। और सच्चा भक्त भी वही है जो अपने इष्ट से अलग नहीं है अर्थात् जो अपने इष्ट के साथ तदाकार हो चुका है।

इंगला हमारे शारीरिक कर्म हैं, पिंगला हमारे मानसिक कर्म हैं। इंगला हमारे बुरे विचार हैं और पिंगला हमारे अच्छे विचार हैं। इन दोनों प्रकार के कर्मों से हमारी सुषुम्ना हमारे शरीर और मन का निर्माण करती है। सुषुम्ना हमारी इच्छा–शक्ति है। सुषुम्ना परमतत्व का प्रमाण है। आत्मा को देखा नहीं जा सकता, सुना नहीं जा सकता परंतु सब देखने और सुनने की शक्ति आत्मा से ही आती है। आत्मा का

प्रमाण है कि वह सदा–सर्वदा चेतनतत्व है। लेकिन परमतत्व चेतन से भी ऊँचा है। परमतत्व केवल अविनाशी "हैंपना" है।

मालिक न केवल निर्गुण है, न केवल सगुण है क्योंकि यदि वह सगुण है अर्थात् गुणों के अन्दर है तो गुणों के बाहर कौन है? अगर वह निर्गुण है तो सगुण रूप में जो जगत है उसमें कौन है? **अतः सत्य यह है कि सगुण का आधार निर्गुण है और निर्गुण का आधार सगुण है। सगुण शरीर है, निर्गुण मन है और आत्मा इन दोनों का आधार है।** आत्मा के बिना शरीर और मन बेकार हैं। इसलिए मालिक सगुण–निर्गुण से परे सर्वाधार है। तुम्हारे अपने अंदर में गुरू का रूप ही तुम्हारा अपना आपा है। मालिके कुल या परमतत्व यहां नहीं रहता, यहां तो सूर्य की किरणों की तरह मालिक की भी किरणें रहती हैं। यदि सूर्य पृथ्वी पर आ जाय तो यह समस्त सृष्टि भस्म हो जायगी। इसी प्रकार यदि मालिक भी अपने विभूतिरूप में संसार में आ जाय तो उस समय प्रलय हो जायगी। इसलिए मालिक स्वयं नहीं आता बल्कि अपने अंशों को भेजता है।

सतज्ञान

यदि कोई मालिक को देखना या मिलना चाहता है तो उसे मालिक की बनाई हुई हर चीज में देखना चाहिए और यदि कोई मालिक की सेवा करना चाहता है तो हर मनुष्य को दूसरे मनुष्य की सेवा करनी चाहिए क्योंकि वह परमात्मा इन्हीं मनुष्यों के अंदर आया हुआ है। अपने अंतःकरण या चिदाकाश में हम जो बार–बार सोचते हैं या देखते हैं उन सबका प्रभाव उसी प्रकार हमारे अंतःकरण पर पड़ता है जिस प्रकार किसी ठोस पदार्थ पर बार–बार कोई चीज रगड़ने से उस पर निशान पड़ जाते हैं। ये संस्कार शुरू–शुरू में तो छिपे रहते हैं लेकिन समय आने पर उभर आते हैं और कभी ड़राते हैं तो कभी सुखी भी करते हैं। वास्तव में ये सब कल्पना मात्र हैं परंतु जो इन्हें सत्य मान लेता है वह इनमें फंस जाता है। इसलिए जिनको संसार चाहिए उनके लिए हुक्म है कि संसार के कर्म करते हुये दूसरों की बुराइयां, शिकायतें और चुगलियां आदि करने से दूर रहें; समय आने पर ठौर–ठिकाने पर पहुंच ही जांयगे। यहां तो सबको ऋण चुकाना है किसी ने देना है और किसी ने लेना है। किसी ने बाप बन कर,, किसी ने बेटा–बेटी बनकर, किसी ने कुछ और बनकर जो ऋण लेना है, उसे शांति के साथ भुगतान करते चलो, और सुख से रहो, मस्त रहो।

हमारे शरीर के अंदर सुरत परमतत्व का अंश है और वही सुख–दुख का आभास करती है और ज्ञानेन्द्रियों के क्रिया–क्लाप का अनुभव करती है। स्वप्न की हालत में सुरत मन में ठहर जाती है और मानसिक सुख–दुख का अनुभव करती है। उस समय यह सूक्ष्म शरीर धारण कर लेती है। सूक्ष्म शरीर के स्थूल शरीर से अलग होते ही मृत्यु हो जाती है। गहरी नींद में सूक्ष्म शरीर भी निष्क्रय हो जाती है, उस समय आत्मा काम करती है। उस समय आनंद ही आनंद का अनुभव होता है। अंतरदृष्टि करने से आप शरीर, मन और आत्मा से भी परे जा सकते हैं। आत्मा वास्तव में कभी भी दुखी नहीं होती, दुख तो मन को होता है, लेकिन आत्मा मन के साथ चिपकी रहने के कारण उस दुख को अपना दुख मानने लगती है। आप दूसरों के ठेकेदार नहीं हैं, आप अपना जीवन बनायें। यदि आप दूसरों की मदद करना चाहते हैं तो उन्हें मालिक की तरफ जाने का मार्ग बताओ। बस! इतना ही काफी है, इससे ज्यादा मत सोचो।

भारतवर्ष में युगों पुरानी एक मान्यता है कि देवयान प्रकाश का रास्ता है। सूर्य के उत्तरायण होने पर खासकर शुक्लपक्ष में दिन के समय शरीर त्यागने से जीवात्मा देवयान मार्ग से जाती है और फिर दुनियां में वापिस नहीं आती। (14 जनवरी मकरसंक्रांति से उत्तरायण अर्थात् सूर्य उत्तर दिशा में जाता है और 14 सितंबर तक रहता है।) इसके विपरीत दूसरा पितृयाण अर्थात् अंधकार का मार्ग है। जो जीव सूर्य के दक्षिण दिशा में होने पर कृष्णपक्ष में रात्री के समय शरीर त्यागता है वह पितृलोक में जाकर पुनः इस दुनियां में आता है। लेकिन संत कभी भी और कहीं भी शरीर छोड़े वह सीधा परम धाम को जाता है। इसलिए हम कहते हैं कि आप गुरू के हो जाओ और सबकुछ उस पर छोड़ दो।

मालिक की खोज

परमतत्व भी तुम्हारे अन्दर है, शब्द भी तुम्हारे अन्दर है, सुरत भी तुम्हारे अन्दर है। जब तुम स्वयं अपनी सुरत को अपने शब्द में मिला दोगे तो उस शब्द के परे आपको वह अवस्था मिलेगी जहां उस प्रकाश को देखने और शब्द को सुनने वाले तत्व का अनुभव हो जायगा, तब आपको अभयदान मिल जायगा और तब आपका ध्यान, शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा की ओर नहीं जायगा। मालिक का प्रमाण स्वयं मालिक बन कर ही मिलता है **देवो भूत्वा देवं भजेत।** यह अनुभव की बात है, कहने सुनने की नहीं।

अनुभव ज्ञान नहीं होता क्योंकि ज्ञान तो नीची चीज है। ज्ञान किसका? कौन ज्ञाता है? कौन ज्ञेय है? अनुभव में तो ज्ञाता और ज्ञेय रहते ही नहीं, एक हो जाते हैं। सत्य का अनुभव होने पर अहंकार मिटता नहीं बल्कि सात्विक हो जाता है। यह शरीर हमारा परदेश है, इसमें हम उस अकह, अगम और अनामी देश से आये हैं जो हमारा निज देश है। अपने आदर्श को नीचे मत घसीटो बल्कि उसका कहा मानकर अपने आप को ऊपर ले जाओ, उस जैसे बनो। गुरू का कहना मानना और उसके मुताबिक चलना गुरूमुखता है और अपने मन मुताबिक बनना या करना मनमुखता है। कबीर दास जी कहते हैं:

जिन खोजा तिन पाइंया, गहरे पानी पैठ।
मैं अभागिन डूबन डरी रही किनारे बैठ।।

अभ्यास के समय हमारे अंदर जो भाव या रंग–रूप या विचार उठते हैं हम उनको ही देखते रहते हैं। इसी को कहते हैं किनारे पर बैठे रहना। किनारे पर बैठे रहते से बहुमूल्य रत्न नहीं मिलता।

मुझे मेरे सतगुरू परमदयाल जी ने कहा था शर्मा! चाहे अपने लिये न सही लेकिन फिर भी तुम्हें जीवन पर्यन्त शब्दाभ्यास करना चाहिए क्योंकि दूसरों की जो रेडियेसन्स तुम्हें प्रभावित करती हैं, उन्हें समाप्त करने के लिए निरंतर शब्दाभ्यास जरूरी है। सुरत के शब्द में समाने के बाद भी आदमी नीचे गिर जाता है। इसलिए कहा है कि शब्द के रूप को समझो, गुरू के रूप को पहचानो। गुरू ज्ञान का सार है। गुरू ऐसा ज्ञान है जो तुम्हारी रग–रग के अंदर, तुम्हारे व्यवहार के अंदर, रच जाय और तुम गुरू जैसे बन जाओ। करनी और चीज है और रहनी और चीज है। करनी करने के बाद जब तुम उसके अंदर रहने लग जाओगे, तब वह सहज हो जायगी। इसीलिए कहते हैं कि सत्य कहना और चीज है और सत्य में रहना और चीज है। ऐसी रहनी रहने वाले महापुरूष को किसी के प्रति राग–द्वेष नहीं रहता है।

श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि सारा जगत मेरे में है लेकिन मैं जगत् में पूर्णरूप से नहीं हूं, अंशरूप से अवश्य हूं, धारा के रूप में हूं, लेकिन आधार के रूप में नहीं हूं। तुम अपने धर्म में स्थित रहते हुये, अपने स्वभाव में रहते हुये जो काम करोगे और मुझे समर्पित कर दोगे, तो तुम्हें कुछ नहीं होगा, तुम्हारे ऊपर उन कर्मों का कोई भार नहीं होगा। जब बुद्धि समाप्त हो जाती है और मनुष्य शरणागत हो जाता है तब उसे सच्चा ज्ञान प्राप्त हो जाता है। मनुष्य के अंदर जब कोई अच्छा या बुरा संकल्प फुरता है तो वह भी उसके मस्तिष्क पर पड़े हुये संस्कारों के कारण ही फुरता है और आदमी की सुरत उस विचार में फंस जाती है। जब तक आदमी मन के चक्कर में फंसा रहता है तब तक वह सुख–दुख, हर्ष–शोक, आदि द्वन्द्वों से मुक्ति नहीं पा सकता। जिसे आप बहुत प्यार करते हैं उसका ध्यान आते ही उसकी याद आ जाती है, उसका रूप भी सामने आ जाता है। **इसी प्रकार यदि गुरू से भी प्रेम करोगे तो उसका ध्यान करते ही उसका रूप भी सामने आ जायगा। रिस्ता तो याद करने का एक बहाना होता है। इसलिए गुरू से कोई भी रिस्ता जोड़ा जा सकता है।**

आजकल अधिकतर लोग दुखी हैं, चिंतित रहते हैं, पता है क्यों? क्योंकि उन्होंने अपनी आवश्यकतायें बहुत बढ़ा ली हैं और उन्हें पूरा करने के लिए माया के चक्कर में हमेशा फंसे रहते हैं और मालिक को भूले हुये हैं। मालिक तो सभी द्वन्द्वों से परे है और सतगुरू का काम है आपको अपने सतसंगों में सहज तरीके से उस मालिक का ज्ञान करा देना। जैसे लकड़ी में आग तो पहले से ही मौजूद होती है, परंतु उस आग को देखने के लिये दो लकड़ियों को आपस में रगड़ना पड़ता है या दियासलाई की मदद से उस लकड़ी को जलाना पड़ता है। **ठीक ऐसे ही मालिक तो सबके अंदर मौजूद रहता है लेकिन योग साधन के बिना कोई उसे पा नहीं सकता लेकिन साथ ही यह भी सत्य है कि बिना गुरू–रूपी दियासलाई के मालिक को अंतर में पाना**

असंभव है, कठिन है। योग साधन क्या है? योग साधन है प्रेम से युक्त होना—सतगुरू से प्रेम करना, मालिक से प्रेम करना। हर समय सतगुरू को याद करते रहने से उसकी रेडिएसन्स तुम्हारे अंदर आ जायंगी। प्यार का रास्ता समर्पण का रास्ता है, इसमें देना ही देना होता है, लेने का सवाल ही नहीं उठता। यदि आपको उस मालिक का ज्ञान प्राप्त करना है तो आपको दियासलाई जलानी ही पड़ेगी और दियासलाई अपाके अंदर सतगुरू ही जला सकता है, सतगुरू ही आपके अंदर परमतत्व के प्रकाश को जला सकता है।

लोग मंदिर, मस्जिद और गुरूद्वारों में चिल्ला—चिल्लाकर मालिक को ढूंढते हैं जैसे वह उनसे अलग कोई और व्यक्ति हो जो ऊपर बैठा हुआ है। अरे! वह तो आपके अपने अंदर ही मौजूद है। क्योंकि जो कुछ ब्रह्माण्ड में है वही सब कुछ हमारे भीतर भी है। यही कारण है कि जब आप बाहरी आंख बंद करके ध्यान लगाते हो तो तुम्हें अपने अन्दर चांद सितारे इत्यादि नजर आते हैं। यदि आपके अन्दर ब्रह्माण्ड की भांति चांद सितारे नहीं होते तो वे आपको कैसे दिखाई देते?

ब्रह्मा, विष्णु, महेश

ब्रह्मा इस सृष्टि का रचियता है और वह विष्णु की नाभि से पैदा हुआ माना गया है। विष्णु क्या है? विष्णु है ब्रह्माण्डी मन जो सूक्ष्म है। इसी तरह हमारा मन भी सूक्ष्म है जो आंखों से दिखाई नहीं देता। उससे आगे है हिरण्यगर्भ, जो कारण शरीर है। यह ब्रह्माण्ड की आत्मा है और इसे शिव कहते हैं। हमारी आत्मा हमारे अंदर मौजूद विद्यमान है। इस प्रकार इस ब्रह्माण्ड को चलाने वाली तीनों शक्तियां हमारे अंदर ही मौजूद हैं। सत, रज तम तीन गुण हैं जिनके आधार पर जीवन के सभी क्रिया—कलाप सम्पन्न होते हैं। इन तीन गुणों से परे क्या है? इनसे परे वह निगुर्ण है। निगुर्ण का भी आकार होता है। वह आकार आत्मिक होने के कारण अविनाशी है। वहां का सत शब्द और प्रकाश है, वहां का चित अलख है और वहां का आनंद अगम है। इससे आगे अनामी है। आत्मा की आंखों से दिखाई देने वाला जो मालिक का स्वरूप है वह चौथे पद के अंदर है। शरीर से श्रम करो, मन से परिश्रम करो (अर्थात् शिव संकल्प करो, ध्यान और भजन करो) और आत्मा को पूर्ण आश्रम में ले जाओ अर्थात् उसे पूर्ण विश्राम करने दो। विश्राम सुरत से संबधित है। चौथे पद में पूर्णानंद मिलता है जिसे परमानंद की अवस्था भी कहते हैं।

एक जन्म गुरू भक्ति कर जन्म दूसरे नाम।
जन्म तीसरे मुक्ति पद चौथे में निज धाम।।

यह हालत केवल उस व्यक्ति की होती है जो तीसरी अवस्था में पहुंच चुका हो, मस्ती और समदृष्टि की अवस्था में पहुंच चुका हो। यह आत्मा की खुराक है। इससे आगे चलकर तो 'तू' और 'मैं' दोनों समाप्त हो जाते हैं। **जिसने गृहस्थ में रहते हुये मानव के प्रेम का अनुभव नहीं किया तो वह अनदेखे ईश्वर को कैसे प्यार कर सकता है?**

माया

यदि इस जगत को माया मान भी लिया जाय तो एक प्रश्न उठता है कि आखिर यह माया क्या है और किसकी है? इसका उत्तर है कि यह माया भी उसी ब्रह्म की है, उसी तत्वाधार की है और उसके आधार पर ही खेल खेलती और खिलाती रहती है अर्थात् नाना प्रकार के नाच नचाती है। अतः जब आप मालिक से प्यार करते हैं तो क्या आप उसकी शक्ति, उसके अभिन्न अंश माया से नफरत करेंगे। माया को मिथ्या इसलिए कहा गया है क्योंकि यह अपने आप में पूर्ण नहीं है, उसका अपने आप में कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। वह ब्रह्म से जुड़ी है और ब्रह्म पर ही आधारित है, इसलिए ब्रह्म की तुलना में मिथ्या है, अपूर्ण है। दाता दयाल जी ने एक जगह लिखा है—

ब्रह्म रहे माया के ओले। बिन माया ब्रह्म क्या बोले।।

जब मालिक सतगुरू के रूप में आता है तो उसकी तन, मन, धन से सेवा करो, तब तुम उसके स्वरूप को पहचानोगे। उसके अरूप को पहचानने का तरीका है, लगातार उसकी याद अर्थात् उसका सुमिरन करना। ऐसा करने से ब्रह्माण्डी मन आपको उसका साक्षात्कार करा देगा। **मन की खुराक है सुमिरन और आत्मा की खुराक है ध्यान।** जब आप पूरी तरह से गुरू के चरणों में शरणागत हो जाओगे

तब आपको पता चलेगा कि आपका दाता, आपका मालिक, आपका सतगुरू चौबिसों घन्टे आपके अंदर ही रहता है, आपके साथ ही रहता है और पल–पल आपकी रक्षा करता रहता है। जब आपको इस बात का ज्ञान हो जायगा तब आप निर्भीक हो जाओगे, तब तुम्हारे लोक और परलोक दोनों सुधर जायेंगे।

स्टेशन पर जब आपकी गाड़ी खड़ी होती है तो आपको दूसरी गाड़ी के चलने पर ऐसा अहसास होता है कि आपकी गाड़ी चल रही है। लेकिन जब आप अंदर अपनी गाड़ी में देखते हैं तब आपको सत्य का ज्ञान हो जाता है कि आपकी गाड़ी तो वास्तव में खड़ी है। इसी प्रकार बाह्म संसार में जो भी हलचल हो रही है उसको आप अपने अंदर होता हुआ मान लेते हो और दुख–सुख का अनुभव करते हो। **यदि आप भी अपने अंदर गहराई में उतर कर देखो तो आपको भी सत्य का ज्ञान हो जायगा कि आप अचल और स्थिर हैं और जो कुछ भी हलचलें आपको बाहर में होती हुई दिखाई दे रही हैं, आपका निज स्वरूप उनसे अछूता है। वह बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी बनाने का काम सतगुरू करता है।**

नवधा भक्ति

सनातनधर्म में नवधा भक्ति की बहुत महिमा गाई जाती है। नवधा भक्ति क्या होती है? पांच प्रकार की बाहरी भक्ति जैसे आंखों से देखना, कानों से सुनना, हाथों से स्पर्श करना, नाक से सूंघना और प्रसाद को चखना तथा चार प्रकार की आंतरिक भक्ति जैसे चित्त से मालिक का चिंतन करना, मन से उसका मनन करना, बुद्धि से उस मालिक को समझना और अहंकार को उस मालिक के चरणों में अपर्ण कर देना। **इस प्रकार की नवधा भक्ति तो संतमत में भी होती है लेकिन संतमत में इसका रूप थोड़ा सा बदला हुआ होता है।** संतमत में आंखों से गुरू के रूप को देखा जाता है, कानों से उसका सतसंग सुना जाता है, हाथों से गुरू के शरीर का स्पर्श किया जाता है, गुरू द्वारा दिये गये फूलों को सूंघा जाता है और गुरू द्वारा दिये गये प्रसाद को प्रेम से चखा जाता है। चित्त से गुरू का चिंतन, मन से उसका मनन, बुद्धि से शंकाओं का समाधान और अहंकार को गुरू को अर्पण करना सिखाया जाता है। इस प्रकार गुरू या मालिक को नौ प्रकार से प्यार किया जाता है। **सतगुरू की सद्भावना के बावजूद अगर किसी को हानि होती है तो वह उसके विश्वास की कमी है या उसके कर्मों का फल है।** *भूल करना पाप नहीं है बल्कि भूल करके उसको न सुधारना मूर्खता है।*

संतमत में मालिक के नाम और रूप पर विशेष प्रकाश ड़ाला जाता है या इसका विशेषरूप से अभ्यास कराया जाता है। **प्रकाश मालिक का रूप है और शब्द मालिक का निज नाम है। नाम और रूप मालिक की दो अभिव्यक्तियां हैं।** मालिक ही जब इच्छा होती है, वह साकार हो जाता है और फिर निराकार हो जाता है। गुरू तुम्हारे काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार जो भव का रूप हैं और दुख देने वाले हैं, इनका शमन करके आपको शांति प्रदान करता है। **गुरू का बाहरी व्यवहार भले ही आम आदमियों जैसा लगता है परंतु वह दुनिया से बहुत ऊँचा और न्यारा होता है, जिसका पता किसी बिरले को ही चलता है।**

सामान्य व्यवहार में यदि आप वकील को सब कुछ साफ–साफ बता दोगे तो वह टैक्स बचाने का रास्ता बता देगा। इसी प्रकार सतगुरू भी तुम्हारे कर्मों के टैक्स का वकील है। **हर व्यक्ति को कर्मों का टैक्स देना पड़ता है, किसी को कम और किसी को ज्यादा। इसमें घबनाने की कोई बात नहीं है।** इस जगत में झूंठ और सच दोनों चलते हैं। सच बोलना और बात है और सच में रहना और बात है। जिस व्यवसाय में तुम हो उसी के अंदर आपको परमतत्वाधार सतगुरू के साक्षात् दर्शन हो जांयगे। **संत का लक्ष्य मालिक के साथ जुड़ना होता है,, वह एक तरफ दुनियां में रहता है और दूसरी तरफ हरवक्त मालिक से जुड़ा रहता है इसलिए उसकी बुद्धि टिकी रहती है, स्थिर रहती है।**

भक्ति

भक्ति क्या है? भक्ति है अपनी हस्ती को मिटा देना। कहा है–

मिटा दे अपनी हस्ती को, अगर कुछ मर्तबा चाहे।
कि दाना खाक में मिलकर, गुले गुलजार होता है।।

हस्ती को मिटाने का अर्थ है अपने शरीर के अहंकार को, मन के अहंकार को और अपनी आत्मा के अहंकार को मिटा देना। जब आपका अहंकार समाप्त हो जाता है तो आपका जीवन गुले गुलेजार हो जाता है। मौज में रहना क्या है? अपने निज घर जाने की मौज, मौज है। **मौज का मतलब यह नहीं है कि आपका पुत्र हो जाय या वह जिन्दा रहे, व्यापार में घाटा न हो, आपको सम्मान मिले आदि–आदि बल्कि मौज में रहने का मतलब है कि आपका कल्याण हो।** अब यह तो सतगुरू ही बेहतर जानता है कि आपका कल्याण किसमें है। इसलिए उसकी मौज से जो भी होता है अगर उसे हितकर मान लिया जाय तो आपको सुखी होने से कोई रोक नहीं सकता। सांसारिक इच्छाओं में फंसना बेकार है क्योंकि सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति या सांसारिक चीजों का मिलना प्रारब्धकर्मों और पुरूषार्थ के अनुसार होता है।

अगर आप आत्मा में रहना चाहते हैं तो हमेशा प्रसन्न रहा करें। जो खुश नहीं रहता समझ लो वह अभी तक आत्मा के रास्ते पर नहीं आया है। *अगर कोई रोगी है तो उसने खुद अपने ख्याल से ही रोग पैदा किया हुआ है। कहीं न कहीं किसी के बारे में या अपने बारे में नकारात्मक विचार मन में रहे होंगे जिसके फलस्वरूप रोग पैदा हुआ है। ख्यालों में बहुत जबरदस्त ताकत होती है। इसलिए नकारात्मक विचार या चिंता या दुख के विचार कभी भी मन में नहीं लाने चाहिएं।* **"जल्दी नहीं, चिन्ता नहीं" के नियम का पालन करें।**

यह शरीर मन के वश में रहता है, मन आत्मा के वश में रहता है और आत्मा परमतत्व मालिक के आधीन रहती है। जब शरीर, मन और आत्मा के अहसासात समाप्त हो जाते हैं तब जो बाकी रहता है वह हमारा निज स्वरूप ही होता है जो परमतत्व ही है ओर अविनाशी है। जो गृहस्थ आश्रम में सफलता से नहीं गुजरा वह संयास में भी सफल नहीं हो सकता। जिसने सृहस्थ के सुख–दुख का अनुभव नहीं किया वह संसार को मुक्ति का रास्ता नहीं बता सकता। **अपने आपको कर्म में लगा देने से या भुला देने से भी मन एक जगह टिक जाता है।**

गुरू के तीन रूप हैं– एक तो गुरू का रूप यह सारा व्यापक ब्रह्माण्ड है, दूसरा रूप राधास्वामी तत्व है जो आपके अन्तस में भी बैठा हुआ है और गुरू का तीसरा रूप नररूप है जो अवतार लेकर आपको चिताने के लिये सतगुरू बनकर आया हुआ है और राधा–स्वामी अवस्था को लखाकर आपको मालिके– कुल से मिलाता है। वह जो सतगुरू तत्व है, वह वाणी बुद्धि और मन से परे है। अगर तुम उसे मनष्य न मान कर परमतत्व मानोगे, तो तुम्हारे अंदर का सोया हुआ परमतत्व जाग उठेगा और तुम जीवनमुक्त अवस्था को प्राप्त कर लोगे। ब्रह्मा, विष्णु, महेश देवता हैं और इनके अपने लोक हैं। जगत में रहते हुये अगर आप इन्हें नहीं मानोगे तो कष्ट उठाओगे। लेकिन जैसे काई के पीछे स्वच्छ जल छिपा हुआ होता है वैसे ही इनकी सत्ता के पीछे भी परमतत्व छिपा हुआ है। अत: आपको उस परमतत्व की प्राप्ती करने का प्रयास करना है।

यदि आप अंतरिक्ष में जाकर इस पृथ्वी की तस्वीर लो तो यह पृथ्वी कहीं दिखाई भी नहीं देगी। फिर सोचो कि इस पृथ्वी पर भला एक छोटे से जीव की क्या बिसात है। इस प्रकृति के सामने अगर हम यह सोचें कि मैं फला हूं या मैं यह कर सकता हूं तो बड़ी भारी भूल होगी। इसके साथ ही यह कहना कि मैंने उस मालिक को जीत लिया है या उसका पूरा पता पा लिया है जिसकी एक बूंद मात्र से सारा ब्रह्माण्ड बना है तो यह उससे भी बड़ी हिमाकत होगी। क्योंकि उस मालिक को पूर्णरूप से कोई नहीं जान सकता। *हां उसे जाने का एक तरीका है कि उसकी शराणागत हो जाओ। जो मालिक से मिलना चाहता है उसके लिए जरूरी है कि वह मनुष्य से प्यार करे।* यह ठीक है कि तुम सारी दुनिया के मनुष्यों से प्यार नहीं कर सकते, इसलिए तुम उन्हीं से प्यार करो जिन्हें कुदरत ने तुम्हारे साथ लगाया हुआ है। पहले आप अपने माता–पिता, भाई–बहनों, बच्चों और पत्नि से प्यार करो फिर सारे जगत् से प्यार करने के बारे में सोचना।

हमारे जो विचार हमको शांति देते हैं, इनका नाम है परमार्थ और जो विचार हमें संसार में फंसाते हैं वह है स्वार्थ। सदैव अपने परिवार और दूसरों के लिये भला सोचो, घरों में शांति रखो और अधिक विषय भोग में मत फंसो। आपस में प्रेम से रहो और मालिक

पर भरोसा रखो। आप देवी–देवताओं को पूजते हो पूजो मगर यह समझ कर पूजो कि इन सब रूपों का आधार एक ही है चाहे उसे किसी भी नाम से पुकारो। सभी देवी–देवता तुम्हारे अपने अंदर हैं। बस! एक को मानो तो सभी देवी–देवता तुम्हारे वश में हो जायंगे।

संसार एक सपना है। गुरू की दया से आपके अनेक बुरे कर्म स्वप्न में कट जाते हैं। स्वप्न अपने आपमें न झूठा है और न सच्चा है जब तक आप स्वप्न देखते हैं, तब तक वह आपको झूठा नहीं लगता। जब स्वप्न टूटता है तभी आपको लगता है कि आप स्वप्न देख रहे थे। स्वप्न तो एक खेल है। खेल में स्टेज पर हर एक्टर अपना रोल प्ले करता है। इस समय उसने स्टेज पर जो रोल किया उसका प्रभाव उसकी वास्तविक जिदंगी पर नहीं पड़ता। **इसी प्रकार इस जीवन के खेल को भी यदि आप इसी भावना से खेलो तो तुम्हारे अविनाशी तत्व पर भी इन घटनाओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।** फिर न आपको जीवन में दुख सतायेगा, न लालच आयेगा, न सुख में प्रसन्नता होगी।

न हो हमारा किसी से नाता न हम किसी का सहारा ढूंढे।
रहें सदा तेरे ही सहारे दयाल दाता कृपाल स्वामी।।

माया उस समय तक भ्रम बनी रहती है, जब तक उस माया के आधार ब्रह्म से सीधा संबंध नहीं हो जाता। यह सीधा संबंध प्रेम एवं भक्ति के द्वारा ही हो सकता है। भक्ति में माया–माया नहीं रहती वह ईश्वरमय हो जाती है।

दृष्टि सृष्टि का सकल पसारा, जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि।
भक्ति की दृष्टि जब आई, ईश्वरमय हो गई सृष्टि।।

ज्ञान की अग्नि में कर्म दग्ध हो जाते हैं लेकिन प्रेम की शीतल छाया में ज्ञान भी समाप्त हो जाता है क्योंकि प्रेम अपने आपमें पूर्ण है। प्रेम में बेख्वाहिसी की ख्वाहिस पराकाष्ठा को पहुंच जाती है। **यह सोचना कि दूसरे बुरे हैं, इस बात को बताता है कि आप अच्छे नहीं हो।** बुराई सोचते ही तुम्हारे मन में बुराई आ जाती है। जो बुरे हैं उन्हें पता ही नहीं होता कि वे बुरे हैं। उन्हें तो यह भी पता नहीं होता कि अच्छाई क्या होती है? इसलिए वे सुखी रहते हैं क्योंकि उनमें द्वन्द्व भाव नहीं रहता अर्थात् अच्छाई–बुराई, सुख–दुख सब तुलनात्मक शब्द हैं, द्वन्द्वात्मक शब्द हैं। जो अच्छे हैं वे किसी की बुराई नहीं करते और जो बुरे हैं उन्हें दूसरों की बुराई करने का कोई अधिकार नहीं है। **जिनके घर शीशे के होते हैं वे दूसरों पर पत्थर नहीं फेंका करते।**

दीन–हीन

दीन–हीन होने का विचार ही बताता है कि मैं अविनाशी हूं। कई बार हम अपने आपको दीन–हीन कह देते हैं। ऐसा क्यों कहा जाता है? **क्योंकि दीन–हीन ही अधिकारी होता है। वह दीन–हीन जानता है कि कोई चीज है जो उसके अंदर है और वही सबके अंदर भी है परंतु अभी उसे उसका अनुभव नहीं हो रहा।** वह यह भी जानता है कि उस आत्मा को देखा नहीं जा सकता परंतु सब कुछ उसी आत्मा के द्वारा ही देखा जाता है, वह आत्मा सब कर्मों का कर्त्ता भी है, वही कर्म भी है और क्रिया भी वही है। *इतना जानते हुये भी वह जिज्ञासु अपने को दीन–हीन इसलिए कहता है क्योंकि अभी उसे उस आत्मा का अनुभव नहीं हो रहा। जब तक वह उस आत्मा को अपने से दूर ही समझता रहेगा तब तक दीन–हीन ही बना रहेगा।*

असलियत यह है कि वह मालिक हम में नहीं रहता बल्कि हम सब उसी में रहते हैं। हमारे अंदर तो उसका एक अंश मात्र रहता है। **जब तक कोई उस मालिक को मनुष्य के रूप में प्रेम नहीं करेगा तब तक उसका अनुभव नहीं कर सकेगा।** असत् का संग होना ही आसक्ति है। गुरू के प्यार के बराबर दुनिया में कोई वस्तु नहीं है। अपनी सारी कमियां गुरू के सामने खोलकर रख दो वह तुम्हें मुक्ति का रास्ता तुम्हारी फितरत के मुताबिक बता देगा। उसके दाहिने अंगूठे से धारा निकलती है लेकिन उसका उत्तराधिकारी वही होता है जिसके अंतर में तड़फ होती है। लोहा जल में डूब जाता है, अपने आप नहीं तैर सकता, लेकिन जब वही लोहा नौका में लाद दिया जाता है तो पार हो जाता है। **वैसे ही पापी इंसान भी गुरू की संगत से तर जाते हैं, परंतु अपने प्रयास से नहीं, बल्कि गुरूकृपा से।** *इसलिए गुरू महिमा है और गुरू की महिमा का गान या बखान नहीं हो सकता क्योंकि गुरूतत्व तो मन, वाणी और वचन से परे है, बुद्धि से भी परे है।*

सतगुरू वह है जो सत में रहता है। ऐसा सतगुरू जो बोलता है वह अमृत की धारा होती है, आकाशवाणी होती है। *उसकी वाणी ही गुरू होती है, उसका शरीर, उसका बाहरी रूप गुरू नहीं है,* बल्कि

उसके अंदर जो धार बहती है, वह अविनाशी है और वही धार सतगुरू है। एक गुरू वह है जो सबके अंदर बैठा है, दूसरा एक गुरू वह है जो ऊपर से आकर अपना अनुभव बांटता है और तुम्हें सच्चाई का ज्ञान करा देता है। **यदि तुम्हारा अभ्यास नहीं बनता न बने, बस! तुम उसे प्यार करते रहो, तुम्हारा कल्याण हो जायगा।** *अभ्यास क्या है? अभ्यास है उसी मालिक को याद करना जिसे हम प्यार करते हैं।* यदि आपकी श्रद्धा में कमी नहीं है तो मालिक के दरबार से आपको सब कुछ मिलेगा। कर्म का भोग तो सबको भोगना पड़ता है। *यदि कर्म के सिद्धांत से बचना चाहते हो तो दयाल के पास जाओ, वहां कर्म का सिद्धांत लागू नहीं होता।* देवी–देवताओं की पूजा तुम्हें कर्म के कानून से नहीं बचा सकती।

वेदान्ती कहता हैः 'बह्म सतं जगत् मिथ्या' लेकिन मेरा अनुभव कहता है कि माया है ही नहीं, काल भी नहीं है तो जगत् मिथ्या कैसे हुआ? सब कुछ दयाल है, बस! उस दयाल को देखने के लिए आंखें चाहिएं, सुनने के लिए कान चाहिएं। *आपको जो पापी दिखता है मुझे उसमें पापी नजर नहीं आता क्योंकि मुझे तो उसके अंदर बैठा हुआ मेरा सतगुरू ही नजर आता है।* जब वह मुझे मिलने आता है तो मालिक ही मालिक से ही मिलने आता है। महर्षि दाता दयाल जी महाराज एक शब्द में मेरे गुरू परम दयाल जी को कहते हैं कि मैं खुद एक पापी हूं और मैंने पापियों के लिए ही जन्म लिया है और पापियों के साथ ही मैं भी तर जाऊंगा। जब ऐसी भावना आपके मन में पैदा हो जायगी तब आपका पाप भी प्रेम से धुल जायगा और आप भी पापियों से प्रेम करने लगोगें।

किसी के विश्वास पर लात मत मारो क्योंकि ऐसा करने से तुम दूसरे का नहीं बल्कि अपना ही नुकसान कर रहे हो। कहते हैं कि गुरू के अच्छे कर्मों का फल दांयी ओर रहता है और बुरे कर्मों का फल बांई ओर रहता है। यदि सतसंगी बुरी भावना से आया है तो वह बुरा फल ले जायगा और अगर वह अच्छी भावना लेकर आया है तो वह अच्छा फल ले जायगा। **लेकिन तुम तो प्रेम की भावना से आओ और प्रेम ही बदले में ले जाओ।** एक संत ने यही बात अपने एक शिष्य को बताई और सांकेतिक रूप में उसे एक झोली दे दी जिसमें दो जेबें थीं–एक दाहिनी ओर और दूसरी बाईं ओर। वह शिष्य साधना करने के लिये चला गया और दांई–बांई का क्रम भूल गया। परिणामस्वरूप जब वह लौटा तो उसकी बांई जेब में तो बहुत कुछ भरा हुआ था लेकिन दांई जेब खाली थी। आप स्वयं अपनी जांच करो कि आपकी कौन सी जेब में कितना माल है?

आदमी दुनिया के गम गलत करने के लिए अनेक उपाय करता है लेकिन उन उपायों से गम गलत नहीं होते उल्टे बढ़ते हैं। गुरू भी आपके गम गलत करने के लिए अनेक उपाय बताता है और आपको शराब भी पिलाता है मगर यह शराब प्रेम और भक्ति की होती है जो आपकी सुरत को मालिक से जोड़े रखती है। जब आप सतसंग में बैठो तो गुरू की तरफ देखते रहो। जब आपकी तड़फ तीव्र हो जायगी अर्थात् जब आपका जाम खाली हो जायगा तो उसकी मेहर की दृष्टि आप पर पड़ेगी और आपका पैमाना भर दिया जायगा। आपके प्रेम के वशीभूत होकर ही तो वह परमधाम से इस धरा पर आया है और बंधन मुक्त होते हुये भी बंधन में बंधकर तुम्हें चिताने आया है, तुम्हें निजधाम ले जाने के लिए आया है।

नियतिवाद

यदि नियतिवाद मनुष्य के सभी कर्मों पर लागू होता है तो उसके संकल्प द्वारा किये गये कर्म भी यंत्रवत होने चाहिए थे, परंतु ऐसा होता हुआ प्रतीत नहीं होता। मनुष्य को मिली हुई स्वतंत्रता भी असीमित नहीं है, वह भी सीमित है। यहां स्वतंत्रता का अर्थ बुद्धि के आधार पर अपने कर्मों को विशेष रूप देना एवं उनको अनुशासन के आधीन करना है। इसलिए मनुष्य के सविकल्प कर्म न तो यंत्रवत बाहरी परिस्थितियों से नियत हैं और न पशुओं की भांति तर्कहीन और फुटकर हैं। अर्थात् मनुष्य के कर्म आत्मा से प्रेरित होने के कारण आत्म नियतिवाद के आधीन हैं। आपका सतगुरू के सतसंग में आना नियत है और प्रारब्ध कर्मों का फल है, किन्तु गुरू के सतसंग को सुनकर उस पर अमल करना या न करना आपकी संकल्प की स्वतंत्रता का परिणाम है।

प्रकृति और पुरूष–सृष्टि रचना

प्रकृति परिवर्तनशील गत्यात्मक है परंतु चेतनहीन है इसलिए इसे जड़ कहा जाता है। पुरूष को चैतन्य अपरिवर्तनशील शुद्धतत्व माना गया है। प्रकृति चेतन शून्य होने के कारण अंधी मानी जाती है और पुरूष गतिमान नहीं होने के कारण लंगड़ा माना जाता है। इस प्रकार अंधे और लंगड़े के सहयोग से सृष्टि की रचना हुई है। चेतन्य पुरूष दूर से ही चेतना की किरण फेंकता है और प्रकृति को गतिमान करता है। पुरूष के इस व्यवहार से प्रकृति में हिलोरें उठती हैं और उससे सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण पैदा होते हैं। प्रकृति के इस विकास–क्रम में इन तीनों गुणों में अहंकार एवं 'मैंपना' पैदा हो जाता है।

सतोगुण के अहंकार से मन, पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां पैदा होती हैं। तमोगुण के अहंकार से पांच सूक्ष्म तत्व एवं उनकी पांच तन्मात्राएं उत्पन्न होती हैं। पृथ्वी तन्मात्रा से गंध, जल तन्मात्रा से रस, अग्नि तन्मात्रा से रूप, वायु तन्मात्रा से स्पर्श ओर आकाश तन्मात्रा से शब्द के गुण उत्पन्न होते हैं। इन तन्मात्राओं के मेल से स्थूल शरीर में पाये जाने वाले पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश निर्मित होते हैं। प्रकृति और पुरूष के विकास की विषम अवस्था को सृष्टि की रचना कहा जाता है।।

ब्रह्म और माया

मानवता का अर्थ है पूर्णता। देवता पूर्ण नहीं हैं क्योंकि देवताओं को संकल्प की स्वतंत्रता नहीं है। <u>संत ईश्वर से ऊँचा होता है क्योंकि ईश्वर ने तो जीव को सुख–दुख सहने के लिए नीचे फेंक दिया और संतसतगुरू दुखी जीवों का अज्ञान मिटाकर निजधाम ले जाता है। संत मनुष्य के रूप में परमतत्व ही अवतरित होता है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव भी ऊँचे नहीं हैं। शब्द भी ऊँचा नहीं है, श्रेष्ठ नहीं है, राधा भी इस जगत् में श्रेष्ठ नहीं है। ये पूर्ण इसलिए नहीं हैं क्योंकि ये मालिक में विलीन नहीं हो सकते, लेकिन यदि मनुष्य चाहे तो इसी जन्म में परमतत्व में विलीन हो सकता है।</u>

एक दृष्टि से देखा जाय तो माया भी पूर्ण है, उसमें भी कोई अधूरापन नहीं है क्योंकि माया को भी मालिक ने ही बनाया है, जो पूर्ण है। **जिस प्रकार अपूर्ण से कभी पूर्ण की उत्पत्ति नहीं होती उसी प्रकार पूर्ण से कभी अपूर्ण की उत्पन्न नहीं होती।** इस पूर्ण का ज्ञान होने के बाद मनुष्य पूर्ण के पास पहुंच जाता है। ईश्वर को भी जन्म लेने के लिए **माँ** की जरूरत होती है, यदि पिता नहीं तो कोई बात नहीं। अब बताओ कि राधा (माया) ज्यादा जरूरी है कि स्वामी या ब्रह्म। **माया अपने आपमें अच्छी क्यों नहीं लगती? इसका एक कारण तो यह है कि यह ब्रह्म की रेडियेशन है अर्थात् ब्रह्म की किरण है और दूसरे वह छोटे रूप में है और ब्रह्म बड़े रूप में है और तीसरे माया ब्रह्म पर आधारित है, ब्रह्म माया पर आधारित नहीं है।** माया तो ब्रह्म के ऊपर टिकी है और वह ब्रह्म को छुपाती है। इस जगत् में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जो ब्रह्म के बिना अस्तित्व रखती हो। <u>*जो कुछ भी माया दिखती है वही ब्रह्म है लेकिन उसका रूप बदला हुआ जरूर है। इस बात को जो समझ जाता है, उसे माया नहीं सताती और वही सच्चा ज्ञानी समझा जाता है।*</u>

माया ब्रह्म की शक्ति है और ब्रह्म बिना अपनी माया के कुछ भी करने में असमर्थ रहता है। ब्रह्म हमेशा माया के ओले (आड़) में रहता है। दातादयाल जी महाराज ने एक जगह लिखा है–**ब्रह्म रहे माया के ओले, बिन माया बह्म क्या बोले।** माया के कई रूप हैं। <u>*माया का भक्तिरूप भी है और शक्तिरूप भी है। शक्ति तो क्रोध में अंधी हो जाती है, लेकिन भक्ति विजय पाती है।*</u> इसलिए ब्रह्म और माया का भेद भ्रम है और भ्रम के अलावा कुछ नहीं है। यदि आप को यह पता लग जाये कि माया जो हमें अलग दिखाई दे रही है, वास्तव में वह अलग नहीं है, बल्कि परमतत्व का अंश है तो आप मालिक के पास आसानी से पहुंच जाओगे। **जब आप मालिक से प्यार करोगे तो उसकी माया से भी प्यार करना पड़ेगा अन्यथा मालिक से प्यार नहीं हो सकता।** मालिक की बनाई हुई प्रकृति से नफरत करके तुम मालिक के पास नहीं पहुंच सकते। सिर्फ प्रकृति से प्रेम करके भी तुम दुखी रहोगे।

आपको शरीर सेवा करने के लिए मिला है, निकम्मे बैठने के लिए नहीं मिला है। शरीर का कार्य है कर्म करना, चित्त का कार्य है ज्ञान देना और आत्मा का कार्य है आनंद देना। जब तुम खुश रहते हो तो आत्मा में रहते हो। **जब भी तुम्हें मुसीबत आये या कोई अवसाद आये तो खुश रहो।** जो आदमी मुरझाया हुआ रहता है उसकी रेडियेशन्स दूसरों को भी मुरझाया हुआ बना देती हैं। ऐसा आदमी दुहरा पाप करता है। *इस जगत् के अंदर सुख की भी सीमा है लेकिन जिस स्रोत्र से सुख आता है, वहां सुख की कोई सीमा नहीं है, वहां अनन्त सुख है।*

यदि कोई मेरी निन्दा करता है तो वह मेरे शरीर की निन्दा करता है या मेरे विचारों की निन्दा करता है परंतु मैं तो न शरीर हूं न मन हूं, मैं तो इन सबसे न्यारा हूं। जो मेरा निज आपा है वह तो अविनाशी है, सबसे परे है। यह समझ आपको गुरू की संगत से आयेगी। **जब तुम्हें किसी चीज की तीव्र चाह होती है तो प्रकृति उसका प्रबंध कर देती है। जब तुम्हें मालिक की या अपने घर जाने की तीव्र चाह होगी तो सतगुरू की दया दृष्टि तुम पर पड़ जायगी और तुम्हारा कल्याण हो जायगा।**

जो आगे आने वाला सतगुरू होता है वह पीछे वाले सब सतगुरूओं की समस्त कलाओं या शक्तियों को अपने अंदर सिमेटकर लाता है। इसीलिए भगवान कृष्ण को पूर्णेश्वर अवतार कहते हैं। यह विकास–क्रम का असूल है। कहते हैं कि पहिले जीव एक कीड़े के रूप में पैदा हुआ, फिर मछली बना, उसके बाद कछुआ बना, फिर पशु बना, उसके बाद बंदर बना और बाद में इंसान बना। इंसान में भी पहले वह पाषाण युग में रहा, फिर धीरे–धीरे विकसित हुआ और आधुनिक मानव बना। इसी प्रकार गुरू परंपरा भी चलती है।

आपको आनंद तो सब जगह मिल जायगा लेकिन परमानंद तो सतगुरू के पास ही मिलेगा। वह सतगुरू जो स्वयं निज अवस्था में रहता है, वही आपको आपकी निज अवस्था का परिचय करा सकता है। उसके अंदर से विशेष किरणें या रेडियेसंस निकलती हैं जो आपको प्रभावित करती हैं।

यदि आप दुनियावी खुशियां चाहते हो या अपनी इच्छाओं की पूर्ति चाहते हो तो जीवित या मृत किसी को भी मानो, पत्थर को पूजने से भी तुम्हारी इच्छायें पूरी हो जांयगी। लेकिन यदि निज धाम जाना चाहते हो तो तुम्हें उस जीवित गुरू की आवश्यकता है जो तुम्हें सच्चाई बताये। परंतु तुम गुरू के स्थूल शरीर से ही मत चिपटे रहो, उसके अविनाशी तत्व को पहचानों, वही तुम्हारा बेड़ा पार करेगा। आपके मन में बहुत शक्ति है, आप सच्चे दिल से जो भी इच्छा करोगे वह पूरी हो जायगी। *हम इस जगत् में मालिक को मिलने आये थे लेकिन हम माया मोह में फंसकर उस मालिक को भूल गये। अब इस कैद से हमें सतगुरू ही छुड़ा सकता है।* आप सिर्फ सतगुरू से प्यार करो और अपनी सब अच्छाई– बुराई उसे दे दो। वह अपनी जान पर खेल कर भी आपकी रक्षा करेगा। **सतगुरू अपनी वाणी से दया मेहर की वर्षा करता है।** सतसंग में बार–बार आना इसलिए जरूरी है, ताकी आपको सार तत्व अर्थात् सच्ची बात समझ में आ जाये।

ब्रह्म को किसी भी भाषा या लिपि में व्यक्त नहीं किया जा सकता। *ब्रह्म एक विश्वव्यापी तथा विश्वातीत सत्ता है, जबकि आत्मा कर्त्ता, दृष्टा और भोक्ता होने के कारण अन्तरात्मक सत्ता है, जो स्वयंसिद्ध है।* इसमें तनिकमात्र भी संदेह नहीं है कि आत्मा और ब्रह्म का तादात्मय पहले से ही उपस्थित है। परंतु इसका ज्ञान एक भूली हुई वस्तु के ज्ञान की भांति है। 'तत् त्वं असि' ऐसा कथन है जिसका उच्चारण गुरू द्वारा उस समय किया जाता है जब शिष्य उसे ग्रहण करने के योग्य हो जाता है जिसको सुनकर शिष्य को अपनी भूली हुई चीज का अज्ञान नष्ट हो जाता है। जैसे अर्जुन कहता हैः

'नष्टो मोहःस्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव।।'

जीव अथवा आत्मा जो अनन्त सत् चित् और आनंद है सांसारिक दुखों का अनुभव इसलिए करता है क्योंकि वह अविद्या या माया के कारण अपनी आध्यात्मिक क्षमता को भूल चुका होता है। जब हम कहते हैं कि हम दुखी हैं तो दुखी तो शरीर या मन है परंतु मैं शरीर या मन नहीं हूं। इसलिए विशुद्ध आत्मा का दुखी होने का तो प्रश्न ही नहीं पैदा होता। **चूंकि हम अपनी असली पहचान ही भूल गये**

हैं इसलिए दुखी हैं। इस अज्ञान को मिटाने के लिए ही सतगुरू अनामी धाम से आता है।

शरीर पैदा होता है, मन भी पैदा होता है, आत्मा भी बार–बार आती जाती है **परंतु आत्मा को अनुप्रमाणित करने वाला, आत्मा को शान्ति और आनंद देने वाला जो अविनाशी तत्व है, वह अपने आप में परिपूर्ण है, वह स्थिर रहता है। इसलिए जो अपने आप में ठहर जाता है उसे ही सच्ची शान्ति प्राप्त होती है।** प्रेम क्या है? आत्मा की धार के बहाव का नाम ही प्रेम है। प्रेम आत्मा की वो धार है, जिसका न आदि है और न अंत है। प्रेम ऊपर से नीचे एवं नीचे से ऊपर आता जाता रहता है– बड़ों से छोटों की ओर एवं छोटों से बड़ों की ओर प्रवाहित होता रहता है। यदि तुम दयाल को प्राप्त करना चाहते हो तो तुम्हारे अंदर दयाल के गुण आने चाहिए। कोई भिखारी राज दरबार में जाकर राजा के बराबर नहीं बैठ सकता। यह अधिकार एक राजा को या उसके समकक्ष अधिकारी को ही मिलता है।

आत्मा का ज्ञान

विज्ञान है बाहरी ज्ञान, जगत् का ज्ञान और आत्म ज्ञान है अंतर का ज्ञान। हमारे ऋषियों ने हजारों वर्षों तक आत्मिकतत्व पर यह जानने के लिये प्रयोग किये कि उस मालिक का स्वरूप क्या है जिससे यह सारा जगत् निकला है और हमारा स्वरूप क्या है? अपने अनुभव के बाद उन्होंने देखा कि जहां से यह सारा जगत् बना है, वह अपने आपमें पूर्ण है, उसमें कोई कमी नहीं है। इसलिए इसको कोई नाम नहीं दिया जा सकता क्योंकि सभी नाम उसी से निकले हैं। उस परमपुरूष का स्वरूप यह जगत् है। इसलिए हमें भौतिक जगत् से नफरत नहीं करनी चाहिए। यह जगत् उसकी माया है, उसकी प्रकृति है, उसका अंग है, उसका फैलाव है।

आज विज्ञान भी इस बात को मानता है कि हमारी पृथ्वी जैसी अनेक पृथ्वियां हैं, अनेक सौर मंडल है, अनेक आकाशगंगायें हैं। हर सौर मंडल का अपना–अपना ब्रह्मा, विष्णु और महेश हैं। राधास्वामी नाम परमतत्व का ही एक नाम है और राधास्वामी मत सनातनधर्म की आखिरी सीढ़ी है। ब्रह्म माया से अलग नहीं है जैसे शक्ति शक्तिवान से अलग नहीं होती है। शिव से यदि 'इ' निकाल दिया जाय तो वह 'शव' रह जायगा। इसलिए शिव का यह 'इ' ही मुख्य है और यह 'इ' ही शिव की शक्ति है। न कृष्ण के बिना राधा है और न राधा के बिना कृष्ण है। राधास्वामी किसी व्यक्ति का नाम नहीं है। राधा प्रकृति है और स्वामी स्वामी है।

आप दुनिया के सब काम करते हुये भी मालिक के साथ मिले रह सकते हो। शरीर भौतिक नियमों के अनुसार काम करता है और मन भी सत, रज और तम से प्रभावित होकर सुख–दुख आदि का अनुभव करता है। लेकिन शरीर और मन के भावों को अपने निज स्वरूप के अनुभव मान लेना भारी भूल है। जो व्यक्ति साक्षी भाव में रहता है, वह जानता है कि उसकी आत्मा अछूती रहती है।

सोचो हमारा अपना क्या है? हमारा अपना हमारी 'मैं' है जो हमने स्वयं बनाई है। भक्त जब अपनी 'मैं' मालिक को या गुरू को दे देता है और कहता है कि हे मालिक! मैं कुछ नहीं हूं, जो कुछ भी हो आप ही हो तब मालिक स्चयं उसकी 'मैं' बन जाता है ताकि संसार की मैं उसके भक्त को कोई हानि न पहुंचाये। यह है सतगुरू के चरणों में झुकने का मतलब अर्थात् अपनी 'मैं' को सतगुरू के चरणों में चढ़ा दो। आपकी 'मैं' हटते ही मालिक आपके अंदर आ जायगा।

अध्यात्मिकता

प्रकाश आपकी अपनी ही आत्मा का नूर है। **अपनी आत्मा पर विश्वास करना ही दरअसल गुरू चरणों पर विश्वास करना है।** मालिक का कोई रूप नहीं है, फिर भी सभी रूप उसी के हैं। तुम एक ही रूप को मानो, एक रूप पर ही पूर्ण विश्वास करो। जब आपका मन एक जगह टिक जायगा और दुनिया की ख्वाहिसें कम हो जांयगी, फिर तुम्हें मालूम हो जायगा कि तुम कौन हो!

जब जगत् का आधार और विस्तार, ब्रह्म और माया, राधा और स्वामी अलग–अलग होकर विचरते हैं, तो जीव सुख–दुख, लाभ–हानि, जय–पराजय, जन्म–मरण आदि के द्वन्द्व का अनुभव करता है। ध्यान योग के द्वारा आत्मज्ञान होने से समता आ जाती है। यज्ञ एवं कर्म–काण्ड के द्वारा अशुभ योग समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार पूजा

एवं द्वैत की भक्ति में भी साधक आनंद का अनुभव करता है। किन्तु जब तक वह ध्यान से परे, कर्म से परे और द्वैत की भक्ति से परे नहीं जायगा तब तक जीव का परात्परब्रह्म में विलीनीकरण होकर चौथे पद में प्रवेश नहीं होता, तब तक उसे मंजिल नहीं मिलती। क्योंकि चौथे पद में विलीनीकरण ही हमारी अंतिम मंजिल है। इस अवस्था को प्राप्त करना सरल भी है और कठिन भी है। सरल इसलिए है कि एक बार शरणागत हो जाने से सहज अवस्था मिल जाती है और कठिन इस दृष्टिकोण से है कि इस पराभक्ति को पाने के लिए तन, मन, धन आदि सब कुछ न्यौछावर कर देना पड़ता है और सभी दुनियावी इच्छाओं और वासनाओं को तिलांजली देनी पड़ती है।

ईर्षा और द्वेष भी प्रेम के अंग हैं। अंतर केवल इतना है कि ईर्षालु अपने प्रेम में इतना आसक्त हो जाता है कि वह किसी दूसरे को सहन नहीं कर सकता। जब हम किसी चीज को स्वीकार नहीं करते तो हम अंतस में किसी और चीज को स्वीकार करते हैं। जो व्यक्ति यह कहता है कि ईश्वर नहीं है वह किसी और शक्ति को सृष्टि का कर्त्ता मानता है। लेकिन सभी द्वन्द्वों के पीछे एकत्व छिपा होता है। जो साधक इस भाव का अनुभव कर लेता है, उसके भेद समाप्त हो जाते हैं।

दुनिया के लोग समझते हैं कि स्त्री पुरूष से नीची है, लेकिन यह बात गलत है। स्त्री प्रकृति है और मालिक की धार है। ऊपर बैठा हुआ मालिक हमारे किसी काम का नहीं है, जब तक वह नीचे नहीं आता। जब मालिक नीचे आता है तो संतसतगुरू बनकर ही आता है और जीवों का उद्धार करता है। इस प्रकार वह प्रकृति का हिस्सा बनकर ही आता है। *अगर तुम दर्दे दिल से पुकारोगे तो तुम्हारी मदद करने के लिए मालिक जरूर आयगा।* अंतर में धीरे–धीरे चलते चलो, जब सब कर्म समाप्त हो जांयगे, तब कुछ करने धरने की जरूरत नहीं रहेगी।

निष्काम कर्म योग

सन्यास का रास्ता अमावस्या का रास्ता है। सन्यास में सब कुछ त्याग देना पड़ता है। दूसरा रास्ता पूर्णमासी का है। इस रास्ते में त्यागना नहीं पड़ता बल्कि ग्रहण करना होता है और वह भी निष्कामभाव से। कर्म को त्यागना मूर्खता है। योग की सीढ़ी पर चढ़ने वाला भक्त भी कर्म करता है और जब वह कर्म करता हुआ कर्म में महब हो जाता है, तब वह आखिरी मंजिल पर पहुंच जाता है और शान्ति प्राप्त कर लेता है। **इस तरह एक योग तो चित्तवृत्तियों को हटाना है और दूसरा योग है अपने काम के अंदर मस्त हो जाना।** जब काम करने वाला यह सोच कर काम करता है कि वह जो कुछ भी कर रहा है, चाहे खाना खा रहा है, या खाना पका रहा है, पानी पी रहा है, आफिस जा रहा है, व्यवसाय कर रहा है, गाड़ी चला रहा है, सो रहा है, गाना गा रहा है या अन्य कोई भी कर्म कर रहा है वह सब मालिक के लिये ही कर रहा है, मालिक को प्रसन्न करने के लिये ही कर रहा है, तो यह भी योग ही है, **इसे निष्काम कर्म योग कहते हैं और यह सब योगों से उत्तम कोटि का योग है।**

अगर तुम सिर्फ उस व्यक्ति से ही प्यार करते हो जो तुम्हें प्यार करता है तो तुम व्यापारी बन गये। क्या मालिक अच्छे या बुरे व्यक्ति को सूर्य की रोशनी बराबर नहीं देता? मुझे मेरे गुरू परमदयाल जी महाराज ने आज्ञा दी थी कि तुम राधास्वामी मत और सनातन धर्म एक हैं इस बात को अपने सतसंगों में बताना और मैं वही कर रहा हूं। *सतगुरू के अंदर दया तो निरंतर बहती रहती है लेकिन मिलती उसे ही है जो अपने आपको सतगुरू की दया का पात्र बनाता है, गुरूमुख बन कर गुरू की आज्ञा पर चलता है और पूर्ण शरणागत रहता है।*

मालिक कहता है कि जब मैंने तुम्हें इस जगत में अपने से अलग करके भेजा है तो मैं भी तुम्हारे लिये नीचे आता हूं। **मालिक ने स्वयं धारा को बहाया और स्वयं भी उसके अंदर आ गया।** उसका काल से भी प्रेम है क्योंकि काल भी उसी का है। यदि तुम्हारे अंदर परमतत्व के प्रति तपनकरारी है तो तुम धारा में नहीं बहोगे बल्कि स्वयं धारा बन आओगे अर्थात् राधा बन जाओगे। जब तक तुम राधा नहीं बनते तब तक तुम स्वामी की बैठक जो अद्भुति है उसकी शोभा नहीं देख सकते। **बैठक स्वामी अद्भुति राधा निरखन हार। और न कोई लख सके शोभा अगम अपार।।** जैसे तुम्हारे कर्म होंगे वैसे ही तुम्हारे मन, बुद्धि, आत्मा और सुरत बन जांयगे। इसको ऐसे भी कह सकते हैं

कि **जैसे तुम्हारे मन, बुद्धि, आत्मा और सुरत होगें वैसे ही तुम्हारे कर्म बन जायगे।**

परमततवधार मालिक सर्वज्ञ है और जीव अल्पज्ञ है। जीव का ज्ञान सीमित है जबकि मालिक का ज्ञान असीम है, पूर्ण है। जगत् परमतत्वाधार की कल्पना है, मालिक की धार है। उस मालिक ने विचार किया और जगत बन गया। तुम्हारे अंदर भी वही विचार की शक्ति है। तुम भी जैसा विचार करते हो वैसा ही हो जाता है। हम इस संसार में स्वयं ही आये हैं और इससे निर्वाण का कारण भी हम स्वयं ही बन सकते हैं। तुम्हारे अंदर संकल्प की जो शक्ति है, वह स्वतंत्रता है। तुम चाहो तो जगत के अंदर फंस जाओ और चाहो तो जगत् से बाहर निकल जाओ।

तुम्हारे अन्दर नाम की धारा है, उस धारा को पकड़ कर चलो। आपको सतगुरू ने इतना आसान और सरल तरीका बता दिया है, उस पर अमल करना तुम्हारा काम है। **इस जगत् में फंसने का कारण है हमारी वासना और हमारी इच्छा। जो काम हम स्वार्थ के लिये करते हैं, वह काम हमें बांधता है, फंसाता है।** ऐसी परिस्थिति में बेख्वाहिशी की ख्वाहिश ही एक ऐसा तरीका है जिससे हमारे बंधन कट सकते हैं। जैसे हाथों की मैल साफ करने के लिये जो साबुन लगाया जाता है और फिर पानी से धोया जाता है तो साबुन के साथ मैल भी धुल जाती है, वैसे ही **बेख्वाहिशी की ख्वाहिश से सभी वासनाओं एवं कामनाओं की आसक्ति मिट जाती हैं।**

ब्रह्माण्डी मन और ब्रह्माण्डी आत्मा

शिव या ब्रह्माण्डी आत्मा को सनातन धर्म में हिरण्यगर्भ कहते हैं। मानव शरीर में अवतरित उसी ब्रह्माण्डी आत्मा के कारण प्रकाशपुन्ज प्रकट होता है। इसलिए समाधि ध्यान में गुरू का रूप प्रकाश में बदल जाता है। इस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनों तत्वों को गुरू में मौजूद समझना चाहिए। ब्रह्माण्डी मन विष्णु है जिसे सनातन धर्म में अव्याकृत कहते हैं। ब्रह्माण्डी मन ब्रह्माण्डी आत्मा जो प्रकाशमय हैं पर आधारित रहता है। ब्रह्माण्डी मन सूक्ष्म शक्ति के रूप में काम करता है और ब्रह्माण्डी आत्मा कारण रूप में काम करती है। ब्रह्मा इस जगत् का स्थूल रूप है जिसके पीछे सूक्ष्म शक्ति ब्रह्माण्डी मन है।

सतसंगी लगातार सतगुरू के शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक रूपों का ध्यान करता हुआ उसके प्रेम में ओत–प्रोत होकर गुरू जैसा ही बन जाता है। ऐसा होने पर उसे हर जगह गुरू की उपस्थिति महसूस होने लगती है और इस प्रकार उसकी 'मैं' समाप्त हो जाती है। वह धारा में न बहकर उलटा होकर राधा बन जाता है। *इस अवस्था में पहुंच कर उसके संचित कर्म समाप्त हो जाते हैं और नये कर्मों का निर्माण नहीं होता अर्थात् नये कर्म उसके बंधन का कारण नहीं बनते। उस समय ऐसे गुरूमुख को केवल प्रारब्ध कर्मों का भोगना शेष रहता है और ये कर्म भी गुरू के परा– प्रेम के कारण इतनी आसानी से कट जाते हैं कि साधक को सुख–दुख का अनुभव ही नहीं होता और वह जीवन–मुक्त अवस्था में रहने लगता है।*

दूसरों के दोष मत देखो। **तुम मनुष्य को उसके दोषों से नहीं जान सकते। उसके अवगुण या दोष, उसके चरित्र को नहीं दर्शाते।** *याद रखो बुरे लोग संसार भर में सदा एक जैसे होते हैं, विविधता तो केवल भले, पवित्र तथा शक्तिशाली व्यक्तियों में ही मिलती है।* अपने इष्ट के प्रति मानव प्रेम की पांच अवस्थायें होती हैः–

1. निम्नतम या साधारण प्रेम– यह शान्त प्रेम होता है। इसमें हम रक्षा, भोजन आदि सभी आवश्यकताओं के लिए अपने पिता की ओर देखते हैं।
2. सेवा भाव– इसमें मनुष्य ईश्वर की सेवा अपने स्वामी की भांति करता है। इसमें वह सेवा में इतना लीन हो जाता है कि वह यह भी भूल जाता है कि स्वामी भला है या बुरा है।
3. मित्र का प्रेम– इसमें मनुष्य ईश्वर को सखा मानकर प्रेम करता है।
4. मातृवत प्रेम– इसमें ईश्वर को शिशु समझा जाता है।
5. पति और पत्नि का प्रेम– इसमें प्रेम केवल प्रेम के लिए ही होता है। इसे रति कहते हैं। इसमें किसी को किसी से कुछ भी लेना नहीं

होता। बस! दो आत्माओं का मिलन ही इस प्रेम का आधार होता है। लिंगत्व शरीरों को भिन्न करता है। भौतिक भावना जितनी कम होगी, प्रेम उतना ही पूर्ण होगा और अंत में सब भावनाएं समाप्त हो जांयगी और दो आत्माएं एक हो जांयगी।

आत्मा का स्वरूप

जो चीज सूक्ष्म रूप में होती है उसे निर्गुण कहते हैं और जो स्थूल रूप में होती है उसे सगुण कहते हैं। निर्गुण से सगुण निकलता है और सगुण निर्गुण में विलीन हो जाता है। आपके अंदर जो आपकी आत्मा है, उसके अंदर ही परमतत्व रहता है या इसे यों समझ लो कि आपके अंदर दो आत्मा रहती हैं– एक आत्मा और दूसरी परमात्मा। जब आपकी आत्मा परमात्मा से मिल जाती है तो उस हालत का नाम राधास्वामी हालत है। कुछ लोग इस हालत को जीवनमुक्ति की हालत भी कहते हैं।

आप संसार की हर वस्तु पर संदेह कर सकते हो पर तुम अपने आप पर संदेह नहीं कर सकते। अर्थात् आप यह नहीं कह सकते कि 'मैं' नहीं हूं क्योंकि यदि आप नहीं हैं तो फिर संदेह कौन कर रहा है। आपकी यह 'मैं' ही आत्मा है, जिस पर संदेह नहीं किया जा सकता। आपकी यह असली 'मैं' तो छुपी रहती है या भूली हुई रहती है और शरीर की 'मैं' तथा मन की 'मैं' प्रकट होकर भ्रम पैदा करती रहती हैं।

बाहरी गुरू तुम्हें यह बताने के लिए अवतरित हुआ है कि तुम्हारे अंदर भी परमतत्व बैठा हुआ है जिसे तुम भूले हुये हो। ढूंढ़ना तुम्हें है, याद तुम्हें करना है, गुरू तो सिर्फ रास्ता बताता है और तुम्हें चिताता है। मालिक का असली स्वरूप क्या है? मालिक का असली स्वरूप है प्रेम। प्रेम से ही यह सारा जगत् ठहरा हुआ है। प्रेम के कारण ही हम उससे बिछुड़े हुये हैं और जब तक हम उससे नहीं मिलेंगे तब तक हमें शान्ति नहीं मिल सकती। **सतगुरू हमें अपने जैसा बना लेगा परंतु कब? जब हम उसे परमतत्व मानकर प्रेम करेंगे।**

गुरू के पैर क्यों छुये जाते हैं? गुरू के पैर इसलिए नहीं छुये जाते कि वह बड़ा है और आप छोटे हैं बल्कि इसलिए छुये जाते हैं कि तुम्हारे और मालिक के बीच में जो 'मैं' या अहंकार का पर्दा पड़ा हुआ है, वह हट जाय। तुम गुरू को या मालिक को क्या दे सकते हो? तुम्हारा गुरू इतना कमजोर नहीं है कि वह तुमसे कुछ लेने की इच्छा रखे और न ही वह तुम्हारे दान का मोहताज है बल्कि वह तो शहनशाहों का भी शहनशाह है। तुम गुरू को क्या दे सकते हो? अरे! तुम्हारे पास जो कुछ भी है वह सब तो उसी का दिया हुआ है। तुम्हारे दान देने से वह तुम्हारा ही उपकार करता है, उसका इसमें अपना कोई निहित स्वार्थ नहीं होता है। आम आदमी गुरू के व्यवहार को देखकर धोखा खा जाते हैं। अरे! सतगुरू जो कर्म करता है, वह आम आदमियों की तरह तो करता है परंतु किसी गरज या स्वार्थ से नहीं करता, बल्कि दर्दे दिल से करता है और दया भाव से अविभूत होकर करता है, दूसरों के कर्म काटने के लिए करता है। इसलिए उसके द्वारा किये गये कर्म उसका कर्म बंधन में नहीं बांधते। वह आजाद आया है, आजाद रहता है और आजाद ही परमधाम को वापस चला जाता है। भक्त की जरा सी चूक से रास्ता कठिन हो जाता है और रूकावटें भी आने लगती हैं।

वैज्ञानिक एटम बम बनाता है। एटम आत्मा से निकलता है। आत्मा का बम प्रेम का बम है। प्रेम का बम जब फटेगा तब आनंद ही आनंद होगा, परमानंद होगा। *तुम्हारे अंदर हीन भावना नहीं आनी चाहिए कि मैं पापी हूं। यह नकारात्मक विचार ही तुमको गिरा देगा। जब तुम तो सर्वाधार से प्रेम करते हो तो तुम्हें दुनिया की परवाह नहीं करनी चाहिए।* तुम पूर्ण हो क्योंकि तुम पूर्ण से निकले हो, तुम सबसे ऊँचे हो, *तुम पवित्र हो, तुममें कोई दोष नहीं है क्योंकि तुम निर्मल से प्यार करते हो। इस बात का आपको अंतस में एहसास होना चाहिए, जब ऐसा होगा तो आपके अंदर दोष नहीं रहेगा।*

मालिक से प्रेम

जब तुम मालिक से प्यार करते हो तो उसके वारिस बन जाते हो। उस समय तुम अपने पिता की सम्पत्ति लुटा सकते हो। कह दो कि ऐसा हो जायगा। अगर नहीं होता तो या तो तुम्हारे विश्वास में कमी है या दूसरे व्यक्ति के विश्वास में कमी है–गुरू में कमी नहीं है।

सबसे बुरी चीज है लालच। लालच हमें मालिक से मिलने नहीं देता। यह लालच तब जायगा जब आपको अपनी पूर्णता का एहसास हो जायगा। सच्चा फकीर जब भी किसी को कोई आशिर्वाद देता है तो कुदरत को उसे पूरा करना ही पड़ता है क्योंकि उसने बिना लालच के और निस्वार्थ भाव से आशिर्वाद दिया होता है।

एक बार की बात है कि नारद मुनि घूमते–घूमते एक नगर में पहुंचे तो वहां के राजा ने उनका बहुत आदर सत्कार किया। नारद मुनि ने प्रसन्न होकर कहा कि राजन हम तुम्हारी सेवा से बहुत खुश हैं मांगो क्या मांगते हो? राजा ने कहा महाराज यों तो मेरे पास सब कुछ है मगर कोई संतान नहीं है, बस इसी बात का दुख सताता रहता है। मैंने बहुत यज्ञ, दान, तप और तीर्थ–व्रत भी कर लिये मगर कुछ नहीं हुआ। नारद मुनि ने कहा कि वह ब्रह्मा जी से सिफारिश करेंगे और आपको पुत्र प्राप्ति
करायेंगे। नारद जी ब्रह्मा जी के पास गये और सिफारिस की तो उन्होंने जवाब दिया कि बेटा उसके भाग्य में इस जन्म में पुत्र सुख है ही नहीं। नारद जी फिर विष्णु के पास गये उनसे भी सिफारिश की तो विष्णु जी ने कहा कि नारद यह विभाग तो ब्रह्मा जी का है, उन्हीं से कहो। नारद ने कहा कि उनसे तो मैं कह चुका उन्होंने तो मना कर दिया। इस बात पर विष्णु जी ने कहा तो फिर तो उस राजा के इस जन्म में संतान नहीं होगी। नारद ने यह सूचना उस राजा के पास भिजवा दी। कुछ समय बाद उस नगर में एक मस्त मलंग फकीर,आया और राजा ने उसकी भी सेवा की। फकीर ने कहा राजन तुम्हें क्या चाहिए। राजा ने सारी बात उस फकीर को बता दी और नारद, ब्रह्मा और विष्णु की बात भी बता दी। फकीर ने कहा राजन! नारद, ब्रह्मा और विष्णु की ऐसी–की–तैसी जा तेरे चार पुत्र होंगे। समय बीतने पर राजा के सचमुच चार बच्चे हुये। कुछ समय बाद जब नारद जी पुनः उस नगर में आये और देखा कि राजा के आंगन में चार बच्चे खेल रहे हैं तो उनके पूछने पर पता चला कि यह चमत्कार एक फकीर के आशिर्बाद से हुआ है। अब क्या था, नारद जी गुस्से में ब्रह्मा जी के पास गये तो ब्रह्मा जी ने कहा कि वह फकीर विष्णु का भक्त है तुम विष्णु से जाकर पूछो। नारद जी विष्णु जी के पास गये और कहा कि महाराज आप हमेशा मुझे नीचा दिखाते हो, हमेशा मेरा उपहास करते हो। मेरे कहने से आपने उस राजा को एक भी पुत्र नहीं दिया और उस फकीर के कहने से चार पुत्र दे दिये।

विष्णु भगवान ने कहा कि नारद बाद ऐसी है कि मैं भक्तों के वश में रहता हूं और भक्त की बात को पूरा करने के लिये कोई मर्यादा बाधा नहीं बनती। तुमने यदि उस राजा को आशिर्वाद दे दिया होता तो तुम्हारी बात रखने के लिये मुझे मजबूर होना पड़ता जैसे उस फकीर की बात रखने के लिए मजबूर होना पड़ा। लेकिन तुम्हारे विश्वास में कमी थी इसीलिए तुमने कहा था कि मैं सिफारिश करूंगा और तुमने सिफारिश भी की परंतु सिफारिश तुम्हारे विश्वास को नहीं बढ़ाती, उल्टा तुम्हें कमजारे बनाती है।

मालिक के दरबार में कमी काहू की नाहिं।
बंदा मौज न पावहीं चूक चाकरी मांहिं।।

अगर तुम मालिक से मिलना चाहते हो तो हर वक्त यह सोचो कि मैं मालिक से या गुरू से दूर क्यों हूं? उसकी गंगा तो बह रही है जितना चाहो अमृत ले लो और पीकर अमर हो जाओ। तुम सोचते हो कि तुम गुरू की सेवा कर रहे हो, अरे! तुम गुरू की क्या सेवा कर सकते हो? **गुरू तो हरदम तुम्हारी सेवा कर रहा है क्योंकि वह तुमसे प्यार करता है।** अगर तुम खाली हो, दीन–हीन हो, उसकी दया–मेहर लेने के इच्छुक हो तो जैसे सुराही खाली पैमाने को भरने के लिए आती है वैसे ही मालिक भी तुम्हें भरने के लिए तुम्हारे पास नंगे पांव दौड़ा चला आयगा। उसकी दया–दृष्टि हमेशा जरूरतमंद पर जरूर पड़ती है।

सबकी साकी पे नजर हो यह तो जरूरी है।
सब पे साकी की नजर हो जरूरी तो नहीं।।

जब कभी तुम्हें दुख आता है तो उसके पीछै सुख छिपा रहता है और इसी तरह सुख के पीछे भी दुख छिपा रहता है; यह राज की बात है। **गुरू जो तुम पर बंधन लगाता है, वह तुम्हें ऊपर उठाने के लिये लगाये जाते हैं।** तुम पूर्ण विश्वास के साथ अपने दुख और अपनी चिन्ता गुरू को सौंपकर उसकी शरणागत हो जाओ, वह अपनी जान पर खेलकर भी शरणागत की लाज रखेगा। <u>*सतगुरू वह है जो आपको*</u>

सतसंग में बार–बार सुना–सुना कर, बता–बता कर आपके अंदर एक दिन ऐसा झकोला देता है कि आप सुमिरन–ध्यान करते–करते यह कह उठते हो कि ओह! यह बात इतनी सरल थी और अब तक समझ में नहीं आ रही थी, अब समझ में आ गई है। उसके बाद पूर्णता रूपी ज्योति की चमक आपके अंदर जाग उठेगी और आपके जीवन में समता आ जायगी।

सृष्टि का रूप

हमारी पृथ्वी का जो प्राणमय कोष है उसमे अनेक प्रकार की गैसें हैं। इन गैसों के कारण हमें आकाश नीला दिखाई देता है वैसे यह आकाश काला है। हमारे वेद शास्त्र भी हमें यही बताते हैं कि तारे काले आकाश के अंदर चमकते हैं। इस जगत का मिथ्यातत्व इसलिए सच दिखाई देता है क्योंकि इस जगत् के अंदर भी वही अविनाशी तत्व है जो तुम्हारे अंदर है। अर्थात् जगत् को देखने वाला ही सत्य है बाकी सब मिथ्या है। दूसरे शब्दों में तुम्हारे अंदर और जगत् के अंदर केवल एक ही तत्व सत्य है और वह अविनाशी तत्व है बाकी सब का सब मिथ्या है। इस दृष्टिकोण से 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या' का कथन उचित है।

जब आपका मन स्थिर होगा तो आप एकाग्र भी हो सकोगे। एकाग्र होने से तुम्हारे अंदर उसका भाव आ जायगा जिसका तुम ध्यान कर रहे हो। मालिक ने अपने आपको दो भागों में बांटा हुआ है– 1) सुरत के रूप में और 2) शब्द के रूप में और इन दो रूपों में वह मनुष्य के अंदर प्रवेश कर गया। **जो अपने शरीर को कष्ट देता है वह अंदर बैठे हुये ईश्वर को दुख देता है।** प्रेम में कोई कठिनाई नहीं आती है, हां! नफरत में कठिनाई अवश्य आती है। आप जिससे नफरत करते हो उसकी हर चीज आपको बुरी दिखाई देती है, इससे तुम्हारा मन बुरा हो जाता है और मन के बुरा होने पर अनेक कठिनाईयां आती हैं। नफरत के कारण ही हमें दूसरों के दोष दिखाई देने लगते हैं।

गुरू का स्वरूप

गुरू की संगत से हमें क्या मिलता है? गुरू की संगत से हमें गुरू–ज्ञान मिलता है, सतज्ञान मिलता है, गुरू की रेड़ियेशन्स मिलती हैं। लेकिन किनको? उनको मिलती हैं जो गुरू की आज्ञा के मुताबिक अपना जीवन व्यतीत करते हैं उनको लाभ होता है, उनका जीवन सुधर जाता है। जीवन सुधरने का मतलब यह है कि ऐसे व्यक्ति के अंदर अच्छी धार बहने लगती है अर्थात् वह धारा से उलट कर राधा बन जाता है।

चूंकि साधारण धारा हमें जग में फंसाती है और अच्छी धार अर्थात् राधा हमें इस जगत् से छुटकारा दिलाती है। एक गुरू तो परमतत्व है जो सबके अंदर सूक्ष्मरूप में स्थित रहता है, आपके अंदर भी स्थित है और दूसरा गुरू इस सारे जगत में स्थूल रूप में फैला हुआ है, तीसरा गुरू वह है जो मानव चोले में तुम्हें चिताने के लिये आया हुआ है। लेकिन हम अपने अहंकार के कारण अपनी 'मैं' के कारण उसे समझ नहीं पाते। इस 'मैं' ने ही सत्यानाश किया हुआ है। *यदि ज्ञानी यह समझ भी जाता है कि हर एक के अंदर मालिक मौजूद है तो भी जब तक उसका ज्ञान प्रेम में नहीं बदलता तब तक वह पूरा नहीं होता, गिरता रहता है।* दूसरी ओर भक्त का पूरा जीवन ही ज्ञानमय होता है, आनंदमय होता है, इसलिये वह ऊँचा उठ जाता है। प्रेमीभक्त ज्ञानीभक्त से पहले पहुंचता है। ज्ञानी कोई बिरला ही पहुंचता है जबकि प्रेमी भक्त सभी मालिक के पास पहुंच जाते हैं।

यूं तो हर जीव अनामी धाम से ही आया है लेकिन वह अपनी मौज से नहीं आया है। उसके अंदर मौज अचेतन रूप से काम कर रही होती है। इसलिए वह आवागमन के चक्र में पड़ा रहता है। उसका अचेतनपना तभी चेतन्य होता है जब वह किसी चेतन्य गुरू के सम्पर्क में आता है। उसके बाद उसका कोई भी कर्म न शारीरिक, न मानसिक और न ही आत्मिक उसकी सुरत के साथ चिपकता है। वह जो भी कर्म करता है गुरू को हाजिर–नाजिर मानकर करता है इसलिए वह कर्म बंधन में बांधने का नहीं अपितु बंधन काटने का कारण बन जाता है।

कर्म का सिद्धांत

कोई भी कर्म बिना कारण के नहीं होता क्योंकि यह जगत् कारण और कार्य का स्थान है। आप कोई भी कार्य करने से पहले अपने मन की सम्मति लो और उसी के अनुसार चलो। किसी की नकल करना बेकार है। यह कर्म के सिद्धांत की पहली सीढ़ी है। इसकी दूसरी सीढ़ी है अपनी योग्यता का अनुमान लगाकर कर्म करो। तीसरी सीढ़ी है कि अपने लक्ष्य को समझ कर उसे अपने मन में मजबूती से धारण करो।

चौथी महत्वपूर्ण बात यह है कि कर्म के साधनों और युक्तियों को सोच समझ कर अर्थात् अपने विवेक का प्रयोग करते हुये काम में लगाओ और पांचवी व अन्तिम सीढ़ी यह है कि रास्ते में जो सिद्धि–शक्ति या सफलता मिले उसकी ओर कम तवज्जह दो और अपने लक्ष्य की ओर निरंतर बढ़ते चलो, तुम अपने मकसद में जरूर कामयाब होगे, यह मेरा आशिर्वाद है।

मन पर काबू पायकर चल तू गुरू के धाम।
गुरू की दया अपार से पूरन हों सब काम।।

इस जगत् में हमारे आने का मकसद क्या है? हम सब इस जगत में उस मालिक को ढूंढ़ने आये हैं जिसके साथ हम जुड़े हुये थे। जब हम इस काल के जगत् में उस दयाल को पा लेते हैं तो वापस अपने निज धाम को लौट जाते हैं अन्यथा जन्म–जन्मान्तरों तक यह खोज चलती रहती है। यह शरीर, मन और आत्मा भी काल के दायरे में हैं और जब इनसे परे की अवस्था का अनुभव हो जाता है तो हमें दयाल देश में प्रवेश मिल जाता है। उसने आपको काल की सीमा में रखा और प्रेम का अनुभव कराने के लिए यह सारी लीला रचाई है। वह स्वयं असीम है फिर भी उसने अपने आपको हर जीव के अंदर छुपा रखा है ताकि जो उससे मिलना चाहे, तुरंत मिल सके।

पहचान ले अपने को तो इंसान खुदा है।
जाहिर में गो खाक है, मगर खाक नहीं है।।
जलवों की खता क्या जो दिखाई नहीं देते।
खुद देखने वालों की नजर पाक नहीं है।।

सतसंग का प्रभाव

सतसंग सुनने से तुम्हारी आत्मा पवित्र होती है। सतसंग का यह स्वाभाविक प्रभाव है। जिस प्रकार टी0 बी0 के मरीज के पास बैठने से उसकी बीमारी के कीटाणु पास वाले में आ जाते हैं, उसी प्रकार प्रेम के भण्डार के पास बैठने से उसके प्रेम का प्रभाव आप पर भी पड़ेगा और आप भी प्रेम करने लगोगे। **जब एक सतगुरू चोला छोड़ देता है तो जिस सतगुरू को वह काम सौंपकर जाता है वह उसी के अंदर रहने लगता है क्योंकि गुरू न कभी जन्मता है और न मरता है। वह तो एक धार है जो बहती रहती है। गुरू तो ज्ञान है जो प्रवाहित होता रहता है।** जिससे प्रेम किया जाता है उसकी सारी बातें याद आती हैं। यदि तुमने गुरू से प्यार किया है तो प्रेम याद आयेगा, यदि उसके परमतत्व रूप से प्यार किया है तो वही रूप सामने आयेगा और तुम्हारा बेड़ा पार हो जायगा। गुरू तुम्हारे संस्कारों को बदल देता है। तुम्हारी जो धार दुनिया की तरफ बह रही होती है, वह मालिक की तरफ मुड़ जाती है।

बस राजेश! (एक सतसंगी की तरफ इशारा करते हुए) घबरा गया। तुझको मालिक पर विश्वास नहीं रहा क्या? मालिक जो भी करेगा, तुम्हारे लिए अच्छा ही करेगा। जब तक तू इस दुनिया के खेलों को सत्य मानता रहेगा तब तक बंधन में रहेगा। मैं तुझे इन बंधनों से छुड़ाने आया हूं।

मनुष्य कभी तो ईश्वरोन्मुख हो जाता है और कभी विषयभोग की तरफ भागता है। मनुष्य की बुद्धि उसके रास्ते में रूकावट ड़ालती है। इसलिए सतगुरू की आवश्यकता होती है क्योंकि सतगुरू की बुद्धि स्थिर होती है। सतगुरू पूर्ण होता है और आपको भव सागर से पार ले जा सकने में समर्थ होता है। *सतसंगी का प्रेम एवं उसका उसके गुरू के प्रति शरणागत होना गुरू के प्रति सेवा करना माना जाता है।* इस सेवा से उसे सतगुरू की वह दया मिलती है जो सतसंगी में राधास्वामी अवस्था को जाग्रत कर देती है। परंतु तुम गुरू के व्यवहार को देखकर उसे आप आदमियों जैसा मानने लगते हो, जिसके कारण तुम गिर जाते हो। *यदि तुम बहिर्मुखी हो और अंतर्मुखी होना चाहते हो तो पहले गुरूमुख बनने का प्रयास करो।*

जिनको दुनिया ईश्वर मानती है, उन्हें भी मनुष्य रूप में संसार में आना पड़ता है और गुरू धारण करना पड़ता है। इसलिए सतगुरू परमेश्वर से भी बड़ा होता है। गुरू को अपने शरीर, मन और आत्मा से कोई आसक्ति नहीं होती। **गुरू के शरीर में एक विशेष धार होती है, विशेष किरण होती है, जिसके कारण उसका शरीर कर्म करता हुआ भी दूषित नहीं होता। यदि सतसंगी गुरू के स्थूल शरीर से प्यार करके गुरू का रूप प्रकट करके अपने सांसारिक कार्य करा सकता है तो यदि वह गुरू को पूर्ण मानकर प्यार करेगा तो अवश्य ही पूर्ण में ही मिल जायगा, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।** इस सत्य को बताने से सतसंगी का विश्वास टूटता नहीं बल्कि और मजबूत होता है।

जब तक मनुष्य अपने आपको नहीं पहचानता, तब तक उसे उस मालिक की पहचान नहीं हो सकती जो उसका निज स्वरूप है। तुम जिससे मिलना चाहते हो पहले वैसा बनो। **देवं भूत्वा देवं भजेत** अर्थात् देवता बनकर देवता की पूजा करो। जब तक घर में प्रेम और शान्ति नहीं होगी, तब तक दिलों में भी शान्ति नहीं हो सकती। *जब तक तुम स्वयं मानवता के सिद्धांतों पर नहीं चलोगे, तब तक तुम्हें आध्यात्मिक मानवता की समझ नहीं आयेगी।* जब तक मनुष्य को आत्म ज्ञान नहीं होता, तब तक वह मनुष्य नहीं बनता, और तब तक उसे शान्ति भी नहीं मिल सकती।

मृत्यु बुरी चीज नहीं है। मृत्यु तो बंधनों से छुटकारा दिलाती है। **यदि मृत्यु के समय तुमको गुरू से मिला यह ज्ञान याद रहे कि यह संसार तुम्हारा नहीं है, इसकी कोई चीज तुम्हारी नहीं है तो तुम सीधे ऊपर जाओगे।** शब्द मालिक का पहला प्रकटरूप है। यही गुरू है। सुरत उसका दूसरा रूप है जिसे शिष्य कहते हैं। शब्द ही आकाशतत्व है जो सबको मिलाकर एक करने वाला है। **शब्द की महिमा समझनी है तो गुरू को समझो जो शब्द में रहता है।**

जो शब्द का अनुभव करके खुद शब्द बन गया फिर उसे अभ्यास करने की भी जरूरत नहीं रहती। शब्द में रहने वाला किसी से नफरत नहीं करता। ऐसे महापुरूष के मुख से निकला हुआ शब्द आपको ऊपर ले जायगा। यह शब्द का रंग है जो हर श्रोता पर असर करता है बशर्ते वह सतसंग में अदब से बैठकर और ध्यान से सतसंग सुनकर उस पर विचार करे और और अमल करे।

मालिक का स्वरूप

उपनिषदों के अनुसार उस परमतत्व में हिलोर आई या मौज आई और उसने अपने आपसे कहा, **"एकोऽहं बहुस्याम्"** अर्थात् मैं एक हूं अनेक हो जाऊँ। और वह इस प्रकार एक से अनेक रूपों में प्रकट हो गया। इस गुप्त शब्द के प्रकट होते ही राधा और स्वामी से दो धारायें निकलीं। जब प्रेम से प्रेरित होकर राधा धारा बन जाती है और मालिक की दया से शब्द में विलीन हो जाती है तो वह अपनी निज अवस्था में पहुंच जाती है।

यदि आपका प्रेम अगाध और सच्चा है तो मालिक को उसी रूप में प्रकट होना पड़ता है जिस रूप को तुम चाहते हो। गीता में श्री कृष्ण भगवान अर्जुन से कहते हैं– **यो यथां मां प्रपद्यन्ते तांसतथैव भजाम्यहम्।** अर्थात् जो जिस रूप में मूझे पूजता है मैं उसी रूप में उसकी संतुष्टि करता हूं। सतगुरू प्रकाश में रहता है, इसलिए उसके अंदर सभी देवताओं का वास रहता है। इस्लाम धर्म वाले **'ला इलाहा इल्लिलाह मौहम्मद रसूल इल्ललाह'** कह कर अपने इष्ट की वंदना करते हैं। मौहम्मद कौन है? मौहम्मद गुरू है और तुम गुरू के सहारे ही खुदा के पास पहुंच सकते हो। **'रहमान उल रहीम'** वह दयाल है, परम दयाल है। **'रब्बुल आलमीन'** वह ब्रह्माण्डों का खुदा है। **मौहम्मद साहब ने यह तो नहीं कहा 'रब्बुल मुसलमीन'।** जब वह सब ब्रह्माण्डों का खुदा है तब वह केवल मस्जिद में ही कैसे रह सकता है? मस्जिद कहां है? अरे! जहां पर जा नमाज (मुसल्ला) बिछाया वहीं पर मस्जिद है। मौहम्मद का मतलब है गुरू और गुरू हमेशा रहता है, वह कभी मरता नहीं।

सगुण का मतलब है कि उसे गुणों की सीमा में बांधना और अगुण का मतलब है कि हम उसे किसी सीमा में नहीं बांध सकते। अगर हमने उसे सीमा में बांध लिया तो वह सर्वाधार नहीं हो सकता। अरे! धारा या राधा भी तो उसी मालिक से निकली है और जब यह वापिस राधा बनकर चलेगी और स्वामी से मिल जायगी तभी

इसे शान्ति मिलेगी। पुरूष तो केवल एक ही है बाकी तो सब सहेली हैं, स्त्रियां हैं, राधा है। शिवसंकल्प का क्या अर्थ है? शिव संकल्प का अर्थ है कि हम मन, वचन और कर्म से शुद्ध रहें अर्थात् मन, वचन और कर्म से किसी को भी हानि नहीं पहुंचायें। अगर बच्चे की भलाई के लिये आप उसे पीटते भी हैं तो भी उसके प्रति कटु वचन मत बोलिए क्योंकि वाणी की हिंसा शारीरिक हिंसा से ज्यादा खतरनाक है। **यदि आपने अपराधी को तो लोक लाज के क्षमा कर दिया लेकिन मन के अंदर उसकी बात को नहीं भुलाया तो आप अपने आपको दुख दे रहे हैं।**

आशा और तृष्णा

आशा एक प्रकार की नदी है जिसमें मनोरथ रूपी जल रहता है और तृष्णा रूपी तरगें उठती हैं। मनुष्य इन्हीं तरंगों के बीच में हिचकोले खाता हुआ व्याकुल रहता है। इस नदी के चिन्ता रूपी दो किनारे हैं। इन किनारों पर बैठकर मनुष्य अपने कर्म और भाग्य के भरोसे रहकर हमेशा चिन्ताग्रस्त रहता है। चिन्ता तो चिता से भी ज्यादा खतरनाक है क्योंकि चिता तो मुरदे को ही जलाती है लेकिन चिन्ता तो जीवित मनुष्य को ही जला ड़ालती है। दाता दयाल जी महाराज एक शब्द में कहते हैं

'चिन्ता त्याग त्याग दे चिन्ता यही है सच्चा ज्ञान री मेरी सुरत सहेली।'

जब मैं कहता हूं कि आप सब लोग अपनी –अपनी चिंताएं मुझे दे दो और आप मालिक का चिंतन करो तो आप यह भी नहीं करते। आप बड़े कंजूस हो जो अपनी चिंता भी मुझे नहीं देते। शुद्ध मन वाले संत उस आशारूपी नदी के पार जाकर आनंद से रहते हैं। अतः आप भी गुरू की संगत करो, गुरू की संगत का मतलब है कि आप हर समय गुरू को अपने पास समझो, गुरू के ध्यान में मस्त रहो।

मानवीय जीवन

ऐ मानव! उस मालिक को कहां ढूंढते हो? मासूक तो मनुष्य के रूप में पहले से ही मौजूद है। मनुष्य असल में मनुष्य तब बनता है जब उसको अपनी असलियत का पता चल जाता है और उसका तार मालिक से बंध जाता है। *जब तार बंध जाता है तो पंछी जहाज से उड कर वापस अपने जहाज पर ही आ जाता है और तभी उसे शान्ति मिलती है।* आप अपने घर का रास्ता भूल गये हैं, आप तो अपना असली नाम भी भूल गये हैं और अपने असली माता– पिता का नाम भी भूले हुये हैं। आप पूर्ण हैं लेकिन अपने आपको पहचानते नहीं और अपने को नीच और कमजोर कहने के अभ्यस्त हो चुके हैं। *तुम्हारी पूर्णता को उभारने के लिये, तुम्हारा नाम, पता बताने के लिए गुरू तुम्हारी मदद कर सकता है।*

जब मैं सतसंग देता हूं तो ऐसा लगता है जैसे कोई लहर बह रही हो। यदि उस समय आप अपनी नहर को ढ़ीला छोड़ दें, मन के अहंकार को दूर कर दें तो लहर इतनी तेजी से आयगी कि आपकी नहर टूट जायगी और लहर ही लहर रह जायगी। यदि आपको एक क्षण के लिए भी यह लगे कि यह धारा आपके शरीर, मन और आत्मा को छू रही है तो समझ लो कि आप ऊपर पहुंच गये। *आप यह दृढ़ विश्वास करके चलो कि हमारे जीवन में जो कुछ भी हो रहा है, यह सब पूर्व जन्मों के कर्मों के कारण हो रहा है।* पूर्व जन्म के कर्मों का फल तो कर्म सिद्धांत का एक अंश है जिसको प्रारब्ध कहते हैं। अभी तो क्रियमाण कर्म और संचित कर्म बाकी हैं जो कर्म सिद्धांत के उतने ही महत्वपूर्ण अंग है जितना कि प्रारब्ध कर्म। एक कर्म होता है, दूसरा अकर्म होता है और तीसरा विकर्म होता है। एक कर्म हम शरीर से करते हैं, दूसरा वचन से और तीसरा मन से करते हैं। इन कर्मों का फल भी हमें अवश्य भोगना पड़ता है। जो कर्म हम एक जीवन में नहीं भोग सकते वे संचित होते रहते हैं और उन्हें भोगने के लिए हमें हजारों–लाखों जन्म लेने पड़ते हैं।

सतगुरू की संगत में रहने से और सतगुरू से ज्ञान प्राप्त होने के बाद संचित कर्म आसानी से कट जाते हैं और क्रियमाण कर्म लेखे में लिखे ही नहीं जाते परंतु प्रारब्ध कर्म तो सभी को भोगने पड़ते हैं क्योंकि यह शरीर हमें मिला ही प्रारब्ध कर्मों को भोगने के लिये है।

क्रियमाण कर्म वे होते हैं जिन्हें हम अपने संकल्प के द्वारा नित्य करते रहते हैं। इनको करना या न करना पूर्णतया मनुष्य के वश में है। ***अगर आपने गुरू की आज्ञा का पालन करते हुये कोई कर्म किया है तो वह कर्म बंधन का कारण नहीं बनेगा।*** आप पत्नि से,

बच्चों से, घर वालों से प्यार करो। प्यार करना पाप नहीं है, परंतु सच्चा प्यार करो, निस्वार्थ प्यार करो। प्यार को मोह में बदलने से रोको, तब आपका प्यार बंधंन का कारण नहीं बनेगा। मोह अंधा होता है, उसमें लालच होता है, लेकिन प्यार में त्याग होता है। बस! अपने प्रियतम प्यारे के लिये सब कुछ न्यौछावर करने की उमंग होती है। यदि किसी को सच्चा प्रेमी मिल जाय तो उसके चरणों की धूल अपने मस्तिष्क पर जरूर लगायें।

इंसान के अंदर ही शैतान और रहमान दोनों रहते हैं। **इंसान की आशावादिता रहमान है और निराशावादिता शैतान है। पाप का विचार ही इंसान को पापी बनाता है, पाप इंसान को पापी नहीं बनाता।** मालिक के और तुम्हारे बीच में कोई पर्दा नहीं है। तुमने स्वयं अपने अंदर 'मैं' का पर्दा लगा दिया है और अपने आपको पापी समझने लगे हो, जबकि तुम पूर्ण से निकले हो और पूर्ण ही हो।

इस संसार को आनंद से भोगो मगर त्याग भाव से अर्थात् इसमें फंसो मत। माना कि यह संसार माया है, परंतु माया भी अपने आपमें मुकम्मल नहीं है। प्रत्यक्ष में माया दिखती कुछ और है मगर उसके पीछे अविनाशी तत्व छिपा हुआ रहता है। उस अविनाशी तत्व का, उस सतपुरूष का केवल अनुभव किया जा सकता है, प्रत्यक्ष रूप में देखा नहीं जा सकता। जैसे सुख–दुख का केवल अनुभव किया जा सकता है, प्रत्यक्ष रूप में सुख–दुख को देखा नहीं जा सकता। जो चीज हमेशा रहती है, नित्य रहती है, उसे सत कहते हैं और जो कभी है और कभी नहीं है, उसे असत कहते हैं। अर्थात् जो अविनाशी है वही सत है और जो नाशवान है उसे असत कहते हैं।

वह मालिक निराकार इसलिए है क्योंकि उसे किसी आकार में बांधा नहीं जा सकता। लेकिन साकार रूप के बिना प्रेम नहीं किया जा सकता। कहते हैं कि संसार असार है लेकिन असार के अंदर भी तो सार छिपा हुआ है। इसलिए तुम उसे असार कैसे कह सकते हो। **अरे! परमतत्व तो संसार में भी है और असार में भी है।** जब तुम उसको कुछ नहीं मानते तो तुम्हारे काम बनने में देर लगेगी। नूर सिर्फ प्रकाश ही नहीं है, नूर वह ज्ञान है जिससे आप हर व्यक्ति के अंदर उसी मालिक की उपस्थिति को महसूस कर सकते हो।

अपरा और परा प्रकृति

भूत, भविष्य और वर्तमान के द्वारा सारा जगत् हमारे अंदर ऐसे गुंथा हुआ है जैसे कि धागे के अंदर माला के मनके पिराये हुये होते हैं। वह धागा है मालिक जो सबके अंदर मौजूद है, सबको बांधे हुये है। अगर
हमारे अंदर वह प्रेम जाग जाय जिस प्रेम के धागे से यह सारा संसार बंधा हुआ है तो हम सभी के अंदर मालिक को जानने और पहचानने की योग्यता आ जायगी। फिर कोई किसी से नफरत नहीं कर सकेगा। भक्त का मतलब ही यह है कि वह अविभक्त है अर्थात् सबसे जुड़ा हुआ है। जब आप मालिक से प्रेम करोगे तो आपको सबके अंदर वही मालिक दिखाई देने लगेगा।

जिधर देखता हूं उधर तू ही तू है,
कि हर शै में जलवा तेरा हूबहू है।
तेरी ही है रग रग में रेशा रवानी,
तू ही मैं में मैं है तू ही तू में तू है।।

'**भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनोबुद्धिरेवच**' ये आठ तत्वों वाली अपरा प्रकृति कहलाती है। यह आठों तत्व नाशवान हैं अतः अपरा प्रकृति नाशवान है। दूसरी प्रकृति परा प्रकृति है जो '**जीव भूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।**' यह आत्मिक जीवों की सृष्टि है जो हम हैं, इसका नाश नहीं होता। इसी के आधार पर यह सारा चलायमान जगत् चल रहा है।

पृथ्वी का गुण है गंध और इसकी इन्द्रिय है नाक, जल का गुण है रस और इसकी इन्द्रिय है जुबान, वायु का गुण है स्पर्श और इसकी इन्द्रिय है त्वचा। अग्नि का गुण है ज्योति और इसकी इन्द्रिय है आंख, आकाश का गुण है शब्द और इसकी इन्द्रिय है हमारे कान।

जब सुरत शरीर में लग जाती है तो अपने आपको शरीर मानने लग जाती है, इसलिए शरीर के दुख–सुख का अनुभव करने लगती है। सुरत मन में लग जाने से मन इसका केंद्र बन जाता है। पश्चिमी देशों के लोगों ने अपनी सुरत को भौतिक जगत् की खोज में इतना लगा दिया कि वे इसकी पराकाष्ठा पर पहुंच गये।

जिस प्रकार आपको सतगुरू से मिलकर खुशी होती है, उसी प्रकार सतगुरू को भी अपने सतसंगियों से मिलकर खुशी होती है। एक दृष्टि से देखा जाय तो सतगुरू स्वयं अपने अंशों को साथ लेकर आता है। **तुम गुरू से प्रेम नहीं करते वह तुमसे प्रेम कराता है और एक हो जाने के लिए कराता है।** कतरा समुद्र में मिलता है और स्वयं समुद्र बन जाता है। जो आपको दिखाई दे रहा है, वह तो मैं नहीं हूं, वह तो मेरी छाया है। मेरा असली रूप तो इस छाया के पीछे है जो इन चमड़े की आंखों से दिखाई नहीं दे सकता। अगर तुम मुझे परमतत्व मानकर प्यार करोगे तो सीधे ऊपर जाओगे।

गुरूमुख को जब गुरू की जात पर पूरा भरोसा हो जाता है तब वह कहता है– **'गुरू मिले फिर कहा कमाना।'** असलियत भी यही है कि जब किसी को गुरू के रूप का पता चल जाता है तो उसे कुछ करने– धरने की जरूरत नहीं रहती, उसके सब काम मौज से अपने आप होने लगते हैं। अगर गुरू कहे कि समाधि लगानी है तो लगाओ, अगर कहे नहीं लगानी तो मत लगाओ। यदि तुम प्रेममय हो तो तुम्हारा मन अपने आप टिक जायगा। सतगुरू का व्यवहार दुनियावी नहीं है और न ही उसका प्यार दुनियावी है। गुरू के दरबार में ईर्षा का सवाल ही पैदा नहीं होता। मनुष्य के मस्तिष्क में दो कोष्ट होते हैं–बांई तरफ का कोष्ट आम आदमी का कोष्ट होता है लेकिन दांई तरफ का कोष्ट केवल संतों का ही खुला होता है।

हमारी आत्मा का स्वरूप

जब हमारी सुरत परमतत्व से बिछुड़ी थी उस समय यह शुद्ध–बुद्ध थी। यह शब्द और प्रकाश के लोक से उतर कर आनंदमयकोष से होती हुई अहंकार के दर्जों से गुजरी और उस पर माया और अज्ञान के पर्दे चढ़ते गये। नीचे विज्ञानमयकोष में उसके अंदर सांसारिक मैं' पैदा हो गई, और नीचे मनोमयकोष से गुजरी तो दुख–सुख का आभास करने लगी। उससे नीचे आने पर प्राणमयकोष से गुजरी जिसे जीवन या जिंदगी कहते हैं, उसका अनुभव किया। फिर उससे भी नीचे उतरी तो अन्नमयकोष में आई जहां उसे भौतिक जगत् का स्थूल अनुभव हुआ। हमारी सुरत अनामी धाम से आई तो इसलिये थी कि उस मालिक ने जो यह इतना सुंदर व्यापक जगत् बनाया है उसका आनंद लेकर वापस निज धाम को लौट जाय **मगर वासनाओं के कारण वह अपने मूलरूप को और निज धाम को भूल गई और कर्मों के या काल के कुचक्र में फंस गई।**

राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा, मौहम्मद, गुरूनानक, कबीर, महावीर, फकीर या अन्य कोई पूर्ण रूप से परम सत्ता नहीं बन सका, ईश्वर नहीं बन सका,परंतु इन सभी के द्वारा ईश्वर अभिव्यक्त हुआ है, यह प्रमाणित है। आज विज्ञान इतनी तरक्की कर सका है क्योंकि भिन्न–भिन्न देशों के वैज्ञानिकों ने बिना किसी की निंदा किए, बिना किसी भेद–भाव के अपने अनुभवों की तुलना दूसरों से करते रहे हैं परंतु इसके विपरीत विभिन्न धर्म के तथाकथित ठेकेदार एक दूसरे धर्म की निंदा करते रहते हैं। इसलिए धार्मिक ज्ञान का पतन होता जा रहा है।

वेदांती लोग जब **'अहं ब्रह्मास्मि'** कहते हैं तो यह कहना उचित नहीं है क्योंकि हम ब्रह्म के बराबर नहीं हैं और न कभी भी हो सकते हैं। हां हम उसके अंश जरूर हैं। हम मालिक का अंश होकर कैसे कह सकते हैं कि मालिक का क्या मतलब है? मालिक आपके अंदर है फिर भी यदि आप उसे नहीं मानते तो आप कृतघ्न कहलाये जाने के योग्य हैं।

शरीर से जो श्रम करते हैं उसे परिश्रम कहते हैं और आत्मा से जो श्रम करते हैं उसे आश्रम कहते हैं। शरीर और मन आत्मा के चारों ओर परिक्रमा कर रहे हैं। इन्द्रियां सूक्ष्म हैं लेकिन इन्द्रियों से ज्यादा सूक्ष्म मन है और मन से भी ज्यादा सूक्ष्म बुद्धि है और बुद्धि से भी सूक्ष्म अहंकार है। आत्मा तो कारण शरीर है, जो इन सबसे ज्यादा सूक्ष्म है और केवल कारण मात्र है।

नाम दान का मतलब

जब आप गुरू की शरण में आ गये तो आप चिन्ताओं को छोड़ दो, लेकिन आपकी चिन्तायें तभी छूटेंगी जब आपको अपने गुरू पर पक्का भरोसा होगा। जब शिष्य सत्य की खोज करने जाता है तो खोज करते–करते वह स्वतंत्र हो जाता है और अपने आप में उसी

तरह विलीन हो जाता है जैसे एक नमक की डली जब पानी की खोज करने पानी में उतरती है तो वह उसी पानी में ही विलीन हो जाती है। यदि तुम्हारा मन दुख–सुख में विचलित नहीं होता, **तो समझो कि तुमको नाम– दान मिल गया अर्थात् नाम–दान का फल मिल गया।**

नाम दान तो एक साधन है, पंथ है, एक रास्ता है। जिनको तैरना नहीं आता वे तरह–तरह के साधन अपनाते हैं परंतु कुछ दिन अभ्यास करने के बाद वे इन साधनों को छोड़ देते हैं जो साधनों को नहीं छोड़ते उन्हें तैरना नहीं आता क्योंकि वह साधन में ही अटका रहता है, मंजिल पर नहीं पहुंच पाता। यह जरूरी नहीं कि हर साधक मंजिल के हर केन्द्र से गुजरे। जिन लोगों ने पिछले जन्म में अच्छी भक्ति की हुई होती है, उन्हें सब दर्जों से नहीं गुजरना पड़ता।

गुरू बेहतर जानता है कि किस शिष्य को किस प्रकार की शिक्षा या किस तरह का नाम दान देना है। वह सबको एक ही नाम नहीं देता अर्थात् एक ही शिक्षा नहीं देता। एक गुरू ने अपने एक शिष्य की प्रवृत्ति को देखते हुए उसकी उन्नति के लिए उससे कहाः–

1. छांवे आई ते छांवे जाई–अर्थात् काम पर प्रातः काल अति भोर में आना और शाम को संध्या काल के बाद लौटना।

2. अगर वैश्या के कोठे पर जाओ तो प्रातःकाल जाना– इसका अभिप्रायः यह था कि उस समय वह सजी संवरी नहीं होती अतः उसके प्रति आकर्षण भी नहीं होगा।

3. यदि जुआ खेलना हो तो सबसे बड़े जुआरी के साथ खेलना–यह इसलिए कहा क्योंकि सभी बड़े–बड़े जुआरी सब कुछ लुटा कर फटे हाल रहते हैं। उन्हें देखकर अपने आप होश ठिकाने आ जायंगे।

प्रेम का प्रभाव

प्रेम को बाज पक्षी कहा गया है अर्थात् जैसे जहां बाज पक्षी रहता है वहां अन्य पक्षी नहीं रहते, वैसे ही जहां सच्चा प्रेम प्रेम होता है वहां अन्य विकार जैसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, ईर्षा, द्वेष, आशा, तृष्णा आदि नहीं रह सकते। **प्रेम का रंग शब्द है और जब शब्द का रंग चढ़ जाता है तो बाकी सब रंग फीके पड़ जाते हैं।** पहले प्रेम करो फिर वैराग्य अपने आप हो जायगा। पहले अपने मन को मालिक में लगाओ, फिर तुम्हें दुनियां से अलगाव अपने आप ही हो जायगा।

जितने भी जगत के रिश्ते–नाते हैं इन्हें छोड़ना नहीं है क्योंकि ये तो पिछले जन्मों के संस्कारों के कारण बने हैं। हां, इन बंधनों में बंधना नहीं है क्योंकि ये अस्थाई संबंध हैं अर्थात् कुछ समय तक ही रहते हैं, फिर कुछ समय बाद चाहे वह कितना ही मजबूत रिश्ता हो टूट ही जाता है, वरना मृत्यु तो सब संबंधों को मिटा ही देती है। अतः इन संबंधों को निभाते हुए इनसे आजाद रहना है। ईश्वर को इन सब नातों का आधार मान कर ईश्वर से जुड़ जाना ही इस जीवन का मुख्य उद्देश्य है। अगर आपका मन मालिक में लगा हुआ है तो आप इन रिश्तों को निभाते हुये भी विचलित नहीं होंगे।

एक सच्चा प्रेमी हर दम अपने प्रियतम के लिए अपने अंदर यह भाव रखता है–"तू मेरा मैं तेरा", "तू मेरा मैं तेरा", "तू मेरा मैं तेरा" और एक दिन वह सच में मालिक से जुड़ जाता है। ***लोग कहते हैं कि उन्हें हर समय द्विविधा और मुसीबतें घेरे रहती हैं। यह सही है क्योंकि यह संसार सच और झूठ की मिलौनी है। अगर इसमें रहते हुए इससे आजाद रहना है तो मालिक से प्रेम करो।***

भाग्य माता जी (हूजूर मानव दयाल जी महाराज की धर्मपत्नि जिन्हें वे भी अन्य सतसंगियों की तरह माता जी ही कहकर संबोधित करते थे) का त्याग मेरे त्याग से बहुत ऊँचा है क्योंकि जिसको कोई मोह न हो और वह अपनी किसी वस्तु को छोड़ दे तो इसमें उसका त्याग तो है लेकिन उसके त्याग से हल्का है जिसे संसार की सभी वस्तुओं से मोह हो और वह संसार की उन सभी वस्तुओं का त्याग कर दे। मैं तो बचपन से ही उदासीन प्रकृति और प्रवृत्ति का था इसलिए अमेरिका का वैभव त्याग कर अपने गुरू की आज्ञा पालन करने के लिए मुझे कोई कष्ट का अनुभव नहीं हुआ, लेकिन माता जी को तो संसार की सभी वस्तुओं और खासकर अपने पुत्रों, पुत्र–वधुओं और पोते से अत्यधिक लगाव था, इसलिए उनके लिए उन्हें छोड़कर यहां मेरे साथ आने में जो त्याग करना पड़ा वह त्याग मेरे त्याग की तुलना में बहुत ज्यादा है।

26 मार्च 1993 को अपने छोटे बेटे प्रियदर्शी को दिल्ली विश्वविद्यालय में रीड़र के पद पर नियुक्त करा कर वह 28–29 की रात्री में अपनी ही भविष्यवाणी के अनुसार समाधिस्थ अवस्था में इस शरीर को छोड़ कर निज धाम चली गईं। उन्होंने संसार के सारे सुख यहां तक कि अपने बेटों से अलग रहकर भी मंदिर की सेवा की। यह उनका बहुत बड़ा तप और त्याग है, जिसकी कोई मिसाल नहीं मिल सकती।

सृष्टि की उत्पत्ति का रहस्य

कहते हैं कि जब बच्चे के अन्दर शक्ति या ऊर्जा ज्यादा हो जाती है तो वह उस ऊर्जा का उपयोग खेल खेलने में करता है क्योंकि खेल खेलना बच्चों का प्राकृतिक स्वभाव है। इसी प्रकार सृष्टि की रचना करना और करते रहना भी मालिक का स्वभाव है। हम उसी मालिक से निकल कर आये हैं या भेजे गये हैं। पता है! क्यों? इस सुंदर जगत् का तमाशा देखने के लिए–यह जगत् **'सत्यं शिव सुंदरम्'** है। लेकिन हम इस जगत् में आकर फंस गये, इसकी सुंदरता को देखकर अपने असली घर को वापस जाना भूल गये, अपनी पहचान भी भूल गये, अपने घर का पता भी भूल गये, अपने असली माता–पिता को भी भूल गये। कुछ को तो यह भी नहीं पता कि वह भूले हुए हैं या उन्हें कहीं और भी जाना है, वे तो बस इसी संसार को अपना सब कुछ समझे बैठे हैं। और जिनको वापस जाने की कभी–कभी याद आती भी है तो उनके ऊपर कर्मों का इतना बोझ बढ़ चुका है कि वे मजबूरन अपने असली घर नहीं जा पाते।

जिनको अपने प्रीतम से मिलने की तड़फ है उनके लिए मालिक प्रबंध कर देता है। ऐसे जीवों के लिए मालिक संतसतगुरू के रूप में स्वयं प्रकट हो कर आता है ताकि ऐसे जिज्ञासु उससे (सतगुरू से) प्रेम करके अपने निजधाम को जाने का रास्ता मालूम करके अपना काम बना लें।

मैं तो कहता हूं कि सतगुरू से कोई भी रिश्ता मान लो चाहे उससे शत्रुता का ही रिश्ता मान लो या उससे ईर्षा द्वेष का ही रिश्ता जोड़ लो तो भी आपका काम बन जायगा। वैसे ईर्षा भी प्रेम ही है क्योंकि ईर्षा करने वाला यह नहीं चाहता कि कोई दूसरा उसके प्रेमी को प्रेम करे। वह इसी कारण ईर्षा करता है कि दूसरा उसी चीज को चाहता है जिसे वह चाहता है। विज्ञान कहता है कि प्रत्येक परमाणु के अंदर एक क्रेन्द्र होता है जिसके चारों ओर इलैक्ट्रोन और प्रोटोन हर समय घूमते रहते हैं। ये इलैक्ट्रोन और प्रोटोन क्या हें? ये भी प्रेम और नफरत को दर्शाते हैं। बात वही है केवल तर्जेबयां अलग है।

जब परमतत्वाधार ने देखा कि मेरे अंश जगत् में आकर फंस गये तब वह स्वयं मनुष्य का चोला धारण करके इस जगत् में अपने अंशो को ढूंढ़ने के लिए संतो के रूप में आता है। **तुम उसे ढूंढ़ रहे हो और वह तुम्हें ढूंढ़ रहा है।** इस काम के लिए वह किसी कर्मचारी को इसलिए नहीं भेजता क्योंकि जो दर्द पिता हो होता है अपनी संतान के लिए वह कर्मचारी को महसूस नहीं हो सकता। **भाव–अनुभाव सब मनुष्य के चोले में ही होते हैं। देवताओं को भाव–अनुभाव नहीं होते, इसलिए देवता अपना काम निष्ठुरता से करते हैं।**

परमतत्व पहले भी परमतत्व ही था और जगत् में लीला करने के बाद भी वह परमतत्व ही रहा। केवल बीच की अवधि में वह नाशवान और परिवर्तनशील बना जैसे किसी नाटक में कोई पात्र थोड़े समय के लिए भिन्न भूमिका अदा करता है। गुरू की दया हर समय बहती रहती है और मुफ्त में मिलती रहती है लेकिन उनको मिलती है जो उससे प्रेम करते हैं। प्रेम का मतलब है जो उसके आदेशों पर चलते हैं, उसको पूर्ण मानते हैं। गुरू शिष्य को नहीं बनाता बल्कि शिष्य ही गुरू को गुरू बनाता है।

जब आप पूरी तरह से झुक जाते हो और आपका विश्वास पक्का हो जाता है तो मालिक आपको ऊपर उठा लेता है। इसको कहते हैं शरणागतम् की अवस्था। इस अवस्था में शिष्य मालिक ही बन जाता है। इसके लिए शिष्य को आदि, मध्य और अंत में गुरू के सतसंग की आवश्यकता होती है। यदि आप राधा से उलट कर धारा में बहोगे तो आपका सुधार हो जायगा और आप स्वामी से मिल जाओगे।

नाम और रूप

स्वामी जी महाराज ने एक जगह कहा है—**'सुरत शब्द दोऊ अनुभव रूपा, तू तो पड़ा भरम के कूपा।'** मैं कहता हूं कि रूप प्रकाश है और शब्द नाम है। नाम और रूप मालिक की दो अभिव्यक्तियां हैं। आप नाशवान या असत् चीजों की महिमा तो गा सकते हैं लेकिन इन सब चीजों का जो सार है, उसकी महिमा नहीं गाई जा सकती। **मालिक तो शांत है लेकिन मन चंचल है अतः इन दोनों का मेल कदापि नहीं होता।** इसलिए मन को शांत करने के लिए और इनका मिलाप कराने के लिए सतगुरू ही मार्ग दिखा सकता है, सतगुरू के मार्गदर्शन के बिना काम नहीं बनता। जिसको सतगुरू मिल गया उसको सब कुछ मिल गया। कबीर साहब कहते हैं—**सतगुरू मिले अब कहा कमाना। जब आपकी वृत्ति गुरू में ठहर जायगी तो आप दुनिया के काम करते हुए भी उनमें फंसोगे नहीं। फिर ऐसे कर्म बंधन का कारण नहीं बनते बल्कि उनसे बंधन काटते हैं।**

जो आदमी अपने को पूर्ण समझे बैठा है वह भी भूला हुआ है। अपूर्ण की कमी तो पूरी हो जायगी परंतु जो अहंकार से भरा हुआ है, उसका तो पतन निश्चित ही है। **इस जगत् के अंदर अपूर्णता तो है लेकिन जहां से यह जगत् निकला है वह तो पूर्ण है। बस! यही बात तो समझने की है।**

वेदान्त वेदों का अन्तिम ज्ञान है अर्थात् आत्मा का ज्ञान है। मनुष्य अपने आपे के ज्ञान से ही परमतत्व के साथ जुड़ सकता है। पांच कर्मेंद्रियां, पांच ज्ञानेद्रियां, पांच सूक्ष्म तत्व और पांच स्थूल तत्व तथा मन, बुद्धि, अहंकार और प्रकृति ये 24 प्रवृत्तियां हैं। जब पुरूष अपनी किरणें या रेडियेशन फेंकता है (दाता दयाल जी महाराज ने एक जगह लिखा है कि वह मालिक एक बहुत बड़ा हीरा है जिसमें से हर समय किरणें निकलती रहती हैं) तो प्रकृति चलती है और प्रकृति के चलने से जगत् बन जाता है। **हम भी जगत् का एक नमूना हैं। मनुष्य के अंदर प्रकृति भी है और पुरूष भी है। प्रकृति और पुरूष दोनों परमतत्व के अंश हैं।**

अपने गुरू को सब कुछ दे दो। जब सब कुछ उसे दे दोगे तो तुम्हारा दुनिया से कोई संबंध नहीं रहेगा। इससे तुम दुनिया का आनंद भी भोगोगे और मालिक को भी प्राप्त कर लोगे। जब तुम सद्गुरू से सच्चा प्रेम करने लगोगे तो तुम्हारा काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार, ईर्षा, द्वेष आदि सभी अवगुण धीरे—धीरे दूर होने लगेगें। इस जगत के अंदर हम सभी यह चाहते हैं कि हमें सुख मिले परंतु हम यह भूल जाते हैं कि सांसारिक वस्तुएं जिनसे हम सुख की आशा करते हैं वे तो नष्ट होने वाली हैं अतः उनके प्राप्त करने में भी कष्ट होता है, जब तक वे हमारे पास रहती हैं तब भी कष्ट का कारण होती हैं और जब नष्ट हो जाती हैं तो अत्यंत दुख का कारण बनती हैं। **इसलिए हमें उस चीज से प्यार करना चाहिए जो अविनाशी है और वह है चेतनघन परमतत्व मालिके कुल जो सबके अंदर मौजूद है परंतु गुरू के अंदर परम जाग्रत अवस्था में है।**

परमतत्व का स्वरूप

तीन आदमी किसी संत के पास गये और बड़े आदर के साथ उनके चरणों में मत्था देककर बैठ गये। कुछ देर बाद उनमें से एक ने अपनी जिज्ञासा प्रकट की और उन संत से परमतत्व का रूप खुलकर बताने का निवेदन किया। यह सुनकर संत चुप रहे। कुछ देर बाद दूसरे जिज्ञासु ने भी वही प्रश्न दोहराया परंतु संत फिर भी चुप रहे। अबकी बार तीसरे ने वही प्रश्न दोहराया परंतु संत फिर भी कुछ नहीं बोले। थोड़ी देर बाद वे तीनों एक स्वर में बोले कि महाराज हम मालिक के स्वरूप के बारे में जानना चाहते हैं। तब उस संत ने कहा कि मैं तीन बार मौन रहकर तुम्हें उस मालिक के बारे में बताने की कोशिश की है परंतु तुम कुछ समझे ही नहीं। अर्थात् उस मालिक के स्वरूप के बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह मन, बाणी और बुद्धि की सीमा से परे है—**इनकी सीमा है और वह असीम है अतः असीम का वर्णन उस माध्यम से कभी भी नही किया जा सकता जिसकी सीमा है।**

यदि तुम परमतत्व को जानना चाहते हो तो तुम्हें उससे प्रेम करना होगा और उससे तुम प्रेम कैसे कर सकते हो जबकि उसका न कोई रूप है, न रंग है, न उसका कोई पता है, हांलांकि सभी नाम, रूप और गुण जो भी दृष्टि में आते हैं उसी के हैं। यह भी सच है कि

तुम सारी दुनिया से प्रेम नहीं कर सकते। इसलिए प्रकृति ने जिन्हें तुम्हारे पास भेजा है या तुम जिनके पास हो उन सबसे प्रेम करो। वैसे **जब तुम मालिक के स्वरूप सतगुरू से प्रेम करते हो तो मालिक से ही प्रेम करते हो।** इस प्रकार परमतत्व से प्रेम करते–करते तुम्हें दुनिया को भूल जाओगे। यदि तुम उसके बारे में और कुछ जानना चाहते हो तो तुम्हें स्वयं अनुभव करना होगा, दूसरों के बताने या दूसरों के अनुभव सुनने से तुम्हारा काम नहीं बनेगा।

सतगुरू इस जगत में जीवों को चिताने और निज घर जाने का रास्ता बताने आता है। सतगुरू के बताये हुये रास्ते पर चलना या न चलना सतसंगी के अपने हाथ में है और यह कर्म उसका नया कर्म बन जाता है। सतसंग में आना तो उसका प्रारब्ध कर्म है, परंतु सतसंग में बताये हुये असूलों पर चलना या न चलना उसका नया कर्म होता है। सतसंग में आकर सतसंगी के संस्कार बदल जाते हैं। मालिक अनादि और अनंत है, उसे बुद्धि या बाणी से नहीं पाया जा सकता और न ही मन उस तक पहुंच सकता है। दाता दयाल जी कहते हैं–

'मन वाणी की गम नहीं तुझ तक, अगम अथाह अपारा है।
अलख अगम अव्यक्त अनुपम, अगुण सगुण से न्यारा है।। '

हमारे अंदर ही कोई ऐसा तत्व है जो यह बताता है कि मालिक मन, बाणी और बुद्धि से परे है। हमारे ज्ञानेन्द्रियों से परे भी कोई तत्व है जिसके द्वारा हम अपने इष्ट का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। वह इन्द्रियातीत तत्व है हमारा मन। जानवरों की ज्ञानेन्द्रियां मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियों से अधिक शक्तिशाली होती हैं या यूं समझलो कि मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियों की वह शक्ति जिससे किसी भी होने वाली घटना का पूर्वाभास जानवरों को हो जाता है, मनुष्य की अनन्त वासनाओं के कारण नष्ट हो गयी है।

मन से परे आत्मा आत्मा होती है और परम तत्व तो आत्मा से भी परे है। उस तत्व को संत सुरत कहते हैं जो हमारा निज स्वरूप है परंतु उसका अनुभव तब तक नहीं होता जब तक कि साधक शब्द में विलीन नहीं हो जाता। शब्द में विलीन होने पर एक अवस्था पैदा होती है जिसे चौथापद कहते हैं। इसे ही राधास्वामी अवस्था भी कहते हैं। इसे प्राप्त करने के बाद कुछ और करना बाकी नहीं रह जाता।

सतसंग की महिमा

सतगुरू की संगत में बैठने से शठ भी सुधर जाते हैं। तुलसीदास जी कहते हैं' **'शठ सुधरहिं सतसंगति पाई।'** जो पहले से शुद्ध और पवित्र हैं वे तो सतसंगति पाकर और भी उच्च अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। संत अपने लिये समाधि ध्यान नहीं लगाते, वे तो इसलिए समाधि ध्यान लगाते हैं ताकि उनको लाभ पहुंच सके जो उनके पास किसी इच्छा या वासना को लेकर आते हैं। दूसरे उन लोगों की जो रेडियेशन संतों के पास छूट जाती है, उसका असर समाप्त हो जाय। संत के साथ या सतगुरू के साथ कोई भी रिस्ता जोड़ लो चाहे शत्रुता का ही जोड़ लो, वह तुम्हें ऊपर उठा लेगा। वह जानता है कि तुम भूले हुये हो और वह आता ही है भूले–भटकों को तारने के लिए। धोबी के घाट पर मैले–कुचैले कपड़े ही आते हैं साफ होने के लिए और वह उनको बड़े प्यार से साफ करता है।

यदि कोई गुरू की निन्दा करता है तो करने दो, तुम क्रोधित मत हो क्योंकि फकीर की जितनी निन्दा होती है वह उतना ही ऊँचा चढ़ता है। मालिक गिरने वाले को ही ऊपर खींचता है। **जब कोई पतित होता है तभी तो मालिक पतित पावन बनकर उसे उठाने आता है।** हमें उन दुष्ट लोगो को धन्यवाद देना चाहिए जिनके कारण भगवान अवतार लेकर पृथ्वी पर आते हैं। **गुरू आपकी परीक्षा लेता है, यदि आप उस परीक्षा में उत्तीर्ण हो गये तो वह आपको कभी नहीं छोड़ेगा।** गुरू यह देखना चाहता है कि आपकी लग्न सच्ची है या नहीं, विश्वास पूरा है या नहीं।

तुम उदास मत रहो यानी विषयों के दास मत बनो, मालिक के दास बनो। यदि तुम खुश रहोगे तो तुम्हारी आत्मा चमकेगी। **जब कभी उदासी आये तो अपने आपसे कहो कि जब अच्छे दिन नहीं रहे तो बुरे दिन भी नहीं रहेंगे। ऐसे समय में हमेशा कहते रहो–'गुरू तारेंगे हम जानी, तू सुरत काहे बौरानी।'** अधिकारी कौन है? अधिकारी वह है जो आशावादी है और प्रसन्नचित्त है। गुरू की शरणागत होने का अर्थ है, गुरू पर पूरा भरोसा करना और उस पर आश्रित रहना।

सतगुरू सतसंग में कई बार एक ही बात को बार–बार दुहराते हैं। इसका अभिप्रायः यह होता है सतसंगियों को कई बार इससे नई

प्रेरणा मिलती है क्योंकि सतसंगियों की मनःस्थिति भी हमेशा किसी विशेष विचार को ग्रहण करने की क्षमता नहीं रखती।

सत्य तो यह है कि भारत भूमि में जितने भी सम्प्रदाय या पंथ हैं वे सब एक ही मूल सनातन धर्म से निकले हैं। उनमें कभी भी भेद भाव नहीं रहा। हां कभी मुगलों ने और कभी अंग्रेंजो ने गलत प्रचार करके फूट ड़ालले की कोशिश जरूर की। एक बार 1981 में बैसाखी के सतसंग में **एक सतसंगी की शंका का निवारण करते हुये बाबा फकीर ने कहा था, "किसी को क्या पता कि ड़ा0 आई0 सी0 शर्मा मेरा गुरू है या मैं आई0 सी0 शर्मा का गुरू हूं।** कहते हैं कि बेटा बाप को बाप बनाता है और शिष्य गुरू को गुरू बनाता है। इसका तात्पर्य यह कि बाप की पदवी और गुरू की पदवी बेटे और शिष्य के कारण ही मिलती है। बाप बेटा नहीं बनाता और न ही गुरू शिष्य बनाता है। मेरे गुरूदेव बाबा फकीर सतसंगियों को अपना गुरू मानते थे और मैं भी आप सबको अपना गुरू मानता हूं।

स्वामी जी ने जो पंचम वेद की जो बात कही है वह पंचम वेद है उपनिषदों का ज्ञान। आपको मकान, जमीन–जायदाद और आपका कुटुम्ब परविार यह सब घोड़ा है और आप सवार हो। अगर आपको संसार की स्थूल वस्तुओं से आसक्ति है और आत्मा का ज्ञान नहीं है तो आप घोड़े सहित लुटे जा रहे हैं। इन वस्तुओं के चले जाने पर आप दुखी होंगे और रोंयेगे। परंतु अनासक्त व्यक्ति इनके चले जाने पर भी मालिक का शुक्रिया अदा करेगा और सभी परिस्थितियों में खुश रहेगा।

एक बार एक राजा अपने राज–काज, कर्मचारियों और पड़ौसी देश के राजाओं की शत्रुता आदि से परेशान होकर अपने गुरू जी के पास गया और उनसे इन समस्याओं का हल बताने का आग्रह किया। संत ने कहा कि राजन! अपना राज–काज अपने पुत्र को सौंपकर आप आराम का जीवन बीताएं। राजा बोला कि महाराज लड़का तो अभी बहुत छोटा है वह कैसे राज–काज का भार संभालेगा? तो संत ने कहा कि फिर किसी विश्वास पात्र और योग्य कर्मचारी को राज्य का कार्य–भार सौंप कर आप इस दायित्व से मुक्त हो जाइये। राजा ने कहा कि महाराज मेरे राज्य में ऐसा कोई भी योग्य, कुशल, निपुण और विश्वास पात्र कर्मचारी नहीं है जिसको इस दायित्व को सौंप कर मैं निश्चिंत हो सकूं। इस पर संत ने कहा कि यदि तुम वास्तव में इस राज्य के कार्य–भार से मुक्ति चाहते हो और मुझ पर आस्था और विश्वास रखते हो तो फिर तुम इस राज्य को मुझे दे दो। क्या तुम ऐसा कर सकते हो? राजा ने कहा कि हां महाराज! यह ठीक रहेगा और मैं आज और अभी से इस राज्य का कार्य–भार आपको सौंपता हूं। गुरू जी ने कहा ठीक है।

थोड़ी देर बाद राजा उठकर चलने को हुआ तो उन संत ने पूछा कि राजन अब कहां चले? राजा बोला कि महल जाता हूं। संत ने कहा कि वह तो मेरा हो चुका, आपने अभी तो अपना सब कुछ मुझे दे दिया और इसमें महल भी आ गया। अब राजा सोच में पड़ गया। कुछ देर बाद राजा फिर उठ कर चलने लगा तो संत ने पूछा अब कहां जा रहे हो? राजा ने कहा कि किसी अन्य राज्य में कुछ काम करूंगा, पेट तो पालना ही है–अपना और अपने परिवार का। संत ने कहा कि जिन राज्यों से आपकी शत्रुता है क्या उन राजाओं के यहां नौकरी करोगे? राजा फिर सोच में पड़ गया। फिर संत ने कहा कि मेरी नौकरी क्यों नहीं कर लेते। मैं तुम्हें मान–सम्मान भी दूंगा और सब सुविधायें भी जिनको आप अब तक भोगते आ रहे हो। राजा ने कहा कि मुझे करना क्या होगा? उन संत ने कहा कि जो अब तक करते आ रहे हो।

अर्थात्! अर्थात् आप राज–काज का प्रबंध पूर्ववत करते रहो मेरे नौकर बनकर यानी कि नफा–नुकसार, लाभ–हानि सब मेरी, तुम सिर्फ अपनी योग्यता और लग्न से अपना काम किये जाओ, किसी भी बात की चिंता न करो, सब चिंताएं मेरी क्योंकि राज्य का मालिक तो मैं हूं, तुम तो सिर्फ मेरे नुमाइंदे हो। राजा समझदार था और समझदार को इशारा ही काफी होता है। इस घटना से राजा को ज्ञान हो गया। कुछ दिन बाद वही संत उस राजा के दरबार में पहुंचे और पूछा कि राजन! अब किसी प्रकार की कोई परेशानी या उलझन तो नहीं है। राजा ने अपने गुरू के चरणों में मस्तक झुका कर कहा कि महाराज अब मैं बहुत सुखी हूं। **इसी प्रकार यदि हम भी इस दुनियां में अपनी**

और अपने परिवार की, व्यवसाय की, या नौकरी आदि की चिन्ता अपने गुरू को सौंप कर उसके हाथ के खिलौने या दास बन जांय और उससे प्रेम करें तो हमें भी संसार की परेशानियां परेशान नहीं करेंगी। परेशानियां समाप्त नहीं होंगी, उस राजा की भी समाप्त नहीं हुईं थीं, लेकिन गुरू को अपने काम में साझीदार बना लेने के बाद परेशानियां, परेशानियां महसूस नहीं होंगी।

भक्ति क्यों की जाती है?

भक्ति करना गलत नहीं है, यह बहुत अच्छी चीज है। भक्ति से सारे पापों का नाश हो जाता है लेकिन यह जानना जरूरी है कि तुम्हारा भक्ति की तरफ आने का कारण क्या है? क्योंकि एक ही चीज एक आदमी के लिए अमृत होती है तो वही चीज दूसरे के लिए जहर भी हो सकती है। अगर किसी में काम, क्रोध, लोभ, मोह अहंकार आदि विकार हैं और वह अज्ञानी भक्ति की तरफ लग जाता है और वो भी बिना किसी मुर्शिद की देख–रेख में, तो उसके ये अवगुण और प्रचंड़ रूप धारण कर लेंगे। महाराज जी ने खुद मुझे कहा था कि तुम्हारा और तुम्हारी पत्नि का एक पलंग पर सोना हानिकारक नहीं है क्योंकि तू योगी है, लेकिन औरों के लिए यह वर्जित है।

मन और शरीर परस्पर जुड़ें हुये होते है, इन दोनों का संबंध बड़ा घनिष्ट है। शरीर का असर मन पर लाजमी पड़ता है। मांस और शराब से वासना और भड़कती है। इसलिए संतमत में साधकों को इनका सेवन न करने की हिदायत दी जाती है। हमारे मन में बड़ी ताकत है। इस मन को जिधर लगा दो, उधर ही वह सफलता की पराकाष्ठा पर पहुंच कर ही दम लेता है। **मन के जितने भी विकार है, उन्हें काबू करने के लिए प्रेम ही एक मात्र औषधि है।** बौद्धमत वाले कहते हैं कि ध्यान करते समय मन को बिलकुल खाली कर दो मगर ऐसा करने से कई अभ्यासी तो रोने लगते हैं और कुछ चिल्लाने लगते हैं क्योंकि उनका अचेतन मन खुल जाता है और वे बिना उद्देश्य के हो जाते हैं।

मन की शक्ति ऊपर भी उठा सकती है और नीचे भी गिरा सकती है। **मन की शुद्धि के लिए शिवसंकल्प जरूरी है।** सबसे पहले आप अपने घरों में शान्ति रखें ताकि आपका मन समाधि–ध्यान के लिए तैयार हो जाय। **ब्रह्मचर्य से शरीर और मन की पुष्टि होती है। शारीरिक ब्रह्मचर्य के मुकाबले मानसिक ब्रह्मचर्य की रक्षा करना ज्यादा जरूरी है क्योंकि मन की ताकत शरीर से ज्यादा होती है। जाग्रत में जो विचार तुम अपने मन में उठाते हो उसका बड़ा गहरा असर तुम्हारे शरीर पर पड़ता है। खासकर जब कोई व्यक्ति परमार्थ के मार्ग पर चल रहा होता है, उसके लिए तो गलत विचार बहुत ही घातक सिद्ध होते हैं।**

पाप कोई बाहर से नहीं आता, बल्कि पाप तब होता है जब आपका मन गंदा होता है। परमार्थ के रास्ते में निंदा करना या सुनना बहुत हानि पंहुचाता है। जब आप निस्वार्थ प्रेम करोगे तो आपका मन पवित्र हो जायगा। कुदरत का नियम है कि जो स्थान खाली होता है वह भर दिया जाता है। अगर तुम्हारे अंदर भक्ति के लिए स्थान खाली है तो उसकी पूर्ति जरूर होगी। जो सतसंग में खाली होकर बैठता है, वही भर दिया जाता है।

तुम अपने आदर्श को अपने मुताबिक अपने धरातल पर नीचे मत खींचो, बल्कि अपने आपको गुरू के मुताबिक ढ़ाल लो। यही है पराभक्ति का मतलब और यही संतमत की विशेषता है। लेकिन मन को शुद्ध किये बिना और आर्दश के प्रति प्रेम किये बिना कुछ काज नहीं सरता।

सच्चे स्वरूप का ज्ञान

सात्विक बुद्धि हमें मालिक का बोध करा देती है। यह ज्ञान बुद्धि ऐसा आइना है जिसमें दुतरफा अक्स पड़ता है। एक तरफ तो इसमें संसार का रूप दिखाई देता है, और दूसरी तरफ आत्मिक जगत् अर्थात् अलग, अगम और अनामी दयाल का दर्शन होता है। जिस पहलू की ओर आपकी दृष्टि होगी वैसा ही अनुभव, बोधमान आपका होगा। इस बुद्धि को प्रज्ञा कहते हैं। यह प्रज्ञा सतगुरू से प्राप्त होती है। जो लोग केवल अपनी ही बुद्धि पर भरोसा करते हैं, वो भवसागर में डूब जाते हैं। जिनका मन और हृदय शुद्ध होता है और प्रेममय

होता है उनको ही पराप्रेम की अवस्था प्राप्त होती है जो उन्हें भवसागर से पार लगाती है। यह अवस्था सतगुरू के शराणागत होने के बाद ही प्राप्त होती है।

यदि आपको अपने सच्चे स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना है तो आपको हर प्रकार की आशाएं, कामनाएं, चिन्ताएं और संकल्प–विकल्प को छोड़कर और सभी स्थूल पदार्थों से आसक्ति हटाकर अपने अंतर में अपने इष्ट से प्रेम की लग्न लगानी होगी और उस तत्व की खोज करनी होगी जो प्रकाश को देखती है और शब्द को सुनती है। यदि तुम्हारे अंदर रंचमात्र भी संकोच है या द्विविधा है तो तुम सच्चा प्रेम नहीं कर सकते। संकोच हमेशा कपटी के दिल में होता है। कपटी ह्रदय वाला मनुष्य कभी भी प्रेम के पंथ पर नहीं चल सकता। भूल करना पाप नहीं है, परंतु उस भूल को न सुधारना पाप है।

अगर तुम्हारे दिल में मालिक से मिलने की चाह है तो आज और अभी फैसला कर लो और सतगुरू की शरण में आ जाओ, बाकी सारा काम अपने आप हो जायगा। पूर्ण प्रेम केवल मानव चोले में ही किया जा सकता है। देवता भी पूर्ण प्रेम से वंचित रहते हैं क्योंकि उन्हें मानव चोला नसीब नहीं होता। दूसरी बात यह है कि सतगुरू धारण किये बगैर पूर्ण प्रेम की अवस्था नहीं आती और देवता गुरू धारण कर नहीं सकते। पूर्ण प्रेम में तन, मन, और आत्मा का भेद मिटाकर केवल एकरसता रह जाती है। दुमर्ति क्या है? दुमर्ति यह है कि सबके अंदर परमतत्व विराजमान है, फिर भी हम परमतत्व को न देखकर दूसरों के अंदर शत्रु, मित्र, भाई, बहन, या अन्य रिश्ते देखना शुरू कर देते हैं। बस यही दुमर्ति है।

अदम से जानिबे हस्ती, तलाशे यार में आये।
हवाये गुल से हम, इस वादिये पुरखार में आये।।

तुम्हारा असली स्वरूप यह शरीर नहीं है, तुम मन भी नहीं हो हालांकि शरीर और मन तुम्हारे हैं, लंकिन तुम यह नहीं हो, तुम इनसे अलग कुछ और हो। जब तुम अपनी सुषुम्ना अर्थात् संकल्प शक्ति को मालिक के सुपुर्द कर दोगे तो तुम्हारा अच्छा या बुरा महसूस करना समाप्त हो जायगा। कबीर साहब का एक बहुंत ही सुंदर शब्द है जिसमें मनुष्य के रूप के बारे में बतलाया गया हैः–

झीनी झीनी बीनी चदरिया।।
काहे ता ताना काहे की भरनी, कौन तार से बीनी चदरिया।
इंगला पिंगला ताना भरनी, सुषमन तार से बीनी चदरिया।।
अष्टकवंल दल चरखा काते, पांच तत्व गुण तीनी चदरिया।
सांई को सियत मास दस लागे, ठोक ठोक के बीनी चदरिया।।
यह चादर सुन नर मुनि ओढ़ि, ओढ़ के मैली किन्हीं चदरिया।
दास कबीर जतन से ओड़ी, ज्यों की त्यों धर दीन्हीं चदरिया।।

अष्टदल कमल हमारा नाभिचक्र है जो विष्णु का स्थान है। पांच तत्व और तीन गुणों वाली सृष्टि है जबकि अष्ट कमल दल जो चरखा है वह इनको पैदा करता है। ठोक–ठोक कर बीनी का मतलब है कि आपके जितने भी कर्म हैं वे सब आपकी चादर के अंदर बुने हुये हैं। ये कर्म आपको भोगने ही पड़ेंगे।

स्वामी जी महाराज जी ने अपने एक शब्द में लिखा है **'गुरू तारेंगे हम जानी। तू सुरत काहे बौरानी।'** यहां 'हम जानी' का मतलब है कि मेरे कण–कण में, मेरे अणु–अणु में गुरू बैठा हुआ है, मेरी जान के अंदर बैठ कर गुरू मेरी रक्षा कर रहा है, मेरी बीमारी मे, मेरे हर संकट में वह मेरी रक्षा करता है तो मैं उस पर कैसे विश्वास न करूं? यदि आपको सतगुरू पर सच्चा भरोसा है तो आप अवश्य सफल होंगे। यदि आप सच्चे दिल से अपनी सारी चिंतायें मालिक को दे दोगे तो आपके अंदर बैठा हुआ परमतत्व आपको सही रास्ता जरूर बतायेगा। तुम्हें गुरू के समक्ष अपने आपको समर्पित करना है। तुम अपने आपको शरीर, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, और न जाने क्या क्या समझे बैठे हो। यह गलत है। यही तुम्हारे और गुरू के बीच में पर्दा है। तुम्हें तो चिन्ता और चिन्ता का कारण दोनों गुरू को दे देना चाहिए।

उस मालिक पर भरोसा रखो और जो कुछ करो यह समझ कर करो कि करने वाला तो वही है। **उसकी इच्छा के बिना तो पत्ता भी नहीं हिलता। आपके काम तो वो मालिक खुद चला रहा है और तुम खाहमखाह चिल्लाते हो कि तुमने यह कर दिया या वह कर दिया।** रात दिन तुम जो भी करो उसी के लिए करो। यदि तुम्हारी पत्नि क्रोध करे तो तुम क्रोध मत करो क्योंकि तुम तो उसकी आत्मा से प्यार करते हो। आप उसकी मौज में रहने की आदत ड़ालो और

अपने आपको उस मालिक की इच्छा पर छोड़ दो फिर देखो आपके सारे काम घर बैठे ही हो जांयगे। आप जो कुछ भी काम करो उसे करते जाओ, उसी के अंदर आपको सहज में ही अपना स्वरूप नजर आने लगेगा। **जब तुम्हारे अंदर यह तपन करारी बढ़ जायगी कि मैं मालिक से मिलूं तब तुम ऊपर जा सकोगे।**

शरीर त्यागने के बाद वे सब बंधन छूट जाते है, जिनके कारण आपको अंदर बैठे हुये गुरू के दर्शन नहीं होते। कहते हैं कि जीव जब इस शरीर को छोड़ कर जाता है तो वह दो रास्तों से जाता है–1. देवयान और 2. पितृयान। देवयान प्रकाश का रास्ता है। सूर्य जब उत्तरायण में होता है और खासकर शुक्लपक्ष में जीव शरीर का त्याग करता है तो वह देवयान मार्ग से सीधा सतलोक में जाता है और उसका आवागमन नहीं होता। दूसरा पितृयान मार्ग है–जो जीव सूर्य के दक्षिण में होने पर और खासकर कृष्ण पक्ष में शरीर छोड़ता है तो वह पितृलोक में जाता हे और उसका पुनः जन्म लेना जरूरी हो जाता है। लेकिन यह बात संतों पर लागू नहीं होती, संत तो कभी भी शरीर का त्याग करें उनका पुनर्जन्म नहीं होता।

मन को वश में करना

मन को टिकाने का एक आसान तरीका यह है कि किसी निर्बंध पुरूष को अपना इष्ट बनाकर उसे अपनी खोपड़ी में बिठा लो तो इससे आपका मन टिकने लगेगा। मन टिकने से सिद्धि–शक्ति आ जाती है और ऐसे आदमी को भविष्य में होने वाली बातों का ज्ञान होने लगता है। मन से आगे है आत्मा। जब वह सिद्धि–शक्तियों की परवाह न करते हुये श्रद्धा और विश्वास के साथ अपने गुरू के मार्ग–दर्शन में आगे बढता जाता है तो वह प्रकाश में रहने लगता है। इस अवस्थामें वह दूसरों को रास्ता दिखा सकता है अर्थात् वह गुरूमुख बनकर गुरू का कार्य करने में सक्षम हो जाता है। जो आत्मा या प्रकाश से भी आगे चला जाता है उसे फकीर कहते हैं और वह अपने निज स्वरूप जो शब्द है में एकरस हो जाता है। यही राधास्वामी अवस्था है, यही मंजिले मकसूद है।

जब तुम्हारा सहारा परमतत्व है तो तुम्हें किसी बात की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। जब वह मालिक सबके अंदर है तो मैं नफरत किससे करूं, द्वेष किससे करूं? किसी ने कहा हैः–**कामी तरे क्रोधी तरे पापी तरे अनंत। आन उपासक कृतघ्न तरे ना राम रटंत।।**' आन उपासक उसको कहते हैं जो गुरू को अपने से अलग समझता है। जो हर समय गुरू की चर्चा करते–करते गुरू से जुड़ जाता है उसे गुरूमुख कहते हैं। गुरू मुख बनने के लिए आप "वह मेरा है, मैं उसका हूं, वह न मुझसे जुदा है न मैं उससे जुदा हूं, मैं और वह एक हैं" इसको पक्का कर लो। संत मत का सारा निचोड़ यही है। जो लोग गुरू के भौतिक शरीर से प्यार करके चमत्कार कर लेते हैं यदि वे उसको परमतत्व मान कर प्यार करेंगे तो निश्चय ही वहां पहुंच जायंगे जहां गुरू रहता है अर्तात् परमतत्व ही बन जायेंगे।

आपकी जो पुरानी आदतें हैं, उन्हें छोड़ दो। जो तुम्हारा इष्ट है उससे मिले रहो। अपने इष्ट से मिले रहने से जब तुम्हारी प्रेम की आंख खुल जायगी तो तुमको अनुभव हो जायगा कि वह मालिक तो तुम्हारे अंदर ही विद्यमान है। **तुम तो सिर्फ गुरू से प्रेम करो। आगे चलकर तो न गुरू रहेगा न तुम रहोगे।** तुम भी अपने आप में विलीन हो जाओगे। मैं मानता हूं कि गुरू कुछ नहीं करता लेकिन तुम्हारी श्रद्धा, तुम्हारा विश्वास, तुम्हारा गुरू के प्रति प्रेम और उसकी रेडियेशन तुम्हें उस स्तर तक खींच लाती हैं जिस स्तर पर तुम्हारा काम बनना होता है।

ईश्वर का स्वरूप

विज्ञान कहता है कि हर एक घटना जो घटित होती है, उसका कोई न कोई कारण अवश्य होता है। विज्ञान कहता है कि सारे जगत के अंदर गति है। पहली गति दूसरी गति का कारण होती है। अब कारण का भी तो कोई कारण होगा तो उसका भी पता लगना चाहिए। परमाणु का कारण उसका केन्द्र है जिसके चारों ओर इलेक्ट्रोन और प्रोटोन चक्कर लगाते रहते है।। अब वैज्ञानिक कहते हैं कि शक्ति की गति ही अंतिम कारण है, वह उसे ही खुदा मानते हैं।

ईश्वर वह है, जिससे परे कोई चीज नहीं, उससे बड़ी कोई चीज नहीं, यही उसका प्रमाण है। अब जितने भी गुण दुनिया के अंदर हैं वे सभी ईश्वर के अंदर भी हैं। इसी प्रकार अस्तित्व का गुण भी ईश्वर के अंदर है। इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि ईश्वर है। ईश्वर के होने का सबसे अच्छा प्रमाण यह है कि तुम उसे अपने अंतर में अनुभव करो। वैसे आपके अंदर ईश्वर को अनुभव करने वाली हस्ती सुरत है और सुरत शब्द से निकली है और शब्द स्वरूप ही है और ईश्वर भी शब्द ही है और कुछ नहीं। और ये दोनों तुम्हारे अंदर ही हैं।

गुरू का भौतिक शरीर न रहने पर भी गुरू मौजूद रहता है। इसीलिए गुरू शरीर छोड़ने से पहले अपना काम दूसरे गुरू को सौंप जाता है। इससे निरन्तरता में कमी नहीं आती, वह मशाल निरंतर जलती रहती है, वह धार निरंतर बहती रहती है। शरीर छोड़ने वाला गुरू अपने संस्कार, ज्ञान, दया का भण्डार नये गुरू में उंडेल देता है और कहता है जा तू भी इसे बांट। यही प्रकृति का नियम है, यही विकासवाद का नियम है। **सतगुरू ट्रांसफारमर है और मालिक शक्ति का भंडार है जो सबको जरूरत के मुताबिक दया बांटता रहता है, ऊर्जा देता रहता है।** यदि ट्रांसफारमर न हो तो विद्युत भंडार से आई हुई विद्युत आपके सभी उपकरणों को जलाकर राख कर देगी। जब ट्रांसफारमर पुराना हो जाता है तो उसकी जगह नया ट्रांसफारमर लगाते है, परंतु उसमें करण्ट या धार तो वही होती है जो मालिक से आ रही है। **नहर बदल जाती है लेकिन धारा और उसका आधार तो वही रहता है। यह संत मत का रहस्य है।**

तन, मन, धन गुरू को अर्पण करने का भाव यह है कि आप गुरू से इतना प्यार करो कि आप उपने आपको भूल जाओ। **जब तक भूलोगे नहीं तब तक उसका सुमिरन नहीं होगा। जब सब कुछ भूल जाओगे तभी तुम्हें स्परण होगा कि तुम स्वयं परमतत्व हो।** सतसंग में सतगुरू बार–बार तुम्हें यही सब चिताकर तुम्हारा रास्ता आसान बनाता है, तुम्हारे अंदर के अंधकार को मिटाकर तुम्हारा तुमसे मिलाप या आत्मसाक्षात्कार करा देता है। वह यह ज्ञान करा देता है कि काल भी आपके अंदर है और दयाल भी आपके अंदर है। **अगर आप सच्चाई के रास्ते पर चलोगे, सबसे प्यार करोगे और किसी से भेद–भाव नहीं रखोगे तो आपके अंदर जो बिछोड़ा है, अलगाव है वह दूर हो जायगा।**

यह स्थूल जगत् अपनी शक्ति से नहीं ठहरता। यह जगत् ब्रह्मा की शक्ति से बनता है, विष्णु की शक्ति से ठहरता है और शिव की शक्ति से समाप्त हो जाता है। इन तीनो शक्तियों से परे भी एक चौथी शक्ति या अवस्था है जिसे अविनाशी या सचखण्ड कहते हैं। तुम्हारे शरीर में ये अवस्थायें हैं जिन्हे स्थूल, सूक्ष्म (मन) और कारण (आत्मा) कहते हैं। ये तीनो काल के अंदर हैं इसलिए चौथी अवस्था जो अविनाशी पद की है उसे पाने के बाद काल के चक्र से छुटकारा मिल जाता है। लेकिन इस अवस्था को प्राप्त करने के लिये किसी अनुभवी (शब्द सनेही) गुरू का मार्ग–दर्शन चाहिए होता है।

शब्द सनेही गुरू से मतलब है कि वह गुरू शब्द में रहता है और शब्द से ओत–प्रोत है। दुख–सुख में वह एक रस रहता है, किसी से ईर्षा–द्वेष नहीं करता, हर जीव में मालिक का रूप देखता है। ऐसे गुरू से इतना प्रेम करो कि तुम अपनी हस्ती को ही भूल जाओ जैसे मिश्री पानी में घुल जाती है ऐसे बन जाओ। गुरू का शरीर या उसकी शक्ल गुरू नहीं है। गुरू की जो वाणी है वह अमृत सार है, अमृत–धार है और वही अविनाशी है। उसकी वाणी को सुनकर और उस पर अमल करके आप चौथे पद में पहुंच सकते हो।

मालिक का असली रूप दयाल का है। दयाल वह है जो तुम्हे बिना किसी कीमत के दया देता रहता है। उसके दरबार में तुम लाख गुनाह करके जाओ, वह तुम्हें माफ कर देगा। यदि तुम्हारा अभ्यास नहीं बनता, न बने बस! तुम उस दयाल को–सतगुरू को प्यार करते रहो। अभ्यास कया हे? अभ्यास है, उस मालिक को याद करना, याद उसी को किया जाता हे जिसे हम प्यार करते हैं। आपके घर वाले प्यारे तो हैं, परंतु वे आपको सदा प्यार नहीं दे सकते। इसके विपरीत सतगुरू दयाल है, वह हमेशा तुम्हारे साथ रहता है और वह दया का रूप होने के साथ– साथ दया का भंण्डार भी है, इसलिए वह हमेशा दया बहाता रहता है। उसका प्यार कभी भी धोखा नहीं देता, यह अनुभवसिद्ध है।

कबीर साहब एक शब्द में कहते हैं – **"ब्रह्मा विष्णु महेश्वर कहये, इन सिर लागी काई।। इनके भरोसे कोई मत रहना, इनहू मुंक्ति न पाई।।"** जब तक तुम ब्रह्मा, विष्णु और शिव के ऊपर जो काई लगी हुई है उसे नहीं हटाओगे तब तक तुम्हें स्वच्छ जल अर्थात् परमतत्व के दर्शन नहीं होंगे। मुक्ति तो सुरत को तब मिलती है जब आवागमन से छुटकारा मिलता है, अन्यथा नहीं। सतगुरू स्वयं दयाल ही होता है। उससे मांगने का तुम्हें पूरा अधिकार है। तुम उससे यही मांगो कि वह तुम्हें सर्वव्यापक होने का ज्ञान दे दे। वह मालिक हर समय तुम्हारा रक्षक है। जब तुम्हारा ऐसा भाव हो जायगा, तब सब काम तुम्हारे मौज करेगी। यह भक्ति की पराकाष्ठा है।

परमसंत हुजूर मानव दयाल डा0 आई. सी. शर्मा जी महाराज द्वारा मासिक संदेशों में प्रसारित ज्ञान

मालिके–कुल हुजूर मानव दयाल जी महाराज ने मानव मंदिर मासिक पत्रिका में मासिक संदेश के द्वारा जो ज्ञान गंगा बहाई उसमें से कुछ अंश चुन कर यहां प्रस्तुत किये जा रहे हैं ताकि हम मालिक की जात से रूबरू हो सकें। जिस प्रकार गुरू कभी मरता नहीं है उसी प्रकार गुरू का ज्ञान भी कभी नहीं मरता, कभी असंगत नहीं होता।

किसी भी सतसंगी को निराशावादी नहीं होना चाहिए। मैंने आज तक किसी को भी जानबूझकर दुख नहीं दिया और नहीं कभी दूंगा। मेरी साधना पांच वर्ष से चल रही है। अब परम दयाल जी की असीम कृपा से मैं मन के स्तर से ऊपर चला गया हूं। अब मेरी हालत चश्में वहदत की है। मुझे सभी लोगों में मेरे परम गुरू फकीर बाबा ही दिखाई देते हैं।

अप्रेल 82

सच्चा गुरू वही होता है जो अपने शिष्य को अपने जैसा ही बना देता है। ऐसे गुरू की प्रशंसा दुनिया के सभी धर्मों में की गयी है। इसी दृष्टि से गुरू को ईश्वर से भी उंचा माना गया है। खासकर सनातन धर्म में गुरू पूर्णिमा का बहुत महत्व है।

अगस्त 82

संतमत के तीन मुख्य स्तंभ हैं– सतगुरू, सतसंग और सतनाम। गुरू का मतलब मालिके कुल, सर्वाधार और परमतत्व भी है और वह बाहरी गुरू भी है जो हमें उस मालिक का ज्ञान देता है। इसीलिए संतमत में सतसंग की बड़ी महिमा है। तुलसीदसा जी ने भी ऐसा ही लिखा है। **बिनु सतसंग विवेक न होई, राम कृपा बिनु सुलभ न सोई।** बाबा फकीर ने अपने अन्तिम सतसंग में मुझे मर्सी अस्पताल, अमेरिका में यह कहा था **मानवदयाल! एक दिन ऐसा आयेगा जब तेरे लिये तू और मैं का झगड़ा समाप्त हो जायगा, किन्तु इससे पहले तुझे सतसंगियों की सेवा का महान कार्य करना है।**

सितंबर 82

हम सबके कल्याण के लिए मालिके–कुल ने धरती पर आकर मनुष्य का चोला धारण किया। हर मनुष्य सच्चाई और ईमानदारी को अपनाकर दुनिया के सभी फर्ज निभाता हुआ भी, उस हालत पर पहुंच सकता है, जिसे राधास्वामी हालत कहते हैं, जीवनमुक्ति की हालत कहते हैं। इसे नाम की हालत भी कहते हैं। संतमत में नाम साधन भी है और मंजिल भी है। संतमत में नाम को साधन इसलिये बनाया गया है क्योंकि नाम पर ध्यान लगाने से मन एक जगह टिक जाता है। जब मन एक जगह टिक जाता है तब साधक अपने इष्ट पर भी ध्यान लगा सकता है। उसके बाद अपने इष्ट की कृपा से उसे इस नाशवान दुनिया का ज्ञान हो जाता है और इस ज्ञान के बाद वह दुनिया में रहते हुये भी माया के जाल से मुक्त रहता है।

मनुष्य रूहानियत के दर्जों पर केवल उस समय आगे बढ़ सकता है जब वह अपने अहंकार को छोड़ देता है। अब सवाल यह उठता है कि क्या अहंकार को पूरी तरह जीता जा सकता है? इसका जवाब है कि जब तक सुरत शरीर में है, तब तक अहंकार को पूरी तरह नहीं जीता जा सकता। यही कारण है कि मन और अहंकार पर

काबू पाने के लिये सुरत को सुमिरन, ध्यान और भजन में लगाया जाता है। दुनिया से मन को तभी हटाया जा सकता है जब इसे मालिक से जोड़ दिया जाय। वास्तव में सच्ची भक्ति तो केवल वही होती है जिसमें जात में मिलने के सिवाय और कोई इच्छा ही न रहे।

सच्ची मानवता ही संतमत और सनातन धर्म का सच्चा मकसद है। अलग–अलग धर्मों का पनपना इस बात को जाहिर करता है कि हर युग में उस युग के हालात के मुताबिक मालिके–कुल ने अवतारों और संतों के जरिये मनुष्य जाति को बार–बार यह संदेश भेजा है कि मनुष्य अपने आप में पूर्ण है। लेकिन यह पूर्णता तभी निरखती है, जब वह सत्य और प्रेम के नियमों पर चले। अक्टूबर 82

(नोट–परमसंत हुजूर मानवदयाल जी महाराज अपने गुरू की आज्ञा मानकर जनवरी 1982 में अपना अमेरिका का वैभव त्याग कर सतसंगियों की सेवा करने मानवता मंदिर होशियारपुर में स्थाई रूप से आ गये थे। तब से निरंतर भौतिक देह त्यागने तक वे इस महान कार्य को करते रहे। अप्रैल 1982 की मानव मंदिर पत्रिका के पृष्ठ 156 पर उन्होंने लिखा है कि मैंने खुशकिस्मती से परम संत परम दयाल पंडित फकीर चंद जी का प्रथम बार 1963 में मानव रूप में दर्शन किया था जिन्होंने सन् 1963 से 1981 तक अर्थात् 19 वर्ष तक मुझ पर अपार कृपा की थी। हुजूर परम दयाल जी के शब्दों मेंः मैं तुझे बुलाने नहीं गया था, 1963 में तू स्वयं मेरे पास आया था। देखें– पेज 52– मानव मंदिर पत्रिका सितंबर 1982।

यहां पर यह लिखना निर्मूल नहीं है कि यह एक मात्र संयोग या अकस्मात् घटना नहीं है बल्कि कुदरत की पूर्व नियोजित योजना के अर्न्तगत ही ऐसा हुआ कि हुजूर मानवदयाल जी महाराज ने भी अपने गुरू का ऋण उतारने के लिये जनवरी 1982 से फरवरी 2001 तक अर्थात् 19 वर्ष तक सश्रम सतसंगियों की सेवा की। हुजूर मानवदयाल जी महाराज ने 22 फरवरी 2001 को अपना नश्वर भौतिक शरीर त्याग कर निज धाम को पधारे थे।)

सनातन धर्म का अर्थ है हमेशा रहने वाला, शाश्वत धर्म जो अविनाशी है और हर काल में, हर युग में ज्यों का त्यों बना रहता है। जब लोग उसकी तरफ लापरवाही करते हैं और उसे भूल जाते हैं तो वह उनको चिताने के लिये अवतार लेता है। इस प्रकार मानव धर्म कोई फिरका नहीं है। मानव शब्द मनु तत्व से निकला है जिसका अर्थ है शाश्वत या अविनाशी तत्व जिसे विशुद्ध आत्मा या सुरत भी कहते हैं। जब हम अपने असली स्वरूप को जो शरीर, मन, बुद्धि से परे है को भूल जाते हैं तो शारीरिक एवं मानसिक सुख–दुख में उलझ जाते हैं और हमें तीन ताप सताने लगते हैं– ये तीन ताप हैंः शारीरिक दुख, मानसिक क्लेश और आत्मिक अज्ञान।

गुरू का फर्ज है कि वह सतसंगी को सच्चा ज्ञान दे और उसकी फितरत के मुताबिक उसे ऐसा रास्ता बताये जिससे धीरे–धीरे उसके कर्म कट जांय और उसे इसी जीवन में जीवनमुक्ति की हालत मिल जाय। बाबा फकीर कहते थेः तू बेशक नाम का जाप मत कर, मंदिरों में मत जा, गुरूओं के आगे नाक मत रगड़ मगर अपने विचारों को शुद्ध रख, शिव संकल्प के रास्ते पर चल। जब तेरा मन शुद्ध हो जायगा तब तू सुरत शब्द योग का अधिकारी बन जायगा। बिना मन की शुद्धि के सुमिरन, ध्यान, भजन लाभ की बजाय हानि पहुंचाते हैं। इसलिये महाराज जी ने संतमत को सच्चा मानव धर्म और सनातन धर्म कहा है।

दिसंबर 1982

अवतार हमेशा मनुष्य की तरह व्यवहार करता है ताकि वह यह मिसाल कायम कर सके की मनुष्य होते हुये भी और मनुष्य की कमियों के होते हुये भी व्यक्ति एक ही जीवन में पूर्ण बन सकता है। हालांकि आप सब भी पूर्ण हो लेकिन आपको अपने पूर्ण होने का ज्ञान नहीं है। अवतार को अपने मकसद का ज्ञान होता है लेकिन वह ऐसा दिखाता है कि उसे ज्ञान नहीं है। वह परमधाम से जीवों का उद्धार करने के लिये ही बंधन में आता है। परमदयाल जी इस युग के पूर्ण अवतार थे। एक जुलाहा अपनी रोटी कमाने के लिये कपड़ा बुनता है, लेकिन उससे बहुत लोगों को लाभ होता हे। इसी प्रकार मेरे द्वारा जो सतसंग दिया जा रहा है उससे भी अनेक सतसंगियों को कुछ–न–कुछ लाभ अवश्य हो रहा है और होता रहेगा।

जनवरी 1983

धर्म का मतलब फिरका या समप्रदाय नहीं होता क्योंकि ये मनुष्यों को अलग करते हैं जबकि धर्म सबको मालिक से जोड़ता है। पूर्ण मानव वही है जो यह समझ लेता है कि एक ही अविनाशी तत्व सबके अन्दर मौजूद है, फिर वह किसी से नफरत नहीं करता, किसी के धर्म का खण्डन नहीं करता। जो बिना द्वेष भाव के सबको समान समझता है, सबसे प्यार करता है, वह परमतत्व के निकट होता है। यही असली धर्म है, इसी को मानव धर्म भी कहते हैं। यह किसी निर्बंध पुरूष की संगत में बैठने से ही समझ में आता है।

सुरत शब्द योग से मनुष्य धीरे–धीरे मन से उपर उठकर आत्मा के आनन्द का अनुभव करता है, लेकिन परमधाम को पाने के लिये इस आनन्द से परे सत् चित्त और आनन्द की वृत्तियों को समाप्त करके अपनी निज जात का अनुभव भी किया जा सकता है। यही अनुभव साधारण मनुष्य को परमसंत बना देता है। परमसंत सभी धर्म और सम्प्रदायों से अलग होता है। यही सच्चा मानवता धर्म है।

फरवरी 1983

मनुष्य रूहानियत की छिपी हुई ताकत को निखारने के लिये सभी धर्मों में एक जैसे नियम बताये गये हैं। उनमें यदि कोई अंतर है तो ब्यान करने के ढ़ंग में है। उनमें चार बुनियादी नियम बताये गये हैं–यज्ञ अर्थात् कुर्बानी, दान, तपस्या और कर्म। यज्ञ का मतलब है कि मनुष्य की छिपी हुई रूहानियत को निखारने के लिये काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार जैसी तुच्छ बुराइयों की आहुति देना, कुर्बानी देना। इसके बाद दान का नंबर आता है–दान का मतलब है धन से लेकर रोटी, कपड़ा, ज्ञान, ताकत और अहंकार तक को स्वच्छा से किसी के हित के लिये दे देना जिसके अलग–अलग तरीके हैं। दान का सही–सही मतलब समझ में आ जाय तो इसके संबंध में सभी अंधविश्वासी और रूढ़ीवादी विचार समाप्त हो जांयगे। दान का अर्थ है अपनी कोई प्रिय वस्तु अपनी इच्छा से किसी दूसरे को देना और बदले में कुछ भी ग्रहण न करने की भावना रखना। जो भी व्यक्ति अपनी रूहानियत की तरक्की चाहता है उसे अपनी आमदनी का कम से कम दसवां हिस्सा अवश्य दान करना चाहिए।

जिस मनुष्य में सतोगुण ज्यादा होता है वह प्यार करने वाला होता है, उसमें नफरत, क्रोध और हिंसा आदि नहीं होती। जिस व्यक्ति में रजोगुण की ज्यादती होती है वह समाज में क्रियाशील होता है और दुनियावी सफलता पाने के लिये बेचैन रहता है। तमोगुण वाला व्यक्ति नशेबाज और सुस्त होता है। वह उन कर्मों का विरोध करता है जिससे दूसरों का भला होता हो।

मई 1983

जो व्यक्ति दूसरों से प्रेम करता है अर्थात् प्रेम का दान करता है उसे कई गुना अधिक प्रेम बदले में मिलता है। जो क्रोध एवं घृणा करता है उसे वही बदले में मिलता है। दान की महिमा को अच्छी तरह समझने के लिये इसकी सात्विक, राजसिक तथा तामसिक प्रवृत्तियों के बारे में भी जानना जरूरी है। सात्विक दान श्रेष्ठ होने के कारण हमें संसार के मोह से छुड़ाकर मुक्ति की ओर ले जाता है। राजसिक दान हमें बंधंन में ड़ालता है जिसके फलस्वरूप हमें कई जन्म लेने पड़ते हैं। तामसिक दान बहुत ही नीची कोटि का होने के कारण ऐसे लोगों का जन्म नीचे स्तर की योनियों में होता रहता है। जो दान अयोग्य व्यक्तियों को अनुचित स्थान पर, अनुचित समय पर बिना सत्कार के नफरत से दिया जाता है वह तामसिक होता है। इस प्रकार का दान देने वाले और लेने वाले दोनों अशांत रहते हैं।

जून 1983

गुरू तत्व के तीन मतलब हैं–पहला वह परमतत्व जो सुरत के रूप में हर व्यक्ति के अन्दर मौजूद है। इसी परमतत्व की किरणें सारे ब्रह्माण्ड में फैली हुई हैं। मनुष्य में यही तत्व उसका अंदरूनी गुरू है। गुरू का दूसरा रूप वह सच्चा ज्ञान है जिससे मनुष्य को यह अनुभव हो जाता है कि उसका असली आपा शरीर, मन और आत्मा से परे है। गुरू शब्द का तीसरा मतलब रास्ता दिखाने वाला वह व्यक्ति है जिसने स्वयं सच्चे ज्ञान का अनुभव कर लिया है और जिसका जीवन प्रेम,

शान्ति और सच्चाई का नमूना है। ऐसे गुरू का यह स्वभाव होता है कि वह इस सच्चाई को फैलाए। सीधे–सादे शब्दों में ज्ञानदाता गुरू वह है जो अपने शिष्य को सबसे बड़ा दान अभयदान दे सकता है। वह ऐसा अपने नाम या यश के लिये नहीं करता, सतसंग को अपना व्यवसाय नहीं बनाता अपितु उसके गुरू द्वारा उसे जो ज्ञान प्राप्त हुआ है, गुरू ऋण से उऋण होने के लिये उसे अन्य जिज्ञासुओं के प्रति दर्दे दिल से प्रेम पूर्वक बांटता रहता है। उस शिष्य के क्या लक्षण है जिसे अभयदान दिया जाता है? पहला तो यह है कि उसके अन्दर ईश्वर को पाने की जबरदस्त लगन हो, तपनकरारी हो, मालिक से मिलने की बेचैनी हो। भक्त शब्द का अर्थ है जो विभक्त न हो, जो अपने प्रियतम से एक हो। दूसरा लक्षण है उसका उदार होना। सच्चाई तभी जानी जा सकती है जब वह तंगदिल न हो।

जुलाई 1983

जिस ज्ञानदाता गुरू से अविनाशी तत्व की सच्चाई का ज्ञान मिलता है उस गुरू को प्यार करना बाहरी गुरू भक्ति है। परंतु असली गुरू भक्ति वह है जिसके मुताबिक शिष्य गुरू के वचनों को सुनकर, उन पर विचार करे,, उसका सार निकालकर अमल में लाये यानि की जीवन में लागू करे। क्योंकि जब तक गुरू के वचनों पर अमल नहीं किया जाता तब तक सतसंग का कोई लाभ नहीं होता। सच्चा गुरू वह होता है जो शिष्य की फितरत के मुताबिक खास किस्म का काम या सेवा करने की सलाह देता है। उसी काम या सेवा को निस्वार्थ करते रहने से मन टिक जाता है।

अक्टूबर 1983

जब तक त्याग या कुर्बानी का जज्बा पैदा नहीं होता तब तक सच्चा ज्ञान हो ही नहीं सकता। सच्चा ज्ञान आदमी को उसी हालत में पहुंचा देता है जिसे जीवनमुक्ति या राधास्वामी की हालत कहा जाता है। कुर्बानी या त्याग करने से मनुष्य काल की हद को छोड़कर अपने में ही उस परमतत्व का अनुभव करता है जो सर्वाधार है।

नवंबर 1983

यह जगत काल का देश है, इसमें सुख–दुख और जन्म–मरण लगे रहते हैं। इस काल देश में आकर हमारी सुरत जो अविनाशी है, मालिक से अलग होकर उसकी विरह में तड़फती है और वापस निज धाम जाने के लिये जबरदस्त कोशिश करती है। अगर हमारी सुरत दयाल देश से इस काल देश में न आती तो इसे परमतत्व की इतनी कदर न होती। परमतत्व अपनी इच्छा से एक से अनेक हो गया और अब सुरत अपने अविनाशी तत्व को मिलने को बेचैन है परंतु कर्मों के पर्दे–दर–पर्दे जन्मजन्मातरों से पड़ते–पड़ते यह सुरत इतनी लाचार हो गई हे कि अपने मालिक तक पहुंच नहीं पाती। इसको ही ईश्वर की लीला कहा जाता है।

दिसबंर 1983

सच्चाई की खोज करते हुये विज्ञान ने जाति, राष्ट्र, सम्प्रदाय और तंगदिली से ऊपर उठकर मानवमात्र को एक दूसरे के निकट लाने की कोशिश की है और सामाजिक तथा रूढ़िवादी दीवारों को हटाया है परंतु इसके विपरीत धर्म ने अपने आप को हिन्दूमत, बुद्धमत, जैनमत, ईसाईमत, पारसीमत, यहूदीमत, सिक्खमत, इस्लाम आदि मतों, धर्मों एवं सम्प्रदायों में टुकड़े–टुकड़े करके बांटा हुआ है। वैज्ञानिक अपने अनुभव एक दूसरे से बांटते हैं इसलिए विज्ञान ने तरक्की की है और धार्मिक नेता अपने को बड़ा तथा दूसरे को छोटा समझते हैं और झगड़ते हैं इसलिए धर्म का और मानवजाति का पतन हुआ है। इसका एक कारण यह भी है कि उन्हें ईश्वर का सही–सही ज्ञान ही नहीं होता।

जनवरी 1984

अपने स्वार्थ के लिये कर्म न करके जगत के हित के लिये कर्म करना यज्ञ कहलाता है जो कर्म को परमार्थ की तरफ लगाकर शुद्ध एवं पवित्र बना देता है। जब हम कर्म करते हुये अंदर से अपने

आपको मालिक से जोड़े रखते हैं और हमारा तार ऊपर की ओर बंध जाता है तब हमारा कर्म यज्ञ बन जाता है। जो केवल अपने लिये ही भोजन बनाते हैं और स्वयं ही खाते हैं वे सब पाप ही खाते हैं।

फरवरी 1984

सुरत–शब्द–योग सबसे उत्तम यज्ञ है। इसकी पहली सीढ़ी है सुमिरन जिसमें मन से नाम का अजपा जाप किया जाता है। ऐसा करने से मन बाहरी पदार्थों से हटकर अन्तर में टिक जाता है। परंतु इस नाम
का सबसे ऊँचा स्तर देश और काल से भी परे है। नाम इस भवसागर से तरने का एक साधन भी है और लक्ष्य भी है। सुरत–शब्द–योग का अभ्यास करते समय तीन बंधों का प्रयोग किया जाता है–पहला है मुंह बंद, दूसरा आंख बंद और तीसरा कान बंद। मन की शान्ति बाहर से नहीं आती अपितु अन्दर से ही आती है। मन को इक्ट्ठा करने से मन टिक जाता है और उसमें हलचल बंद हो जाती है, तब आंतरिक शान्ति मिलती है। उसके बाद बाहर का अशान्त संसार भी अशान्त नहीं लगता।

बिना मतलब समझे यदि कोई अभ्यासी तोते की तरह नाम को रटता रहता है तो उससे कोई लाभ नहीं होता। सुमिरन का उद्देश्य मन को अन्दर की ओर ले जाकर एक जगह पर टिकाना है। एक जगह पर टिकने से उसमें जबरदस्त ताकत आ जाती है जिससे अन्तर में गुरूमूर्ती या अन्य इष्ट के दर्शन होने लगते हैं और अभ्यासी को चमत्कार भी होने लगते हैं। यह उसकी अन्दर में छुपी हुई ताकत के कारण होता है, बाहरी गुरू के कारण नहीं। इस क्रिया को ध्यान लगाना कहते हैं। सुरत–शब्द–योग का तीसरा कदम है भजन। प्रकाश को या इष्ट को अन्तर में देखते–देखते कान भी अन्तर का शब्द सुनने लगते हैं या यों कहो कि अन्तर में शब्द का अनुभव होने लगता है, इसको भजन कहते हैं। अनहद नाद जो दिव्य प्रकाश से ही पैदा होता है, जब अन्दर में ध्वनि रहित हो जाता है तो उस स्थिति का नाम ही परमतत्व या परमपुरूष का साक्षात्कार करना कहलाता है। जब अभ्यासी अपने असली रूप को पहचान लेता है तो उसमें संतुलन पैदा हो जाता है जिससे वह दुख–सुख, लाभ–हानि, स्तुति–निंदा यहां तक कि पाप–पुण्य और अच्छे–बुरे द्वंद्वों से उपर उठ जाता है, वह स्वयं परमतत्व का रूप बन जाता है। इस स्तर को ही जीवन–मुक्ति की हालत कहते हैं।

मार्च 1984

मानवता और दानवता दोनों ही मनुष्य के अन्दर मौजूद हैं। मानवता धर्म का उद्देश्य है मानवता को उभारना और दानवता को धीरे– धीरे समाप्त करना। सच्चा मनुष्य वही है जिसमें विवेक और ज्ञान होता है और सच्चा ज्ञान एवं विवेक सतगुरू से ही मिलता है। एक अंधा दूसरे अंधे को रास्ता नहीं दिखा सकता। सच्चे गुरू का पहला लक्षण है कि वह स्वयं अनुभवी हो। ऐसा गुरू शिष्य को निष्काम भाव से प्रेम करके सच्चा रास्ता बताता है। ऐसे गुरू का प्रत्येक शिष्य यही समझता है कि गुरू जी उसे ही सबसे ज्यादा प्रेम करते हैं। ऐसे गुरू में अहंकार नहीं होता और वह सभी को एक ही नाम नहीं देता बल्कि उनकी फितरत के मुताबिक ही उनको नाम देता है। सच्चा गुरू किसी की निंदा नहीं करता और वह तंगदिल भी नहीं होता। उसके समीप बैठने से एक प्रकार की शान्ति का अनुभव होने लगता है।

अप्रैल 1984

आत्मानुभूति कराने के लिये उपनिषद काल में तीन सोपान नियत किये गये थे–श्रवण, मनन और निदिध्यासन। श्रवण के अर्न्तगत अनुभवी गुरूओं द्वारा अपने शिष्यों को उपदेश या सतसंग दिया जाता था और वे उसे ध्यान से सुनते थे। दूसरा सोपान था मनन जिसमें शिष्य गुरू द्वारा बताये गये सत्य का आत्म–विश्लेषण करते थे और अपनी शंकाओं का समाधान करते थे। निदिध्यासन में शिष्य योगाभ्यास द्वारा आत्मा और परमात्मा के एकत्व का साक्षात् अनुभव करते थे। वर्तमान संतों ने इस परा–विद्या को सीधी–सादी भाषा में आम जनता के लिये सरलतम विधि बताई है जिसे सुरत–शब्द–योग कहा गया है। गुरू जिज्ञासु शिष्य को बतलाता है कि मनुष्य अपने आपमें पूर्ण है

क्योंकि वह पूर्ण ईश्वर का नमूना है, वह परमधाम से आया है और उसे लौट कर भी वहीं जाना है। मई 1984

सतसंग का मतलब केवल भजन, कीर्तन या गाना–बजाना ही नहीं है, हालांकि रूहानियत में संगीत का भी बहुत महत्व है। प्राचीन ऋषियों ने इस बात को स्पष्ट किया था कि जो संगीत जीव को मालिक से अर्थात् राधा को स्वामी से मिलाता है, वह अंदरूनी संगीत है। इसको उन्होंने उद्‌गीत अर्थात् **'उधर का गीत'** या ऊपर का गीत कहा है। वर्तमान संतों ने इस विधि को सतसंग के जरिये ज्ञान देकर शिष्य को सुरत–शब्द–योग द्वारा अन्तर्मुखी बनाने का प्रयास किया है, जिससे योग्य शिष्य सहज में ही अन्तर्नाद को सुनने के काबिल हो जाता है। चाहे कोई कितना ही ज्ञानी क्यों न हो, जब तक वह गुरू के सतसंग में नहीं आता, उसे सार तत्व का ज्ञान नहीं होता, उसकी अन्दरूनी उन्नति नहीं होती।

जून 1984

अनेक जन्मों के शुभ कर्मों के कारण ही एक व्यक्ति सतसंग में आता है। सतसंग के प्रभाव से मनुष्य की छिपी हुई शक्तियां पनप जाती हैं। सतसंग का प्रभाव सतसंगी पर सतगुरू के सम्पर्क से ही होता है। इसका कारण है कि एक तो बाहरी सतगुरू होता है जिसे ज्ञानदाता गुरू कहते हैं और दूसरा अन्दरूनी सतगुरू होता है जो अविनाशी परमतत्व का अंश होता है, जो प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर मौजूद रहता है। सतगुरू के सतसंग से मनुष्य के भ्रम वैसे ही मिट जातो हैं जैसे सूर्य के प्रकाश से अंधकार मिट जाता है।

जुलाई 1984

असल में चाहे गुरू हो, चाहे सतसंगी हो, चाहे परमसंत हो या घोर पापी जीव हो सभी के अन्दर एक की परमतत्व सदैव मौजूद रहता है। वही परमतत्व उसके शरीर, मन और उसकी आत्मा का अविनाशी आधार है। जब आप इस बात को समझ जांयगे तब आप महसूस करेंगे कि वही साक्षी भाव आपका निज स्वरूप है। इस सहज अवस्था में पहुंचने के लिये ज्ञानदाता गुरू से संबंध रखना जरूरी है। इसलिये सतसंगी को चाहिए कि वह गुरू के अविनाशी तत्व से संबंध रखे। इसलिये गुरू के शरीर और मन को छोड़कर उसके प्रकाशरूपी चरणों में ध्यान लगाते हुये सतसंगी अपने गुरू में और अपने आप में साक्षी भाव पैदा कर सकता है।

जब कोई भक्त या सतसंगी अपने अहंकार को हटाकर गुरू के आगे झुक जाता है तो उस अहंकार का खाली स्थान गुरू या परततत्व स्वयं आकर भर देता है। गुरू को दान देना या भेंट देना बुरा नहीं है परंतु यदि आप वास्तव में गुरू को कुछ देना ही चाहते हो तो वह चीज दो जो तुम्हारी अपनी है। जो चीज तुम्हारी अपनी नहीं है (क्योंकि संसार की सभी चीजें तुम्हें गुरू की कृपा से ही मिली हैं) तो उन्हें गुरू को देने का कोई औचित्य नहीं है। जो चीज तुम्हारी अपनी है वह है तुम्हारा अहंकार जिसके कारण तुम अपनी जात को भूलकर हर जगह अपनी 'मैं' की रट लगाये रहते हो–मेरा धन, मेरी सम्पत्ति, मेरा पद, मेरा शरीर आदि–आदि। जब भक्त अपनी 'मैं' को भुलाकर कहता है कि हे मालिक! 'मैं नहीं हूं, तू ही तू है' तो उस समय दया का सागर परमतत्व उस भक्त की 'मैं' बन जाता है और भक्त के सभी काम मौज करने लगती है।

अक्टूबर 1984

मनुष्य का मन केवल उसी समय सभी रूकावटों से आजाद होकर बलशाली बन सकता है जब वह अपने संकल्पों को मन वचन और कर्म से इतना पवित्र बना देता है कि उसके द्वारा किसी का भी बुरा नहीं होता, वह किसी को भी हानि नहीं पहुंचाता अर्थात् सबके प्रति सद्‌भावना रखता है।

संकल्प हमारा वह कर्म है जिसे हम अपनी इच्छा की स्वतंत्रता का प्रयोग करके बहुत से विकल्पों में से एक विशेष परिस्थिति में एक विकल्प को चुन लेते है। यदि आप इस जीवन की सभी बुराइयों से बचना चाहते हैं तो आप निर्विरोधी हो जाइये, प्रेममय हो जाइये। विरोधी मत बनिये, नफरत मत कीजिए, ईर्षा मत कीजिए और लोगों के रास्तें में रूकावट मत डालिए। मधुर भाषा के प्रयोग में कंजूसी मत कीजिए। एक बच्चे को सुधारने के लिए हो सकता है कि किसी माता

को कठोर शब्द कहने भी पड़ें तो भी उसे यह उचित नहीं कि वह अपने बच्चे के प्रति दुर्भावना रखे। प्रेम और शुभ संकल्प से किया गया कर्म 99 प्रतिशत घटनाओं में उस व्यक्ति को ही लाभ पहुंचायगा जिसके लिए वह कर्म किया जा रहा है।

कोई भी कर्म अपने आपमे न शुभ है और न अशुभ है। कोई भी कर्म जब प्रेम से और शुभ संकल्प से प्रेरित होकर किया जाता है तो वो शुभ कर्म होता है और जब वही कर्म नफरत, लोभ, स्वार्थ या बदला लेने की भावना से किया जाता है तो वह अशुभ कर्म होता है। जब तक मनुष्य प्रश्न नहीं करता वह उत्तर प्राप्त नहीं कर सकता। जब तक सुरत जद्दोजहैद नहीं करती तब तक वह मंजिले–मकसूद पर नहीं पहुंच सकती।

दिसम्बर 1984

सुमिरन का सीधा–सादा मतलब है मालिक के नाम का अजपा जाप करना। इसका उद्देश्य मन की वृत्ति को बाहर से हटाकर अन्दर ले जाना है। इसी प्रकार ध्यान से अपने अन्तर में उस प्रकाश पर मन को टिकाना है जिसके देखने से आनंद की प्राप्ति होती है। भजन का मतलब अपने अन्दर उस शब्द को सुनना है जो अन्त में अनहद बन जाता है। शब्द में लीन होने से मनुष्य आनन्द से ऊपर उठकर परमतत्व से मिल जाता है जिसका न रूप है और न ही रंग है।

केवल मौन व्रत रखने से भी मनुष्य में सिद्धि शक्ति पैदा हो जाती है। मौन रहना एक तपस्या मानी जाती है। तपस्या से मन शुद्ध हो जाता है। नेत्र बाहरी वस्तुओं को देखकर मन को बहिर्मुखी बनाते हैं। इसी तरह जिव्हासे भी बाहरी पदार्थों में रूचि बढ़ जाती है। इसीलिए संतमत में तीन बंध बताये गये हैं– आंख बंद, कान बंद और मुंह बंद।

फरवरी 1985

त्रिकुटि को सत् चित और आनंद कहा जाता है और नामदान इन तीनों से परे ले जाता है। कुछ विद्वानों का मत है कि ईश्वर केवल सच्चिदानंद है जबकि वह तो इन तीनों से परे हैं यही हाल मनुष्य का है। जब मनुष्य शरीर और ज्ञानेद्रिंयों पर ध्यान केद्रिंत करता है तो वह भौतिक स्तर पर होता है। जब वह स्वप्नावस्था में होता है तो उसका ध्यान मानसिक अनुभव की ओर लग जाता है। उस समय उसका चित्त का पहलू प्रधान होता है। जब मनुष्य गहरी नींद में चला जाता है तो उस समय उसका मन भी कार्य करना बंद कर देता है। इस स्तर पर आत्मा अथवा कारण शरीर कार्य करता है। चूंकि ये सभी स्तर हमेंशा नहीं रहते और समय–समय पर परिवर्तित होते रहते हैं इसलिए मानव के उस पहलू को खोजना आवश्यक है जो इन अनुभवों का साक्षी है, इनसे परे है और स्थाई है। और वह है हमारी जात जो परमतत्व का ही स्वरूप है और हमारे अन्दर ही है।

जून 1985

जो व्यक्ति मन, वचन, कर्म, और विचार से दूसरों को दुख देता है या पीठ पीछे निन्दा करता है, उसे सात जन्म तक शांति नहीं मिल सकती। निंदा, ईर्षा, और दुर्भावना निश्चित रूप से मनुष्य को नीचे गिराते हैं। इसके विपरीत वे व्यक्ति ही ईश्वर को प्राप्त करने के अधिकारी होते हैं जो सबसे प्रेम करते हैं और दूसरे के अवगुणों को नजरअंदाज करके उनके गुणों की सराहना करते हैं।

अगस्त 1985

गुरू की आज्ञा यही होती है कि शिष्य अपने अंदर वाले गुरू को पहचाने और उसको सभी में मौजूद महसूस करे। ऐसे अनुभव को चश्में– वाहदत या ब्रह्मदृष्टि या समदृष्टि भी कहा जाता है। ऐसा अनुभव हो जाने के बाद वह व्यक्ति जीवन का सामान्य सफर तो करता है परंतु एक दर्शक की भांति सब कुछ तमाशा समझता है। वह मन के उतार–चढ़ाव में फंसता नहीं है।

आज्ञा–चक्र पर ध्यान लगाने से मनुष्य की संकल्प शक्ति हजारों–गुना बढ़ जाती है। इसलिए अगर कर्मों का बोझ मन पर बाकी है तो ध्यान लगाने वाला व्यक्ति ऊपर चढ़ने की बजाय नीचे गिर जाता है। इसलिए कहा जाता है कि शब्द अभ्यास किसी अनुभवी गुरू के मार्गदर्शन में ही करना चाहिए।

सितंबर 1985

वास्तव में मानव अपने आपमें सचिदानंद स्वरूप है लेकिन यह शक्ति छुपी हुई है क्योंकि आत्मा पर अनेक जन्मों के कर्मों के पर्दे पड़े हुये हैं। सभी कर्मों को समाप्त करने का तरीका यह है कि मनुष्य कर्मों को भोगता हुआ आशावादी होकर जीवन बिताये और यह विश्वास रखे कि उसके जीवन में जो कुछ भी हो रहा है, वह उसके हित में ही हो रहा है। इससे मन शुद्ध हो जाता है अन्यथा अभ्यास करने से लाभ के बजाय हानि होने की संभावना बनी रहती है। इसलिए हर समय अनुभवी सतगुरू के मार्गदर्शन की जरूरत रहती है।

एक सन्यासी को भी यह भ्रम रहता है कि उसने घर–बार छोड़ दिया है। उसका यह मानना ही उसके मोह और अहंकार का कारण बन जाता है। संतों के मार्ग में इच्छाओं को ऐसे मोड़ दिया जाता है कि उसकी पूर्णता समरूप हो जाती है। इसमें इच्छाओं को दबाने या शारीरिक कष्ट देने का विधान नहीं है और न ही भावनाओं और कामनाओं को पशुवत तृप्त करने का परामर्श दिया जाता है। इसमें अपनी इच्छाओं को समरूप करके मानसिक क्षोभ को अपने आप में सहजरूप से समेट लेते हैं।'

अक्टूबर 1985

जिस प्रकार समुद्र चारों ओर से बाढ़ से उफनती हुई आती नदियों के वेग को अपने आपमें समेटता हुआ बिना क्षोभ के शान्त रहता है, उसी प्रकार शान्ति भी उसी व्यक्ति को मिलती है जो अपनी सभी इच्छाओं और अपमान के संवेगों को समरूप बना कर बिना मानसिक क्षोभ के अपने में समेट लेता है।

सुरत–शब्द–योग दूसरे सभी प्रकार के योगों से इस दृष्टि से न्यारा है कि इसके जरिए साधक धीरे–धीरे उच्चतम अवस्था को पाया जा सकता है। इस योग की खूबी यह है कि यह छठे–चक्र या तीसरे नेत्र या आज्ञा–चक्र से ध्यान शुरू कराता है, जो नीचे के पांच चक्रों से ऊपर है। पहला चक्र है मूलाधार जो सुषुम्ना नाड़ी में रीड़ की हड्डी के आधार में मौजूद है। यह केंद्र गुदाचक्र भी कहलाता है और पृथ्वीतत्व का धनी है। पृथ्वी तत्व का देवता गणेश है। हठयोगी या राजयोगी अपनी साधना इसी चक्र से शुरू करते हैं। इसका बीज मंत्र 'लं लं लं' है। इस मंत्र की सिद्धि कर लेने के पश्चात् मनुष्य हवा में रह सकता है।

शरीर या पिण्ड का दूसरा केंद्र स्वाधिष्ठान केंद्र है जो जल तत्व से संबंध रखता है। यह प्रजननेंद्रिय के निकट होता है। यह सृष्टि का केंद्र है और इसका धनी ब्रह्मा देवता है। इसका बीजमंत्र 'वं वं वं' है। इसकी सिद्धि प्राप्त कर लेने के पश्चात् मनुष्य जल पर चल सकता है। तीसरा केंद्र अग्नि का केंद्र है जो नाभि में स्थित है। इसको मणीपुर चक्र भी कहते हैं। इसका धनी देवता विष्णु है और इसका बीजमंत्र 'रं रं रं है। इसको सिद्ध करने के पश्चात् सूर्यलोक तक पहुंचा जा सकता है। शरीर का चौथा केंद्र वायु से संबंध रखता है और इसका स्थान ह्रदय है। इसे अनाहत चक्र कहते हैं। इसका देवता शिव है और इसका बीजमंत्र 'यं यं यं' है। इसके योगी की पहुंच आकाशगंगा तक हो जाती है। शरीर का पांचवा चक्र कण्ठ है। इसे विशुद्ध चक्र कहते हैं। इसका संबंध आकाश से है। जो योगी इसके बीजमंत्र 'हं हं हं' का साधन करते हैं वे आकाश चक्र के धनी हो जाते हैं।

सुरत–शब्द–योग इससे एक कदम आगे से शुरू होता है। इसमें साधक को छठे केंद्र आज्ञाचक्र अर्थात् तीसरे नेत्र से अभ्यास शुरू करना होता है।

नवंबर 1985

तीसरे तिल अर्थात् दोनों भौवों के बीच में सुरत जिसे विशुद्ध आत्मा भी कहते हैं का स्थान होता है। सुरत–शब्द–योग में सुमिरन, ध्यान और भजन साथ–साथ चलते हैं। मानसिक या अजपा जाप करने से मन टिक जाता है और सुमिरन ध्यान में बदल जाता है। साधक को चाहिए कि वह इसी स्थान पर गुरू की मूर्ति बनाने की कोशिश करे। धीरे–धीरे यहां प्रकाश का अनुभव होने लगता है। सुरत फिर ऊपर की ओर चलती है और दूसरे स्थान सहस्त्रदलकंवल पर पहुंच जाती है। सहस्त्रदलकंवल का स्थान विराट का नमूना, आकाश गंगाओं

और ब्रह्माण्डों का नमूना है। इन सबके पीछे एक ही ज्योति निरंजन है जिससे सारा संसार चल रहा है।

इससे आगे त्रिकुटि का स्थान है जहां लाल रंग का अनुभव होता है। इस स्थान पर गुरूमूर्ति प्रकट होने से साधक का ध्यान जम जाता है। यहां पर भक्ति, भगवान और भक्त तीनों का अनुभव होता है। इस स्थान पर ध्यान करने से साधक की सभी इच्छायें पूरी हो जाती हैं। इसके आगे सुन्न है। सुन्न में द्वैत होता है और उसके आगे महासुन्न है जिसमें द्वैत समाप्त हो जाता है और निर्विकल्प समाधि लग जाती है। परंतु यह भी मंजिल नहीं है। संतमत में इससे आगे और भी सीढ़ियां हैं। इससे आगे सतलोक पहुंचने के लिए भंवरगुफा की सीढ़ी है। इस स्थान पर 'सोहं' शब्द का अनुभव होता है। इन अंदर के शब्दों को सुनने को ही भजन कहते हैं।

दिसंबर 1985

आध्यात्मिक मानववाद जो हमारे इस अनुभव में निहित है ऐसा मानववाद है जो सभी धर्मों और दर्शनों में गुप्त रूप से मौजूद है। मेरा दृष्टिकोण भी परमदयाल जी की तरह वैज्ञानिक है जो किसी भी प्रकार के अंधविश्वास पर आधारित नहीं है। वास्तव में सहज जीवन में मुझे अब साक्षी भाव का अनुभव हो रहा है। मुझे भी कई बार लाभ–हानि, सुख–दुख और क्रोध का अनुभव होता है लेकिन गुरू–कृपा से मैं बहुत जल्दी अपने ऊपर काबू पा लेता हूं और इनसे ऊपर उठ जाता हूं। इसका परिणाम यह होता है कि मैं प्रत्येक ऐसे व्यक्ति के प्रति सच्चा प्रेम का अनुभव करता हूं जो मेरे पास आता है। यह मेरी उनमुनी सहज जीवन अवस्था मुझे मेरे उस कर्तव्य निभाने में मदद करती है जो मुझे मेरे सतगुरू परमदयाल जी महाराज ने दिया था।

कोई भी व्यक्ति जो अपने सतगुरू से सच्चा और पवित्र प्रेम करता है वह इस सहज जीवन को प्राप्त कर सकता है बशर्ते कि वह बिना किसी संदेह और संकोच के अपने गुरू की आज्ञा का पालन करे। सतगुरू का व्यवहार आम आदमी के व्यवहार की तरह लगता है बल्कि कई बार तो अटपटा भी लगता है जो सांसारिक दृष्टि से भद्दा भी लगता है किंतु समय गुजरने के बाद उसका वह व्यवहार हमेशा ईश्वरीय दिखाई देता है और अंत में सभी के लिये लाभदायक प्रमाणित होता है। इसका कारण यह है कि सतगुरू के सभी विचार, भाव और क्रियायें अगम धारा से प्रवाहित होती हैं जो हर वस्तु और हर प्राणी का स्रोत्र है और परम लक्ष्य भी है। इसलिये ऐसे पूरे गुरू से संपर्क रखना और उसके प्रति विशुद्ध सहज प्रेम रखना सतसंगी को उसके उच्चतम लक्ष्य तक पहुंचा देता है।

उस अवस्था को प्राप्त कर लेने के बाद सतसंगी का सारा कार्य मौज ही करती है अर्थात् उसका सब कुछ मौज के आधीन रहता है। इस अवस्था में गुरू–शिष्य का भेद समाप्त हो जाता है, वे एक दूसरे में विलीन हो जाते हैं। द्वैत अद्वैत में बदल जाता है और एकत्व का अनुभव होने लगता है। इस प्रकार समदृष्टि आ जाती है जिससे वह प्रत्येक प्राणी में गुरू की उपस्थिति अनुभव करने लगता है। यही सच्ची तपस्या है।

फरवरी 1986

तप में महान शक्ति होती है। तप की ही शक्ति से शिव भगवान जगत् का संहार करते हैं और तप की शक्ति से ही शेषनाग पृथ्वी को अपने फन पर धारण किए हुये हैं। तप का एक अर्थ कुर्बानी भी होता है अर्थात् तप तभी सफल होता है जब उसको करने वाला कुछ कुर्बानी करे।

मार्च 1986

सच्चाई यह है कि मानव चाहे वह किसी भी धर्म या सम्प्रदाय का हो, उस समय तक परमधाम नहीं जा सकता जब तक उसे जीते–जी मुक्त अवस्था या राधास्वामी अवस्था का अनुभव नहीं हो जाता। राधास्वामी मत, अनन्तकाल से चले आ रहे सनातन धर्म की अन्तिम कड़ी है क्योंकि आज तक सनातन धर्म की परम्परा में आत्मा को परमात्मा से मिलाने की जितनी योग विधियां समय–समय पर ऋषियों द्वारा प्रतिपादित की गयी हैं, वे सब इसमें सहज में ही मौजूद हैं।

यहां एक और बात बतानी जरूरी है। वह यह है कि इस जगत् में खासकर इस पृथ्वीलोक में आरम्भ से लेकर आज तक मनुष्य

का ज्ञान धीरे–धीरे बढ़ा है। आज विज्ञान ने बहुत तरक्की की है। यह उन्नति उन महापुरूषों द्वारा की गयी है जो पूर्व और पश्चिम में जन्म लेकर मनुष्य मात्र की भलाई के लिए जीवन भर जुटे रहे। इन्हें वैज्ञानिक अवतार भी कह सकते हैं। असाध्य बिमारियों का इलाज, यातायात की सुविधाएं, रेडियो, टेलीविजन और संचार सुविधाएं आदि ऐसी देन हैं जो प्राचीन काल में और मध्य काल में नहीं थीं। यद्यपि हमारे ऋषियों को यह ज्ञान था और वे इसका प्रयोग भी जानते थे परंतु यह विद्या धीरे–धीर लुप्त हो गई।

सतयुग में ध्यान लगाना ही मालिक से मिलने के लिये पर्याप्त साधन माना जाता था। उस युग में आयु लम्बी होती थी। त्रेतायुग में ग्रहस्थ जीवन और कर्म की प्रधानती थी अतः मंत्रों और यज्ञों द्वारा परमात्मा की दैविक शक्तियों से लाभ उठाया जाता था। द्वापरयुग में यज्ञ से भी सरल विधि अर्थात् द्वैत भक्ति एवं पूजा का सहारा ईश्वर से सम्पर्क करने के लिए लिया जाता था। लेकिन कलियुग में जीवन की जटिलता के कारण मनुष्य के पास न तो ध्यान लगाने की, न यज्ञ करने की और न ही आवश्यक सामग्री एकत्र करके पूजा करने की फुरसत है, इसलिए परमतत्व दयालपुरूष ने कलियुग में दुखी जीवों को भवसागर से पार जाने के लिए मनुष्यरूप में संतसतगुरू का रूप धारण करके सुरत– शब्द–योग बताया।

यह सुरत–शब्द–योग पहले से ही मौजूद था, लेकिन धीरे–धीरे यह लुप्त होता गया और इसका ज्ञान बहुत कम लोगों को रह गया। इसकी जगह कर्म–काण्ड ने ले ली। अब कलियुग में इसे कबीर, नानक और अन्य संतों ने पुनः प्रकट किया। इस सुरत–शब्द–योग को न सिर्फ सनातनधर्म मानता है बल्कि यहूदी, इसाई और इस्लाम धर्म भी इसको अर्थात् नूर या प्रकाश और कलाम या शब्द को मानते हैं। इस सरल विधि से गुरू के आदेशानुसार व्यक्ति अपने अंदर प्रकाश और शब्द का अनुभव करके उसमें विलीन हो जाता है क्योंकि वही अविनाशी अंश मनुष्य के अंदर भी मौजूद है जो सारे बह्माण्डों में व्याप्त है। यही आत्मा और परमात्मा का मिलन या साक्षात्कार कहलाता है।

अप्रैल 1986

मनुष्य स्वयं सच्चिदानंदरूप है किंतु उसके अंदर इन तीनों तत्वों को अनुभव करने वाला साक्षी भाव या चौथा तत्व अविनाशी सुरत भी मौजूद है। जहां शरीर का लक्षण सत् अस्तित्व एवं जीवन है, चित् का लक्षण चेतना और ज्ञान है, आत्मा का लक्षण प्रकाश एवं आनंद है, वहां सुरत का लक्षण, मनुष्य में अकाल पुरूष होने के नाते, वह संकल्प–शक्ति है जिसका प्रयोग करके वह चाहे तो सत्–चित्–आनंद में सीमित रहता हुआ बारम्बार जन्म लेता रह सकता है और चौरासी के चक्कर में फंसा रह सकता है या चाहे तो सतगुरू की आज्ञा का पालन करता हुआ शरीर, मन, बुद्धि द्वारा तपस्या करके तीनों के चक्कर से निकल कर जीते–जी चौथे पद को प्राप्त कर सकता है।

जुलाई 1986

यदि कोई व्यक्ति यह कहे कि वह कटु वचन तो बालेगा परंतु अहिंसा नहीं करेगा तो वह व्यक्ति भ्रम में रहेगा क्योंकि कटु वचन बोलने से दूसरों के मन पर जो चोट लगती है वह तलवार के घाव से भी ज्यादा दुखदायी होती है। जिस घर में कटु वचन बोलने से क्रोध एवं कलह रहता है, वहां मुसीबतें अवश्य आयेंगी। मधुर वचन हितकारक होने के कारण आशावादी विचारों को जन्म देता है। जहां आशावादी विचार होंगे वहां हमेशा सफलता होगी और आनंद का वातावरण रहेगा।

मार्च 1987

1982 में बर्मिंघम के श्री जगदीश चन्द्र गुप्ता ने मुझे यह कहा था कि पदम दयाल जी महाराज ने 1980 में ही भविष्यवाणी की थी और बर्मिंघम में ही कह दिया था, "जब मेरे बाद यहां आई0 सी0 शर्मा सतसंग देने आयेगा तो संगत बहुत बढ़ जायगी।" मैंने कई बार आपको कहा है कि पिछले पांच वर्षों में जो मेरा आंतरिक रूहानी परिवर्तन हुआ है उसको मैं बयान नहीं कर सकता। अब तो सतसंगों में मैं इस कदर बह जाता हूं कि मुझे यह होश नहीं होता कि मैं क्या कह रहा हूं! सतसंगी ही स्वयं सतसंग की धारा में बह जाते हैं न

उन्हें समय का ध्यान रहता है न मुझे कभी यह ख्याल आता है कि मैं घण्टे–डेढ़ घण्टे के अन्दर सतसंग समाप्त कर दूं। मैं और सतसंगी एक हो जाते हैं। उनका प्रेम सामूहिक रूप से मुझ पर प्रभाव डालता है और मेरा प्रेम उमड़ कर सबको लपेट लेता है। सतसंग एक सहज समाधि हो जाती है और सभी आनंद सागर में डूब जाते हैं।

अब मैं परम दयाल जी के उन शब्दों को पूरी तरह समझ पाया हूं जो उन्होंने 1980 में क्लवलैंड में रात को दो बजे डा0 परसराम को कहे थे। उन्होंने कहा था, "परसराम, मैं जानता हूं कि भारत में राधास्वामी मत के बहुत से आचार्य हैं और ऐसे भी लोग हैं जो चालीस साल से अधिक समय से मेरे साथ जुड़े हैं। अभ्यासी भी हैं, एक आध मेरे गुरूभाई भी हैं, किन्तु मैंने केवल आई0 सी0 शर्मा को चुना है। इसमें एक राज है।"

यह राज धीरे–धीरे मुझे और मेरे साथियों को स्पष्ट होता चला जा रहा है। मेरा अपना निजस्वरूप पूर्णरूप से निखरता हुआ दिखाई दे रहा है। ऐसा अनुभव पहले कभी नहीं हुआ था। जिस उद्देश्य के लिए इस बार मैंने मानव का चोला धारण किया है, वह क्रमशः मेरे कुछ साथियों और बहुत से सतसंगियों के सहयोग से विश्वभर में साकार होता हुआ दिखाई दे रहा है। यह उद्देश्य मेरा निजी उद्देश्य नहीं है। यह किसी विशेष परिवार, समाज, राष्ट्र, मत–मतान्तर या सम्प्रदाय तक सीमित नहीं है। यह वह रब्बी एवं ईश्वरीय उद्देश्य है, वह जगद्–व्यापी धर्म की प्रक्रिया है जो सारी सृष्टि के उत्थान के लिए है। यह ब्रह्माण्डी धारा बहती हुई अपनी मौज में मानव और सम्पूर्ण जगत् को उभार रही है। यह बात परम दयाल जी महाराज ने अपने जीते–जी अनेक बार मुझे पत्रों में लिखी थी। मार्च 1981 को उन्होंने मुझे अमेरिका में जो पत्र लिखा वह प्रस्तुत हैः–

मानवता मन्दिर,
होशियारपुर

प्रियतम मानव दयाल शर्मा,

राधास्वामी!

डेढ़ महीने के दौरे के बाद मैं होशियारपुर वापिस लौटा हूं। डा0 कुन्दन लाल जौड़ा ने मुझे तुम्हारा पत्र दिखाया। मैंने भी तुम्हारे अनुवाद का एक अध्याय पढ़ा। सुनो मानव दयाल! मेरा यह यकीन है कि आप इस पृथ्वी पर एक खास मक़सद लेकर ही आये है (Listen! I believe thou hath come on this earth with a certain Mission) मैं आपकी पवित्र हस्ती पर अपना सिर झुकाता हूं। मैं खुख हूं कि मुझे आप जैसी पवित्र हस्ती से मिलने का अवसर मिला है। मैं आपके होशियारपूर में आने का लगातार इन्तजार कर रहा हूं। इस पृथ्वी पर मेरा मिशन समाप्त होने वाला है और मैं जल्दी से जल्दी इस संसार को छोड़ना चाहता हूं। मैं तुम्हें इस मिशन को चलाने और उसमें कामयाबी पाने का दिल से आशिर्वाद देता हूं।

यह संतो का, दाता दयाल का, मेरा और तुम्हारा काम दुनिया के सभी राष्ट्रों में उस बरबादी के बाद, सच्चा रास्ता दिखायेगा जो जल्दी ही आने वाली है, जिसको कोई नहीं रोक सकता। विचार में जबर्दस्त ताकत होती है। प्रजातन्त्र का आज का चुनाव का ढंग, धार्मिक मतभेद, नफरत, एक दूसरे के प्रति द्वेष और अविश्वास पर टिका है। लोभ और झूठा अहंकार आदि सभी अवगुण संसार भर के लोगों में बहुत ज्यादा हो गये हैं, जिससे वातावरण पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ रहा है, इसलिए तबाही को रोका नहीं जा सकता। मानव बनने की शिक्षा मानव मात्र को भविष्य में मदद देगी।

आपका फकीर

पुनः 'वैसाखी पर तुम्हारे ठहरने का आरामदेह इन्तजाम किया जायेगा।'

मैं जब भी इस पत्र को पढ़ता हूं, मुझे इससे प्रेरणा मिलती है। मैं समझता हूं कि परम दयाल जी के जीते–जी शायद एक या दो व्यक्तियों ने वास्तव में यह समझा हो कि वह सद्गुरू वक्त थे और अपने समय के युगावतार थे। जब से मैंने अमेरिका से त्यागपत्र देकर परम दयाल जी महाराज की आज्ञा के अनुसार इस सच्चाई के अनुभव को बांटने का काम शुरू किया है, मेरे रास्ते में जो–जो रूकावटें आती रहीं हैं, वह अपने आप ही दूर होती गईं। इसमें मेरी कोई महानता नहीं है।

मैं बचपन से ही यह महसूस करता था कि मेरा जीवन केवल मेरे लिये ही नहीं है अपितु किसी ऐसे उद्देश्य के लिए है जिसकी

पूर्ति से मानवमात्र का भला होगा। मैं कोई मसीहा या मानव जाति का सुधारक नहीं हूं। यहां पर 'मैं' शब्द का प्रयोग केवल व्यावहारिक दृष्टि से करता हूं। जगत् का व्यवहार सापेक्ष दृष्टि से सच्चा है। मैं और आप शरीर, मन, बुद्धि और अहंकार तक अलग–अलग हैं लेकिन इन चारों से आगे इन्हें बनाने वाला जो तत्व है, विशुद्ध आत्मा है वह सूत्र सबके अंदर एक ही है। **हम सबको प्रेम में बांधने वाला सूत्र सुरत एक ही है। मैं और आप बाहर से अलग–अलग जरूर दिखते हैं परंतु अंदर से एक ही हैं।** यदि मैं आपसे क्रोध करूं या ईर्षा करूं तो क्या यह मैं अपने से नहीं करूंगा? सच्चाई तो यह है कि भेद–भाव केवल बाहरी भाव हैं इसके अलावा और कुछ नहीं।

सृष्टि के तीन दर्जे हैं– भौतिक, सूक्ष्म और आत्मिक या कारण। इन्हीं तीन दर्जों पर बह्मा, विष्णु और शिव का राज्य है। हमारा भौतिक शरीर भी एक छोटे पैमाने का विराट ही है। इस मनुष्य के शरीर में पूरे ब्रह्माण्ड का नक्सा है। **'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'** जो कुछ ब्रह्माण्ड में है इस पिण्ड में भी मौजूद है। सृष्टि का दूसरा दर्जा ब्रह्माण्डीमन है जो सूक्ष्म है। इसी का नाम विष्णु है। विष्णु ही ब्रह्माण्ड का आधार है। जिस प्रकार बह्माण्डी मन जगत् का आधार है उसी प्रकार मानव का मन भी उसके शरीर का आधार है। विष्णु तत्व को संतों ने अव्याकृत कहा है और बह्मा को विराट कहा है। ब्रह्माण्डी मन अपने आपमें पूर्ण नहीं है, वह कारण शरीर पर आधारित है। इसे ही शिव कहते हैं। इसको संतों ने हिरण्यगर्भ या सोने का अण्डा कहा है। मनुष्य शरीर में यह चमकता हुआ सोने का अण्डा उसकी आत्मा है जो प्रकाशमय है। विष्णु हमेशा शंकर का ध्यान करते हैं और उनकी शक्ति से ही सृष्टि का पालन करते हैं। मनुष्य शरीर में भी मन आत्मा से शक्ति लेकर सब काम करता है।

यह रचना काल की रचना कहलाती है किंतु यह काल सतपुरूष की एक बूंद मात्र ही है। दूसरे शब्दों में काल भी दयाल का ही विस्तार है। उसी दयालपुरूष को चौथापद कहा जाता है। मनुष्य शरीर में भी चौथापद है और वह है सुरत। जब मनुष्य अपनी सुरत को शरीर, मन और आत्मा से ऊपर ले जाता है तो वह जीते–जी नाम को पा जाता है। नाम को पा लेने का मतलब है राधास्वामी अवस्था में रहना। इस अवस्था में रहने वाला मनुष्य सुख–दुख, हर्ष–शोक, काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार में रहता हुआ भी इनमें फंसता नहीं है। इनका अनुभव करता हुआ वह इन सबका साक्षी बना रहता है।

इस अवस्था को पाने के लिए ही नाम–दान दिया जाता है। नाम– दान हर व्यक्ति को उसके स्वभाव के मुताबिक ही देना पड़ता है। किसी को शारीरिक सेवा, किसी को द्वैत की भक्ति और किसी को किसी अन्य तरीके से शरणागत होने के लिए तैयार किया जाता है। इसके लिए सतसंग की जरूरत होती है। सतसंग में सतगुरू की रेडियेशन्स के द्वारा उसके अंदर सच्चा ज्ञान और प्रेम की धारा बहने लगती है। सतगुरू विशेष सतसंग देते समय निर्बंध अवस्था में रहता है इसलिए उससे प्रेम करने वालों में सहज ही प्रेम की धारा बहने लगती है।

मेरे कहने का मतलब है कि मनुष्य शरीर, मन और आत्मा के अनुभवों को राधास्वामी अवस्था यानि की साक्षीभाव की अवस्था की प्राप्ति में लगाने के लिए सद्गुरू की भारी जरूरत है। राधास्वामी मत एवं मानवता धर्म में सत्संग, सद्गुरू और सतनाम के तीन सोपानों में से सतसंग का सोपान सबसे अधिक जरूरी है। सतसंग में सतसंगी धीरे– धीरे सद्गुरू से सच्चे ज्ञान को पाकर शरीर, मन और आत्मा से ऊपर उठ जाता है और उसका मन निर्मल हो जाता है। इसके बाद आंतरिक सतसंग में यानि सुमिरन, ध्यान, भजन के द्वारा वह अपने अन्दर में भी अपने आप ठहर जाता है और संतगति को पा जाता है। किन्तु सुमिरन, ध्यान, भजन के द्वारा अंदर में शब्द में लीन होने के बाद भी वह जाग्रत अवस्था में शरीर और मन में फंस सकता है। यह भी हो सकता है कि वह घण्टों प्रकाश और शब्द में रहने के बाद में अपनी इस शब्द गति के पाने और उसमें रहने का अभिमानी हो जाये। इसलिए उसे इस दोष से बचने के लिए सदैव सद्गुरू के सतसंग में जाना चाहिए। सतसंग से सद्गुरू की रेडियेशन (किरणों) के द्वारा और उसके सच्चे ज्ञान तथा अनन्त प्रेम की सतसंग में बहती हुई धारा के द्वारा उसे अन्दर में ऐसा सच्चा ज्ञान प्राप्त हो सकता है जिससे उसकी रहनी बदल जाती है। सतसंग की महिमा को बताते हुए दाता दयाल जी महाराज ने लिखा हैः–

"आ गये सतसंग में और संग सत का हो गया।
दुर्मति जाती रही और गुरू के मत का हो गया।।"

इसका मतलब यह है कि सद्गुरू के सतसंग में उसके परततत्व के पहलू से सम्पर्क हो जाता है और सतसंगी का सद्गुरू को सर्वाधार मानकर अगाध प्रेम उमड़ने लगता है। इस प्रेम में वह शरीर, मन और आत्मा के सभी अनुभवों को भूलकर अपने आपको खो देता है। उसका अहंकार समाप्त हो जाता है। न ही केवल इतना, बल्कि जो जिससे अगाध प्रेम करता है वह अपने प्रियतम के जैसा ही हो जाता है। क्योंकि सद्गुरू विशेषकर सतसंग देते समय निर्बन्ध अवस्था में राधास्वामी हालत में रहता है, इसलिए उससे प्रेम करने वाला सतसंगी भी सहज में ही केवल सतसंग में ध्यानपूर्वक बैठने से सद्गुरू जैसा ही हो जाता है। उसकी दुर्मति जाती रहती है अर्थात् इसके दोष देखने की दृष्टि एवं भेदभाव की दृष्टि खत्म हो जाती है और वह गुरू की भांति सत् में रहने लगता है।

अप्रैल 1987

संतमत में जीवित सतगुरू के रूप पर ध्यान लगाना इसलिए जरूरी है क्योंकि वह आपकी शंकाओं का समाधान कर सकता है। जब एक संतसतगुरूवक्त अपने जीवन काल में दूसरे सतगुरूवक्त का चुनाव करके अपना कार्यभार उसे सौंप देता है और अपना नश्वर शरीर छोड़ देता है, तो जीवित सतगुरू के अंदर न सिर्फ उसके गुरू के बल्कि आदिकाल से लेकर आज तक जितने भी सतगुरू हुये हैं उन सबके संस्कार, उनका ज्ञान और उनके गुण उसमें आ जाते हैं, यह कुदरत का कानून है और यही विकासक्रम का भी आधार है। इसलिए शिष्य को दृढ़ विश्वास रखना चाहिए कि उसका गुरू कहीं गया नहीं है।

कटु वचन से बहुत अनर्थ हो जाता है। कटु वचन क्रोध से जन्म लेता है और क्रोध आने पर कर्म बहुत जटिल बन जाते हैं। जब तक किसी मनुष्य का कटु वचन बोलना और क्रोध करना नहीं छूटता तब तक उसका मन पवित्र नहीं हो सकता और जब तक मन पवित्र नहीं होता तब तक वह रूहानियत के रास्ते पर नहीं चल सकता। मीठे वचन बोलना वाणी की तपस्या है, मन की नहीं।

वाणी मन और शरीर के बीच रहती है, एक तरफ तो यह मन के विचारों से जुड़ कर संकल्प–विकल्प करती है और दूसरी तरफ शारीरिक कर्म से जुड़ कर कर्म करने को मजबूर करती है। इसलिए मन को पवित्र करने के लिए हमेशा मधुर वाणी का प्रयोग करना चाहिए।

मई 1987

जब आप पूरी तरह से शरणागत होकर सतगुरू को परमतत्व मानकर उससे अगाध प्रेम में मग्न होकर अपने आपको भूल जाते हैं और सहज समाधि में रहने लगते हैं तो आपकी सभी इच्छायें मौज से स्वयं ही पूरी होने लगती हैं। एक दृष्टि से दयाल देश वाला परमतत्व अलख, अगम, अनामी दयाल पुरूष काल देश में हमारी कोई सहायता नहीं कर सकता। वह दयाल पुरूष हमारा लक्ष्य अवश्य है परंतु उसका कोई रंग–रूप नहीं होने के कारण, हालांकि सभी रंग–रूप उसी के हैं, वह दयाल पुरूष मनुष्य रूप में अवतरित होता है ताकि वह दुखी जीवों की मदद कर सके और अधिकारी जीवों को निजधाम ले जा सके।

इसलिए इस सृष्टि से परे आदिकर्ता सतपुरूष दयाल की महिमा मन और वाणी से परे है। वही हमारा निज धाम है, हमारा आदि, मध्य और अन्त है। हम हर समय उसी में रहते हैं, उसी की धारा से इस जीवन में सब कुछ करते हैं। उससे अलग होकर तड़फ रहे हैं और मिलने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। यह तड़फ तब तक समाप्त नहीं होगी जब तक हम उसके अंश संतसतगुरूवक्त से सच्चा प्यार नहीं करते। इसीलिए गुरू की महिमा मालिक से अधिक है क्योंकि मालिक ने तो हमें अपने से दूर इस संसार में दुख–सुख उठाने के लिए फेंक दिया परंतु गुरू हमें वापस उस मालिक से मिलाने के लिए मनुष्य रूप में हमारे बीच मे प्रकट होकर आया है।

जून 1987

एक सामान्य गृहस्थी के घर में भी जो मानवता के सिद्धांतों पर चलता है बैठने का आसन, पृथ्वी अर्थात् स्थान, जल और मीठी वाणी हमेशा रहनी चाहिएं। जिस घर में कटु वचन बोले जाते हैं, वहां लड़ाई–झगड़ा होता रहता है, इसलिए वहां से सुख और शान्ति विदा हो जाती है। अतः आप लोग भले ही राम–राम न जपो, मंदिर, मस्जिद, गुरूद्वारे न जाओ, किसी गुरू को भी मत मानो, परंतु घर में शान्ति रखने के लिए अपने मां–बाप, पति–पत्नि, पिता–पुत्र आदि सभी प्रेम का व्यवहार करने का प्रयत्न करो तो तुम्हारा लोक और परलोक बन जायगा।

जुलाई 1987

मेरे प्यारे सतसंगियो! आपको धन, सम्पत्ति, यश आदि आपके अपने विश्वास और पिछले जन्मों के शुभ और अशुभ कर्मों और इस जीवन में आपकी अपने इष्ट के प्रति भक्ति भाव के कारण मिलते हैं। अगर आप अपने इष्ट से केवल प्रेम के लिए ही प्रेम करते हो तो आप चमत्कारों से ऊपर उठकर पूर्ण बन जाओगे। मेरा असली रूप न शरीर है, न मन है और न ही आत्मा है बल्कि मेरा असली रूप तो अनामी पुरूषतत्व है। इसलिए अगर आप मुझे परमतत्व मानकर प्यार करोगे तो आप भी पूर्णता का अनुभव करोगे। एक बार मैंने स्वीटजरलैण्ड में जब मनुष्य के ईश्वर से साक्षात्कार को समझाने के लिए बाईबिल की मिसालें दी तो पश्चिम के विद्वानों ने इस बात को स्वीकार किया कि सभी धर्मों के सिद्धांतों के अनेकत्व के पीछे एक ही सत्ता विद्यमान है, सब धर्मों में एकत्व है।

सतसंग एक ऐसा अनुशासन है एवं तप है जो हर व्यक्ति को बिना जाति, धर्म आदि के भेद–भाव के हर समय, हर स्थान पर सहज ही प्राप्त हो सकता है। तुलसीदास जी ने भी कहा है–**सबहिं सुलभ सब दिन सब देशा। सेवत सादर समन कलेशा।।** परंतु इस सहज–योग को सीखने के लिए और उसका अभ्यास करने के लिए सतसंगी को अपने मन में गुरू के प्रति प्रेम, आदर और सम्मान के साथ–साथ दृढ़ विश्वास भी रखना पड़ता है। सतगुरू के चरणों में झुककर प्रणाम करने से सतसंगी का अहंकार तिरोहित होने लगता है। यदि उसका अहंकार कम नहीं हुआ तो समझो वह अभी अधूरा है, पूरी तरह से नहीं झुका है।

अगस्त 1987

मानव वही है जिसे शरीर, मन और अहंकार रूपी आत्मा से परे अपने निज स्वरूप, राधास्वामी तत्व का अनुभव हो गया है। ऐसा अनुभव होने के बाद वह सच्चा मानव सभी प्राणियों में विशेषकर सभी मनुष्यों में उनके शरीर, मन और आत्मा एवं उनके रंग–रूपों से परे सतपुरूष का अनुभव करने लगता है। अर्थात् राधा को स्वामी का और सुरत को शब्द का अनुभव हो जाता है। न राधा–राधा रहती है और न स्वामी–स्वामी रहता है, बल्कि दोनों एक हो जाते हैं। साधक जब तक इस हालत तक नहीं पहुंता तब तक उसकी साधना अधूरी रहती है। दयालपुरूष दयाल देश मे बैठा हुआ उस समय तक जीवों का उद्धार नहीं कर सकता जब तक वह काल देश में आकर मानव चोले में सतगुरूवक्त की जिम्मदारी पूरी नहीं करता।

नवंबर 1987

जो व्यक्ति निराशावादी होता है और हर समय अपने और दूसरों के बारे में बुरा ही सोचता रहता है या दूसरों के दोष ही ढूंढ़ता रहता है या दूसरों की निंदा करता रहता है, ईर्षा करता रहता है, वह जीवन में कभी सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। ऐसा व्यक्ति जीवन में न स्वयं सुखी रहता है और न किसी को कभी सुख प्रदान कर सकता है। ऐसे व्यक्ति का जीवन दो कौड़ी का होता है।

मार्च 1988

मन का काम बाहरी जगत् से सम्पर्क रखना है और हमारे शरीर की अंतर की क्रियाओं से, जिनमें सोचने और विचारने की क्रिया भी शामिल है, सम्पर्क रखना और उन्हें चलाना है। जब मन सोचने की क्रिया में लग जाता है तो वह बाहर की क्रियाओं से अलग हो जाता है। हमारे शरीर के अंदर कुछ ऐसी भी क्रियायें होती हैं जो मन के आधीन नहीं होतीं हैं जैसे रूधिर संचार आदि की क्रिया । खून के दौरे

की यह क्रिया प्राणी को जीवित रखती है। यदि आप अपने मन से गुरू के नाम का सुमिरन करते रहें और धीमी गति या चींटी की चाल से अपने अंदर में चलते रहें तो एक दिन तुम्हारी सुरत सभी दर्जों से गुजरती हुई अगम पुरूष में मिल जायगी।

जून 1988

यदि आपके मन में सच्चा प्रेम है तो सतगुरू आपके आधीन हो जाता है। मेरी सारी दिनचर्या राधास्वामी दयाल के लिये है, मेरा शरीर राधास्वामी दयाल का है, मेरे संबंधी राधास्वामी दयाल के हैं। जब आपकी भी ऐसी भावना बन जायगी तब आप भी राधास्वामी दयाल को अपने अंदर महसूस करने लग जाओगे। जिनको राधास्वामी दयाल को मिलने की चाह है, वे मेरे अनुभव को अपना अनुभव मानकर मेरे साथ चलते हुये मेरी तरह मालिक की मौज में रहने की कोशिश करें तो एक दिन उनका जीवन राधास्वामीमय हो जायगा, ईश्वरमय हो जायगा। वे मेरे साथ एक हो जांयेगे, उसका सारा भेद–भाव मिट जायगा।

मैं सच्चे दिल से चाहता हूं कि हम सब अपने आपको पहचाने और निज स्वरूप को सभी में मौजूद मानते हुये, भेद–भाव से ऊपर उठ जांय। निज स्वरूप न शरीर है, न मन है, न आत्मा है, न रंग है, न रूप है, वह सुरत भी नहीं है, लेकिन वह है जरूर। चूंकि वह अविनाशी निजस्वरूप एवं राधास्वामी तत्व हर एक के अंदर उसी खूबी से मौजूद है जैसे वह आप में है और सतगुरू में मौजूद है, इसलिए हम सब उस दृष्टि से एक हैं। अंतर केवल इतना है कि सतगुरू में वह प्रकट रूप में है और आप में तथा दूसरे जीवों में वह गुप्त अवस्था में रहता है। इस गुप्त अवस्था को प्रकट करने के लिए सतगुरू, सतसंग और सतनाम की आवश्यकता होती है।

राधास्वामी अवस्था भगवत्गीता की जीवनमुक्त अवस्था या ब्राह्मी स्थिति का ही नाम है जिसे कृष्ण भगवान ने अर्जुन को चेताने के लिए दूसरे अध्याय में समझाया है। जीव अपनी ही मूर्खता के कारण दुखी होता है।

जुलाई 1988

आशावादी रहना उत्तम मानसिक तप है। उपनिषदों में कहा गया है कि यह जगत् आनंद से ओत–प्रोत है, क्योंकि यह जगत् जहां से निकला है वह पूर्णानंद है, परमानंद है। परमानंद की कोई परिभाषा नहीं हो सकती। वह केवल आनंद की अवस्था ही नहीं अपितु सतलोक, अगमलोक, अलखलोक और अनामीलोक से भी परे है। इस अवस्था को राधास्वामी अवस्था भी कहा जाता है। इसे विदेह–मुक्ति भी कहा जाता है। वास्तव में इस अवस्था का वर्णन नहीं किया जा सकता क्योंकि कोई भी भाषा इसे व्यक्त करने में समर्थ नही है। जिस–जिस महापुरूष ने इस अवस्था का अनुभव किया वे मौन हो गये, कुछ बोल ही न सके। वे गूंगे नहीं हुये बल्कि उनके अनुभव ने उनके मुंह पर ताला लगा दिया।

जब मनुष्य इस परमानंद की अवस्था पर पहुंच जाता है तो सांसारिक सुख–दुख उसे स्वप्न की भांति दिखने लगते हैं। जब तक मनुष्य का किसी भी स्थूल वस्तु से लगाव या आसक्ति है तब तक वह जन्म–मरण के चक्कर से नहीं छूट सकता। करोड़ों में से कोई बिरला ही इस परमानंद की अवस्था को प्राप्त होता है। सच्चा सन्यास शारीरिक नहीं मानसिक होता है। जब मन सतगुरू में लग जाता है तब उसकी इस असार संसार से अपने आप विरक्ति हो जाती है। तब उस व्यक्ति को न घर त्यागने की आवश्यकता होती है और न बाल–बच्चों को या संबंधियों को ही त्यागना होता है। बस! उनमें मोह न रखते हुये राधास्वामी के हवाले कर दो, उसकी शरणागत हो जाओ। जगत् को छोड़ना नहीं है, बल्कि मन को जगत् से हटाकर ईश्वर भक्ति की ओर लगाना है।

संतमत में सतगुरू के प्रति पूर्णरूप से समर्पित कर देना बहुत जरूरी है। इस पराप्रेम की अवस्था में मन अपने आप ही काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा अहंकार से मुक्त हो जाता है और उसका रूख ऊपर की ओर हो जाता है।

प्रेम के मार्ग को अपनाने से मन की शुद्धि हो जाती है और मन के शुद्ध होने से राधास्वामी अवस्था सहज ही प्राप्त हो जाती है। मन की तपस्या का दूसरा सोपान है सौम्यभाव या शान्तभाव। मनुष्य

को दूसरों से बदला लेने की भावना, हिंसा, द्वेष, नफरत, निदर्यता आदि दुर्गुणों से दूर ही नहीं बल्कि इनसे मुक्त भी रहना चाहिए। जब कोई उत्तेजक परिस्थिति आपके सामने आये, उस समय क्रोध में न आकर, शान्त मन से धैर्य के साथ उस परिस्थिति का सामना करना चाहिए। मैंने इस मन के तप को 'No Worry No Hurry' कहा है।

अगस्त 1988

मन की तपस्या में सहज भाव से व्यवहार करना जरूरी है। इस सहज भाव की अवस्था के लिये भी संयम और नियंत्रण किया जाता है, लेकिन यह नियंत्रण अपने ऊपर किसी वस्तु या किसी नियम को जबरदस्ती लागू नहीं करना चाहिए। इसलिए तपस्या चाहे शारीरिक हो, चाहे वाणी की हो, या चाहे मन की हो किसी भी प्रकार से अपने ऊपर जबरदस्ती लागू नहीं करनी चाहिए। सतगुरू के प्रति सच्चा प्रेम रखने से मन का नियंत्रण सहज में ही हो जाता है। हर कदम पर सतगुरू का आदेश ही प्रेमी का मार्गदर्शक बन जाता है। ऐसा करने से उसके जीवन की उलझने समाप्त हो जाती हैं। कानों सुनी और आंखों देखी हुई बात पर भी तुरंत विश्वास मत करो बल्कि कुछ देर प्रतीक्षा करो और सच्चाई जानने के बाद ही अपनी प्रतिक्रिया प्रकट करो।

अक्टूबर 1988

मन के तप के दो और लक्षण हैं–मौन और अन्तःकरण की पवित्रता। मौन रखने से मन की शक्ति बढ़ती है और शरीर भी स्वस्थ रहता है। आवश्यकता से अधिक बोलना एक तो मन की चंचलता को बढ़ाता है, दूसरे शारीरिक शक्ति को भी क्षीण करता है। संतमत में इसके लिए सुमिरन, ध्यान और भजन तीन सोपान बताये जाते हैं। भगवत्गीता में भी मौन का अर्थ **'भगवत्–चिंतन'** बताया गया है। अन्तःकरण की शुद्धि को आत्म–विनिग्रह कहा जाता है। संतमत में इस लक्षण पर अमल करने के लिए परमार्थ में लगने को कहा जाता है। जिसके मन में दया नहीं और जिसका चित कोमल नहीं वह हमेशा दूसरों की बुराई सोचता रहेगा। सुमिरन करने से मन की शक्ति हजारगुना बढ़ जाती है। यदि किसी के अचेतन मन में क्रोध छुपा हुआ है ता वह सुमिरन करने से और ध्यान, समाधि लगाने से पहले से भी अधिक क्रोधी बन जायगा। यही कारण है कि बहुत से सतसंगी नामदान लेने के बाद भी काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्षा और अहंकार के कारण दुखी रहते हैं। अन्तःकरण की शुद्धि का सीधा और सरल उपाय शिव–संकल्प है।

हमेशा इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि मन द्वारा किया गया कर्म बहुत ही शक्तिशाली होता है। अगर आपका मन आशावादी है तो आप जीवन में हर प्रकार से सफल हो सकते हैं। यदि आप मन से कोई भी कर्म सद्भावना से करते हैं तो उसका परिणाम कभी बुरा नहीं हो सकता। सनातन धर्म में यज्ञ, दान, तप और कर्म का बड़ा महत्व है। इन चारों सोपानों का संतमत में भी बहुत महत्व है।

नवंबर 1988

मनुष्य या जीव को कर्त्ता कहते हैं। कर्त्ता कर्म को उत्पन्न करता है। जिस प्रकार विश्वकर्त्ता ने अपने कर्म के द्वारा इस जगत् को उत्पन्न किया है उसी प्रकार जीव अपने कर्मों के द्वारा अपने जगत् का निर्माण करता है। प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण होता है क्योंकि बिना कारण के कोई भी घटना घटित नहीं होती। अतः हर एक घटना का एक विशेष कारण होता है।

प्रकृति के नियम के अनुसार जब हम किसी को शरीरिक दुख देते हैं तो हमें स्वयं को दुख का अनुभव करना पड़ता है। मनोविज्ञान कहता है कि 5 वर्ष तक की आयु के बच्चों को बिलकुल नहीं पीटना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से बच्चे के मन में नफरत पैदा होती है और वह जिद्दी हो जाता है।

देवताओं का शरीर पांच सूक्ष्म तथा तीन गुणों से निर्मित होता है और मनुष्य का शरीर पांच स्थूल तत्वों और मन जो सूक्ष्म है से बना होता है। मनुष्य का शरीर एक स्थूल चादर है जब कि देवताओं का शरीर सूक्ष्म चादर है। परमतत्व का अंश तो सभी जीवों में उपस्थित है–जड़ वस्तुओं में वह अचेतन अवस्था में है, बनस्पतियों में वह अर्द्ध–चेतन और पशु– पक्षियों में वही धार चेतन अवस्था में, जाग्रत में,

चेतन का अनुभव कर रही है। लेकिन जन साधारण उसके इस असली स्वरूप के प्रति चैतन्य नहीं होता, इसलिए जाग्रत अवस्था में शारीरिक सुख दुख का अनुभव करता रहता है।

यदि मनुष्य का मन एक शिशु की भांति शुद्ध और पवित्र नहीं होगा तो उसे परमतत्व का अनुभव तो क्या मालिक का स्वरूप भी दिखाई नहीं देगा। शुरू शुरू में सतसंगी दुखी होकर, भावुकता में अंध–विश्वास के कारण गुरू की शरण में आता है, किन्तु बाद में उसके सतसंगों से प्रभावित होकर अपने आपको गुरू से प्रथक न समझता हुआ गुरू में तन्मय हो जाता है और पूर्ण शरणागत हो जाता है। इस अवस्था को राधास्वामी अवस्था या जीवनमुक्ति की अवस्था कहते हैं। यह अवस्था तभी आती है जब मनुष्य अपनी सभी इन्द्रियों और मन को नियंत्रण में रखते हुये सभी कर्म करे परंतु उनमें फंसे नहीं, उनका दास न बने। अर्थात् सब कुछ सतगुरू को अर्पण कर दे। इस प्रकार के आंतरिक सतसंग को ही 'करनी' कहा जाता है लेकिन 'करनी' तब तक फल नहीं देती जब तक कि 'रहनी' न बने। इसलिए संतमत में कहा जाता है–

यह करनी का भेद है, नाहिं बुद्धि विचार।
कथनी तज करनी करे तब पावे कुछ सार।।

कबीर साहब कहते हैं–

कथनी करे सो पूत हमारा, करनी करे सो नाती।
रहनी रहे सो गुरू हमारा, हम रहनी के साथी।।

अप्रैल 1989

देवर्षि नारद ने भगवान् बाल्मीकि को शब्दयोग ही बताया था जिसमें उन्हें 'राम'–'राम' जपने को कहा था। कहते हैं कि उन्होंने 'राम'–'राम' न कहकर 'मरा'–'मरा' का जाप किया और इसलिए उनके बारे में कहा गया कि **उल्टा नाम जपत, बाल्मीकी भये ब्रह्म समाना**। ऐसी बात नहीं है। उल्टा नाम का मतलब है कि सुरत को, ध्यान को नीचे की ओर बहने से रोककर ऊपर की ओर अर्थात् 'ऊर्ध्वमुखी' करना।

कलियुग में परमतत्व अवतार ने शब्दयोग की सहज विधि इसलिए पनपाई, क्योंकि आवागमन के चक्र में फंसे हुए दुखी जीवों की संख्या बहुत अधिक हो गई है। राजयोग इत्यादि कठिन होने के कारण सर्वप्रिय नहीं बन सके। इसलिए कलियुग में दयाल ने स्वयं अवतार लेकर शब्दयोग का भेद बताया और उसे सरल भाषा में हरएक व्यक्ति के लिए सतसंगों में प्रस्तुत किया। केवल कलियुग के जीवों के लिए नहीं, बल्कि उन ऋषि– मुनियों के लिए भी शब्दयोग ही मोक्ष प्राप्त करने का एकमात्र साधन है जो कलियुग तक उच्चतम परमधाम तक नहीं पहुंच सके। श्रृंगी ऋषि का उद्धार भी शब्दयोग से ही होगा।

मैं यह व्यवस्था इसलिए दे रहा हूं क्योंकि जब–जब मैंने शब्दयोग के आधार पर श्री कृष्णदत्त ब्रह्मचारी को उनके अचेतन समाधि से पहले निर्देश दिया, उन्होंने तुरंत उसी के अनुसार अपने प्रवचन दिये। 1982 और 1984 में मैंने दो बार अमेरिका के शिष्टमंड़लों के सामने बताया कि श्री कृष्णदत्त ब्रह्मचारी को उनकी अचेतन समाधि से पहले जो–जो निर्देश मैंने दिया, उन्होंने उसके अनुसार ही प्रवचन दिया।

इसी प्रकार 15 मार्च को जब मुझे बरनावा (उत्तर प्रदेश में मेरठ के पास) बुलाया गया तो मेरे सत्संग में वैदिक धर्म तथा आध्यात्मिकता के बारे में जो विचार व्यक्त किये गये, श्री कृष्णदत्त ब्रह्मचारी ने उसी दिन मध्यान्ह की अचेतन समाधि में हजारों श्रावकों की उपस्थिति में उन्हीं विचारों की पुष्टि की। चेतन अवस्था में श्री कृष्णदत्त ब्रह्मचारी का व्यवहार एक साधारण व्यक्ति जैसा होता है, किन्तु 1970 से आज तक जब कभी उनका मेरा सम्पर्क होता है, तो उनमें विशेष प्रेम उमड़ता है और उनका चेहरा खिल जाता है। मैं समझता हूं कि यह सब उनके पूर्वजन्म के संस्कारों के कारण होता है और जब वे संस्कार परिपक्व हो जायेंगे तो सुरत–शब्द–योग की दीक्षा के बाद श्रृंगी ऋषि का यह जन्म सफल हो सकता है और उन्हें मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

सभी मत–मतान्तरों में कर्मसिद्धांत को स्वीकार किया गया है। वास्तव में मानव अपने आप में पूर्ण है, क्योंकि उसका आधार परमपुरूष भी पूर्ण है। त्रिगुणत्मक जगत् में आकर कर्मों के संचित होने से वह

मायाजाल में फंस गया है और अज्ञानवश सुख–दुख का अनुभव कर रहा है। वेदमार्ग में कर्मकाण्ड और यज्ञ आदि के द्वारा कर्मों से मुक्ति प्राप्त करने का विधान है। षड्दर्शनों में कर्मों से मुक्ति प्राप्त करने की अलग–अलग विधियां हैं। जैन दर्शन भी तपस्या और पांच महाब्रतों के द्वारा जीव को कर्मों से मुक्त करके उसकी निज अवस्था एवं कैवल्य अवस्था की प्राप्ति का प्रयास करता है।

इन सभी मत–मतान्तरों का यही दृष्टिकोण है कि इन कर्मों से तभी छुटकारा मिल सकता है, जब हम कर्म करते समय निष्काम भाव रखें। इसी शैली को या रहनी को भगवद्गीता में निष्काम कर्मयोग कहा गया है। जैन धर्म तपस्या को निष्काम कर्म समझता है। अद्वैत वेदान्त माया को मिथ्या मानकर अपने आपको ब्रह्म मानते हुए केवल विचार की दृष्टि से माया और कर्म से अलग हो जाने को निष्काम कर्म मानता है, आदि–आदि।

वास्तव में न तो तपस्या द्वारा शरीर को कष्ट देने से और न केवल विचार से **'अहं ब्रह्म अस्मि' (मैं ब्रह्म हूं)** कह देने से कोई भी जीव कर्मयोगी नहीं बन सकता है। यदि कोई ऐसा समझता है कि तपस्या करने से वह अपने निजस्वरूप को पा सकता है, तो वह भूल करता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि तपस्या से या हठयोग से सिद्धिशक्ति प्राप्त हो सकती है लेकिन जीव शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता है। ऐसी सिद्धिशक्ति अहंकार का कारण बनती है और कर्मों से ऊपर उठने के रास्ते में स्कावट डालती है। यही कारण है कि राधास्वामी योग एवं शब्दयोग में गृहस्थ में रहते हु2ए और कर्मों से अलग न होते हुए अपने जीवन के चरम लक्ष्य एवं परमधाम को पा लेने का विधान है। कर्म के त्यागने से नहीं बल्कि कर्म में इस प्रकार महब हो जाने से जीवन्मुक्त अवस्था मिल सकती है कि व्यक्ति तन–मन की सुध खो बैठै।

एक हठयोगी साधु ने 12 वर्ष तक घोर तपस्या की। वह इस प्रकार हठयोग की समाधि की अवस्था में एक वृक्ष के नीचे बैठा हुआ था। वृक्ष पर बैठी हुई एक चिड़िया ने बीठ की और वह बीठ साधु के नंगे शरीर पर पड़ी। वह एक दम चौंक उठा, उसे क्रोध आया। उसने आंखे लाल करते हुए ऊपर की तरफ देखा। ज्यों ही उसकी दृष्टि चिड़िया पर पड़ी वह जलकर राख हो गई और भूमि पर गिर पड़ी। योगी महोदय के मन में यह अहंकार हो गया कि उसे शक्ति मिल गई है। वह समाधि से उठा और शहर की तरफ रवाना हुआ।

शहर के शुरू में ही वह एक मकान के दरवाजे पर रूक गया। उसके हाथ में कमण्डलू था। उसने उस दरवाजे पर खड़े होकर दस्तक दी और उस घर में अपने काम में लगी हुई पतिव्रता स्त्री को सम्बोधन करते हुए **'अलख निरंजन'** शब्द का उच्चारण किया। उसका सतलब यह था कि वह गृहिणी उसके कमण्डलू में आटे की भिक्षा डाले। वह पतिव्रता स्त्री उस समय पानी का भरा हुआ गिलास लेकर अपने पति के सिरहाने खड़ी थी और उसके जागने की प्रतीक्षा कर रही थी। उसके पति ने कुछ समय पहले प्यास बुझाने के लिए पानी मांगा था। जब वह पानी लेकर आई, तो उसके पति की आंख लग गई। इसलिए उस पतिव्रता ने साधु की तरफ ध्यान नहीं दिया। उसका एक साल का बच्चा जलती आग के निकट खेल रहा था। पतिर्वता ने उस बच्चे की ओर भी ध्यान नहीं दिया। उसकी आंखे पति के चेहरे पर जमी हुई थी और मन में यह भाव था कि कब पतिदेव की आंखे खुले और उसकी सेवा सफल हो। यह सब वह सिद्धयोगी दरवाजे पर खड़ा देख रहा था। इतने में छोटा बच्चा खेलते–खेलते जलती हुई आग में गिर गया। योगी को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि आग के ऊपर जिस वर्तन में दूध गर्म हो रहा था वह उबल पड़ा और आग ठण्डी हो गई; उस बच्चे को कोई हानि नहीं हुई।

इसके बावजूद भी उस योगी के अहंकार में कमी न आई। उसके मन में यह क्षोभ (क्रोध) था कि उस स्त्री ने उसकी आवाज को अनसुनी क्यों कर दिया। जब उसके मन में यह उथल–पुथल हो रही थी, ठीक उसी समय उस स्त्री के पति की आंख खुली और उसने उसे जल पिलाया। वह तुरंत रसोई में गई और आटा लेकर योगी की ओर बढ़ी। सिद्धयोगी की आंखे लाल हो गईं। उसने उन्हीं क्रोधभरी आंखों से उस पतिव्रता स्त्री को देखा। उस स्त्री ने तुरंत मुस्करा कर कहा, "योगी महाराज! मैं कोई चिड़िया नहीं हूं कि आपकी सिद्धिशक्ति से जलकर राख हो जाऊँ।" योगी नतमस्तक हो गया। उसका अहंकार जाता रहा। उसने बड़े अदब से उस पतिव्रता को कहा, "हे देवी! मुझे

यह बता कि तुम्हारे में उस चिड़िया के भस्म होने की घटना के जानने की सिद्धिशक्ति कहां से आई?"

उस स्त्री ने योगी को सम्बोधित करते हुए कहा, "योगीराज! यहां से करीब 20 मील दूर एक गांव है, जिसमें धर्मव्याध नाम का कसाई रहता है। आप उसके पास जाइये तो आपको इस भेद का पता चल जायेगा। यह योगी तुरंत उस गांव की ओर चल पड़ा और सार दिन चलते—चलते थका—मांदा रात तक धर्मव्याध के गांव में पहुंचा। रात को विश्राम करने के बाद भिक्षा मांगकर और कुछ खा—पीकर पूछते—पूछते धर्मव्याध की दुकान पर पहुंचा। धर्मव्याध मांस काट—काट कर अपने ग्राहकों को बेच रहा था। ग्राहकों की लम्बी पंक्ति लगी थी। सिद्धयोगी को दोपहर तक इंतजार करना पड़ा। जब धर्मव्याध अपने व्यापार से फ़ारिग हुआ और दुकान को बंद करने लगा तो योगी उसके निकट पहुंचा। धर्मव्याध ने तुरंत योगी को सम्बोधित करते हुए कहा, "क्या आपको शहर में रहने वाली पतिव्रता स्त्री ने मेरे पास भेजा है?" योगी ने आश्चर्य चकित होकर धर्मव्याध से पूछा, "महोदय! तुम कसाई का काम करते हो और बकरे काटते हो। इस प्रकार हिंसक होते हुए भी तुम्हें दूर की घटना जानने की सिद्धि कैसे मिली?"

धर्मव्याध ने उत्तर दिया, "आप मेरे घर पर चलें और दिन—भर मेरे साथ रहें। मेरी दिनचर्या को देखकर आपको स्वयं ज्ञान हो जायगा कि मेरे मन की एकाग्रता किस प्रकार होती है।" योगी धर्मव्याध के घर पर गया। धर्मव्याध ने शाकाहारी भोजन बनाया और सबसे पहले अपने वृद्ध माता—पिता को खिलाया। रात्रि को भी उसने माता—पिता की सेवा की। योगी उसकी दिनचर्या को देखता रहा। प्रातःकाल उठते ही धर्मव्याध माता—पिता की सेवा में लग गया। उसने योगी को सम्बोधित करते हुए कहा, "योगी महाराज! मैं अपने माता—पिता की सेवा में लगा रहता हूं, इसी कारण मुझे सर्वज्ञता की सिद्धि मिल गई।" यह सब अनुभव करने के बाद योगी का अहंकार जाता रहा।

इस दृष्टांत का मतलब यह है कि योगसाधना, निष्काम कर्म, तपस्या या भक्ति का लक्ष्य स्वार्थसिद्धि नहीं होना चाहिए। भक्ति के लिए कर्म, कर्मभोग के लिए ही किया जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में कर्म में महब हो जाना मन की एकाग्रता है और योगसाधना है। इसी दृष्टि से भगवान् कृष्ण ने पहले अर्जुन को सन्यासयोग एवं ज्ञान द्वारा कर्मों से ऊपर उठने की शिक्षा दी। राजयोग की यह शिक्षा साधक को मन की सभी वृत्तियों से अलग होने एवं उनका दमन करने का आदेश देती है। इस त्याग के मार्ग को अपनाना सन्यास या सांख्ययोग है। राजयोग के सबसे ऊँचे अनुभवी ऋषि पतंजलि ने कहा है, **"योगश्चित्तवृत्ति निरोधः"** अर्थात् योग चित्तवृत्तियों को शान्त कर देना है। किन्तु भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को कहा कि गृहस्थी के लिए कर्म में लग जाना ही अर्थात् उसे प्रवीणता तथा कुशलता से सम्पन्न करना ही योग है। उन्हीं के शब्दों में—**"योगः कर्मसु कौशलम्"**

अर्थात् कर्म में प्रवीणता से लग जाना ही योग है। इस सहज योग की सरल रीति शब्दयोग कहलाती है। हमारे मानवता मंदिर में भी ऐसे निष्काम कर्मयोगी हैं जो बिना किसी स्वार्थ के और केवल सेवाभाव से कर्म करते हैं। इनमें से एक कर्मयोगी हैं रिटायर्ड सतसंगी श्री जे0 आर0 बाली जो करीबन 6 वर्षों से मानवता मंदिर के हिसाब—किताब की जांच—पड़ताल करते हैं और किसी प्रकार का वेतन नहीं लेते। वैसे और भी बहुत से कर्मचारी हैं जो मंदिर की निष्काम सेवा करने में लगे हुए हैं। उनमें से श्री एस0 एन0 भारद्वाज, श्री के0 एल0 सेठी और आचार्य शब्दानन्द उल्लेखनीय हैं।

जुलाई 1989

सगुण रूप की भक्ति करने वाला माया में अर्थात् अनेकत्व में उसी एक स्वरूप का अनुभव करने लगता है, जिसको उसने सगुण इष्ट माना है। केवल ज्ञान अपने आपमें कोरा है। जब तक ज्ञान प्रेम में नहीं बदलता तब तक वह वाचक ज्ञान कहलाता है। मालिक की योगमाया एवं सृजन— शक्ति को प्रेम और भक्ति के द्वारा वश में किया जा सकता है और ब्रह्म के सच्चे ज्ञान को जीवन में उतारा जा सकता है। अनेक के पीछे एक, द्वैत के पीछे अद्वैत और माया के पीछे ब्रह्म छिपा रहता है।

जिस व्यक्ति की आत्मा का संबंध परमततव से हो गया है और जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है और जिसका मन अनुशासन में रहता है और जिसने ज्ञानेद्रियों को वश में कर लिया है, ऐसा

व्यक्ति सभी प्राणियों में उस परमततव का अनुभव करने लगता है। ऐसा व्यक्ति कर्म बंधंन से मुक्त हो जाता है। दूसरे शब्दों में माया और काल से मुक्त होने का एक मात्र उपाय यह है कि अपने इष्ट से इतना प्यार करो कि हर प्राणी में तुम्हें अपना प्रीतम ही नजर आने लगे। ऐसी अवस्था में मनुष्य का अविनाशी अंश शरीर और मन को छोड़कर परमतत्व में विलीन हो जाता है।

अगस्त 1989

वाचक वेदान्ती **'अहम् ब्रह्म अस्मि'** के अहंकार में फंसकर यह समझने लगता है कि वह स्वयं ब्रह्म हो गया है और बह्म उसी में रहता है अर्थात् ब्रह्म उस पर निर्भर रहता है। जबकि वास्तविकता यह है कि सभी जीव ब्रह्म में रहते हैं और ब्रह्म पर ही निर्भर रहते हैं। वास्तव में ईश्वर हममें नहीं रहता बल्कि हम ईश्वर में रहते हैं। ईश्वर का अविनाशी एवं साक्षी भाव हममें अवश्य मौजूद रहता है। भगवद्गीता में भगवान कृष्ण कहते हैं– **'मामैवांशो जीवलोके'** अर्थात् लोक–लोकान्तरों में जितने भी जीव हैं वे मेरे ही अंश है या मैं उनमें अंश रूप में हूं। जब उसकी मौजूदगी का अनुभव हो जाता है तो अंश और अंशी का भेद समाप्त हो जाता है।

नवंबर 1989

दर्दे दिल से जब कोई उस मालिक को पुकारता है तो उसकी पुकार तुरंत सुनी जाती है क्योंकि मांग और पूर्ति के नियम के मुताबिक प्रकृति ऐसी परिस्थितियां पैदा कर देती है कि उस मांग को पूरा होने से कोई नहीं रोक सकता।

दिसंबर 1989

यदि हम बिना किसी स्वार्थ और अहंकार के कर्म करते हैं तो हम पूर्णता को प्राप्त कर सकते हैं। उन लोगों के लिए एक स्थान पर बैठकर घंटों समाधि लगाने की आवश्यकता नहीं है। आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त करने के लिए सामान्य योग के द्वारा सभी वासनाओं को त्यागना पड़ता है जिससे कि साधक समाज और सम्प्रदाय से ऊपर उठकर शिवसंकल्प द्वारा मन की एकाग्रता को प्राप्त कर सके। यह विधि धीरे– धीरे जगत् से अलग होने की विधि है जिसे सांख्ययोग भी कहते हैं। किंतु यह विधि वैराग्य की नहीं है अपितु अनुराग की है, जिसे कर्मयोग भी कहा जाता है। कर्म की कुशलता ही योग कहा जाता है।

जनवरी 1990

यदि कोई काम दृढ़ संकल्प और सद्भावना से किया जाता है तो कुदरत सभी रूकावटों को दूर कर देती है। यही कारण है कि सतसंगियों की सभी कामनायें विश्वास और शुभकामना के कारण पूरी हो जाती हैं। चूंकि आम आदमी को अपने ऊपर विश्वास नहीं होता, इसलिए वह बाहर का सहारा चाहता है लेकिन बाहर का सहारा नष्ट हो सकता है। जब वह इष्ट को सहारा मान लेता है, तब उसका विश्वास बढ़ने लगता है।

वह इष्ट जीवित गुरू भी हो सकता है और किसी देवी–देवता की मूर्ति भी हो सकती है। लेकिन एक बार इष्ट धारण कर लेने के बाद उस साधक को उस इष्ट पर अटूट विश्वास करने की जरूरत होती है तभी उस इष्ट से उसको कुछ लाभ हो सकता है। इसलिए कहते हैं कि विश्वास न रखने वाले को मूर्ति आदि का अपमान करने पर कोई हानि नहीं होती परंतु विश्वास रखने वाले व्यक्ति को इससे जरूर हानि पहुंच सकती है। जहां तक दुनियावी इच्छाओं की पूर्ति का संबंध है, वह तो देवी–देवताओं की भक्ति से भी पूरी हो सकती है मगर जीवन–मुक्ति की अवस्था केवल जीते–जागते सतगुरू की शरण से ही प्राप्त हो सकती है।

जो सतसंगी इस बात को समझ जाता है कि दिवंगत सतगुरू और संतसतगुरू–वक्त में कोई भेद नहीं है तो उसका लोक और परलोक दोनों बन जाते हैं। जो ऐसा नहीं समझते वह कहीं के नहीं रहते–उनका न लोक बनता है और न परलोक। जब तक राधा का स्वामी से मिलन नहीं होता तब तक उसकी तड़फ नहीं मिटती, किन्तु

राधा बनने के बाद धारा में बहता हुआ जीव राधास्वामी अवस्था को प्राप्त करने का अधिकारी बन जाता है।

मई 1990

आम सतसंगी तो क्या, बड़े–बड़े अभ्यासी, साधक, प्रचारक और गुरू का काम करने वाले भी यही समझते हें कि केवल सुमिरन, ध्यान और भजन ही परम लक्ष्य है परंतु सच्चाई यह है कि ये साधन मात्र हैं, साध्य या लक्ष्य नहीं हैं। लक्ष्य तो इन साधनों से परे शरीर, मन और आत्मा से ऊपर उठकर उस अवस्था को प्राप्त करना है जहां सभी भेद–भाव समाप्त हो जाते हैं। मन जब ठहर जाता है तो शारीरिक दुख–सुख भूल जाता है। इस अवस्था में सिद्धि–शक्ति आ जाती है और साधक प्रसन्न रहने लगता है। परंतु यह भी मंजिल नहीं है। मंजिल तो इन सबसे ऊपर उठकर चौथेपन की अवस्था को पाना है जहां केवल आनंद ही आनंद रहता है।

सतसंगियों को चमत्कारों तक सीमित नहीं रहना चाहिए बल्कि इन घटनाओं से प्रेरणा लेनी चाहिए और गुरू के अविनाशी रूप को समझकर उसे साक्षात् परमतत्व मानकर प्यार करना चाहिए। ऐसा करने से उनका लोक भी बन जायगा और परलोक भी बन जायगा। अगर आप गुरू को रोग दूर करने वाला जादूगर मानकर ही उसका ध्यान करेंगे तो आपका रोग तो दूर हो जायगा परंतु आप रूहानियत में आगे नहीं बढ़ पांयेगे।

जब हम अपने असली स्वरूप, जो शरीर, मन, बुद्धि, चित्त अहंकार से परे है, को भूल जाते हैं तो शारीरिक और मानसिक सुख– दुख में उलझ जाते हैं और हमें तीन–ताप सताने लगते हैं–शारीरिक दुख, मानसिक क्लेश और आत्मिक अज्ञान।

गुरू का फर्ज है कि वह जिज्ञासु सतसंगी को सच्चा ज्ञान दे और उसकी फितरत के मुताबिक ऐसा रास्ता बताये जिससे धीरे–धीरे उसके कर्म कट जांय और वह संसार के समस्त कार्य सामान्य रूप से करता हुआ इसी जन्म में जीवन–मुक्ति की हालत में पहुंच जाय। गुरू सच्चे जिज्ञासु को समझा देता है कि वह पूर्ण का अंश है और उसमें पूर्ण बनने की क्षमता मौजूद है लेकिन अज्ञानवश वह अपने को अपूर्ण समझ कर दुखी है। वास्तव में मालिक का अवतार मनुष्य के रूप में इसलिए होता है ताकि वह यह मिसाल कायम कर सके कि मनुष्य होते हुये भी व्यक्ति एक ही जीवन में पूर्ण बन सकता है। इस प्रकार जीव पूर्ण का ज्ञान प्राप्त करके पूर्ण तो बन जाता है परन्तु वह मालिके–कुल नहीं बन सकता। जिस प्रकार सूर्य की किरण सूर्य का अंश है और बूंद सागर का अंश है, ये अपने आप में पूर्ण हैं परन्तु ये स्वयं में सूर्य या सागर नहीं हैं, उसी प्रकार एक जीव भी पूर्णता प्राप्त करके मालिक नहीं बन जाता अपितु अपने भंडार से मिलकर आवागमन से मुक्ति पा सकता है।

मनुष्य की रूहानियत की छिपी हुई ताकत को निखारने के लिये सभी धर्मों में एक जैसे ही नियम बताये गये हैं। जो भेद हमें नजर आता है वह सिर्फ बयान करने के ढ़ंग में है। ये नियम बुनियादी तौर पर चार हैं–यज्ञ यानी कुर्बानी, दान, तपस्या और कर्म। यज्ञ का मतलब है कि मनुष्य अपनी छिपी हुई रूहानियत को निखारने के लिये काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार को दूसरों की सेवा में अर्पण कर दे। दान का अर्थ है अपनी किसी भी वस्तु को अपनी इच्छा से बिना किसी बदले की भावना से या प्रतिफल की इच्छा से अन्य किसी को देना। जो भी हम दूसरों को देते हैं वही हमें प्रतिफल के रूप में मिलता है, यह नियम है। हम गाली देते हैं तो गाली मिलती है, नमस्ते कहते हैं तो नमस्ते मिलती है, नफरत करते हैं तो नफरत मिलती है और प्यार के बदले में प्यार मिलता है।

जून 1990

भक्त वह है जो विभक्त नहीं है, जो अपने प्रियतम से हमेशा जुड़ा रहता है, वही सच्चा भक्त है। ज्ञान दाता गुरू से प्यार करना बाहरी गुरू भक्ति है और गुरू के वचनों को सुनकर, विचार करके उनका सार निकालकर अमल में लाना यह असली गुरू भक्ति है। क्योंकि जब तक गुरू के वचनों पर अमल नहीं किया जाता तब तक सतसंग का भी कोई लाभ नहीं होता। जब गुरू किसी सतसंगी को कोई खास काम या सेवा करने की सलाह देता है तो उसके द्वारा

निस्वार्थ कर्म करते रहने से उसका मन टिक जाता है। सत्य तो यह है कि असली भक्त तो उठते–बैठते, खाते–पीते, सोते–जागते हर समय अपने इष्ट का सिमरन करता रहता है। इस तरह लगातार अभ्यास करते रहने से वह सुख–दुख, लाभ–हानि, जय–पराजय आदि द्वंद्वों से ऊपर उठ जाता है और वह किसी से ईर्षा–द्वेष नहीं करता। इसी हालत को जीवन–मुक्ति की हालत कहते हैं। भक्त की एक हालत ऐसी भी हो जाती है जब उसे हर जगह मालिक ही दिखाई देता है। उस समय उसे यह होश नहीं रहता कि वह है या नहीं है; वह अपने आप में ठहर जाता है। इस दशा को निज धाम की हालत या मंजिले मकसूद कहा जाता है।

सच्चाई की खोज करने के लिये विज्ञान ने जाति, राष्ट्र, सम्प्रदाय और तंग दिली से ऊपर उठकर मानवमात्र को एक दूसरे के निकट लाने का प्रयास किया है और सामाजिक तथा रूढ़िवादी दीवारों को हटाया है, परन्तु इसके विपरीत धर्म ने अपने आपको हिन्दुमत, बुद्धमत, जैनमत, ईसाईमत, पारसीमत, यहूदीमत, सिखमत, इस्लाम आदि मतों में कैद कर लिया परिणामस्वरूप मनुष्य जाति धर्मों एवं सम्प्रदायों में बंटकर टुकड़े–टुकड़े हो गई। इसके विपरीत वैज्ञानिक अपने अनुभव एक दूसरे से बांटते हैं इसलिये विज्ञान ने तरक्की की है और धार्मिक नेता चूंकि अपने को बड़ा और दूसरों को छोटा समझते हैं और झगड़ते हैं इसलिऐ इन सबको ईश्वर का पूर्ण ज्ञान नहीं हो पाता।

मानवता और दानवता दोनों ही मनुष्य के अन्दर मौजूद हैं। मानवता धर्म का उददेश्य है मनुष्य के अन्दर छिपी हुई मानवता को उभारना और दानवता को धीरे–धीरे समाप्त करना। सच्चा मानव वही है जिसमें विवेक और ज्ञान होता है और सच्चा विवेक और ज्ञान तो सत्गुरू से ही मिलता है। एक अंधा दूसरे अंधे को रास्ता नहीं दिखा सकता। सच्चे सत्गुरू का पहला लक्षण यही है कि वह स्वयं अनुभवी हो। वह शिष्य को निष्काम भाव से निस्वार्थ भाव से प्रेम करके सच्चा रास्ता बताये। ऐसे गुरू का प्रत्येक शिष्य यही समझता है कि गुरू जी उसे ही सबसे ज्यादा प्रेम करते हैं।

आप हमेशा मालिक को अन्तर में याद करते रहें और अपनी समस्या और चिंतायें मालिक को सुपुर्द करते रहें तो उस मालिक की मौज से आपकी सभी समस्यायें दूर हो जांयगी।

अगस्त 1990

मेरे जीवन में सैकड़ों अनुभव ऐसे हैं जिनसे यह साबित होता है कि अगर आप जीवन में यह न भूलें कि आप मालिक नहीं बल्कि मातहद है और आपकी बागड़ोर उसी परमतत्व मालिके–कुल के हाथ में है, जिसका विष्णु रूपी ब्रह्माण्डी अंश इस सारे जगत् की रक्षा कर रहा है, तो आपको कभी भी किसी भी परिस्थिति में निराशा नहीं हो सकती। नाम सुमिरन का यही मतलब है कि हम हर पल, हर क्षण उस मालिक की तलाश में सजग रहें और निश्चिन्त रहें। क्योंकि आम आदती यह भूल जाता है कि उसका मन ही विष्णु है और जब उसका मन किसी बिन्दु पर टिक जाता है, तो उसके अन्दर विष्णुशक्ति रूप धारण करके, उसकी पल–पल रक्षा करती है। इसलिए जीव को शुरू–शुरू में सहारे या बाहरी गुरू से प्रेम करने की जरूरत रहती है। अगर यह प्रेम ऐसे सच्चे सद्‌गुरू से है, जिसने अपना जीवन परमार्थ में लगा रखा है और जो अपने सच्चे अनुभव को इसलिये बांटता है कि उसके सम्पर्क में आने वाले सभी लोग, शरीर से आजाद हो जायें, तो साधक के लिए यह सोने में सुहागा होता है।

साधक जब बाहर की वस्तुओं, देवी–देवताओं की पूजा आदि करने में अपना समय नष्ट न करके, केवल एक ही सद्‌गुरू पर ध्यान लगाता है, तो वह बहिर्मुखी न होकर गुरूमुख बन जाता है। गुरूमुख वह है, जो अपने जीवत इष्ट को परमतत्व मानकर, हर काम करते समय गुरू की मूर्ति का ध्यान रखता है और सदैव उसकी आज्ञा का पालन करता है। ऐसा श्रद्धा और प्रेम युक्त साधक मनमुख न होता हुआ, गुरू के प्रेम में ओत–प्रोत होकर अपनी "मैं" को भूल जाता है और उसे सब जगह 'तू' ही 'तू' दिखाई देता है। इसी अवस्था को जीवन्मुक्त अवस्था कहा जाता है। जीवन्मुक्त भक्त बाहर के सभी सहारों

को छोड़कर, अन्तर्मुखी हो जाता है और वह दाता दयाल जी के नीचे दिये गये शब्द को अपने जीवन पर लागू कर देता है:—

न हो हमारा किसी से नाता, न हम किसी का सहारा ढूंढें।
रहें सदा तेरे ही सहारे, दयाल दाता कृपाल स्वामी।।

मेरे प्यारे सतसंगी भाई और बहनों! इसीलिये मैं आपके विश्वास को, सच्चाई बताकर तोड़ता नहीं हूं बल्कि उसे और भी मजबूत बना देता हूं। यही कारण है कि मै आपको हर मासिक संदेश में सच्चे अनुभव बताता रहता हूं। ऐसा करने में मेरा कोई निजी स्वार्थ नहीं रहता। हां उसमें एक लक्ष्य सामने अवश्य रहता है और वह यह है कि मैं अपने परमगुरू परम दयाल जी महाराज की आज्ञा का हर क्षण पालन करता रहूं और जो व्यापक प्रेम की अवस्था मुझे मिली है, उसको आपसे बांटता रहूं। मेरे इसी व्यवहार से, सतसंगों के द्वारा, लेखों के द्वारा और मासिक संदेश के द्वारा आप पर अच्छा प्रभाव अवश्य पड़ेगा। आप एक न एक दिन मेरे जैसे बन जायेंगे और मौज में रहने लगेंगे।

सितंबर 1990

सतसंग ही मनुष्य की छुपी हुई पूर्णता को निखारता है और उसे परमपद पर पहुंचा देता है। सत् का अर्थ है अकाल पुरूष, दयाल पुरूष या परात्पर बह्म। उसी की प्राप्ति को लिए जप, तप, संयम, नियम किया जाता है। इसलिए सतगुरू के सम्पर्क में आना एवं उसका संग करना मनुष्य के जीवन को सफल बनाना है। लगातार गुरू के नजदीक रहने से प्रेम एवं भक्ति उमड़ती है। उसके बाद सतगुरू ऐसे जिज्ञासु सतसंगी को सच्चे एवं सहज साधन का रास्ता बताता है। इसमें सतसंगी उसी का सुमिरन ध्यान करते—करते अपने आपको भूलकर अपने प्रियतम में समा जाता है और उसका जीवन सुधर जाता है। सुधरने का मतलब है राधा को उलट कर धारा में मिला देना। इस प्रकार संतमत में सतसंग, सतगुरू और सतनाम सहज ही मिल जाते हैं।

श्रद्धा और विश्वास ही अभ्यास की सफलता के लिए और यहां तक कि साक्षात्कार के लिए भी बहुत जरूरी है। सिद्ध पुरूष भी अपने अंदर में मौजूद ईश्वर का दर्शन बिना श्रद्धा और विश्वास के नहीं कर सकता।

दिसंबर 1990

गुरू को धारण करने के बाद संसार से संबंध टूट नहीं जाते बल्कि उनका रूप निखर जाता है जिससे सांसारिक आवश्यकताऐं, इच्छायें और वासनाऐं अपने आप तृप्त हो जाती हैं और वह उनसे आजाद भी हो जाता है। **जैसे बाढ़ में आई हुई नदियां जब समुद्र में प्रवेश करती हैं तो समुद्र में क्षोभ पैदा नहीं करतीं बल्कि स्वयं शान्त हो जाती हैं। इसी प्रकार गुरू की शरणागत होने से सतसंगी भी ऐसी अवस्था को प्राप्त कर लेता है।** गुरू की शरीरिक, मानसिक और आत्मिक सेवा करने से भक्त अपने आप ही तीनों दर्जे पार करके चौथे दर्जे पर पहुंच जाता हैं सतसंगी सतगुरू के सालोक्य से निकल कर उनके सन्निकट आ जाता है, इसे सानिध्य कहते हैं। तीसरी मंजिल जीवनमुक्ति एवं सारूप्य की अवस्था है जहां उसका रूप गुरू जैसा ही हो जाता है। चौथी अवस्था सायुज्य की है। यह केवल डुबकी लगाकर गंगा के जल का रूप धारण करना ही नहीं है बल्कि उसमें मिलकर 'तू' और 'मैं' से परे की अवस्था को प्राप्त कर लेना है।

जनवरी 1991

जब व्यक्ति को यह अनुभव हो जाता है कि गुरू आंशिक रूप से जड़ और चेतन में मौजूद है और पूर्ण रूप से अलख, अगम और अनामी दयाल है तो वह शरीर धारी गुरू को मनुष्य न मानकर सत्पुरूष स्वीकार करके अपना सब कुछ उसको समर्पित कर देता है। नर देही प्राप्त करने का सार यही है कि मनुष्य मानव—मात्र की सेवा करे और प्रत्येक प्राणी में उस परमतत्व को मौजूद मानकर सभी से प्यार करे। जो व्यक्ति इस प्रकार की सेवा करता है, उसी की साधना सफल होती है। ईश्वर किसी धर्म, सम्प्रदाय, समाज अथवा राष्ट्र की निजी सम्पत्ति नहीं है। वह सबका है, सबमें है और सबसे न्यारा भी है। उसका कोई रूप नहीं है और सभी रूप उसी के हैं।

मार्च 1991

जब शब्द गुप्त रहता है एवं परात्पर बह्म अव्यय और अक्षर ब्रह्म की अवस्था में रहता है तो उसकी वह अवस्था अनामी कहलाती है। जब वह विश्वातीत अक्षर बह्म परमपुरूष के रूप में प्रकट होता है और उसके अंदर सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय गुप्त रहती हुई भी मौजूद रहती हैं तो उसे आत्माक्षर एवं पुरूषोत्तम परमपुरूष कहा जाता है। जब यही पुरूषोत्तम जिसे संतसत्पुरूष कहते हैं विश्वरूप में प्रकट होता है तो वह पुरूष और प्रकृति बनकर, स्वामी और राधा बनकर, शब्द और सुरत में व्यक्त होकर कोटि–कोटि ब्रह्माण्ड में फैल जाता है।

जब गुप्त शब्द से व्यक्त शब्द पैदा हुआ अर्थात् स्वामी प्रकट हुये, तो उसमें से जो धार निकली, उसने सृष्टि की रचना की और अनेक स्तरों में सुरत और शब्द के अनेक नमूने बनाती हुई, व्यापक विश्वरूप बन गई। सृष्टि के यही दर्जे **भूर्, भुवः, स्वः, मनः, जनः, तपः, सत्यं** कहलाते हैं, जो विश्व में व्यापक हैं और मनुष्य के अंदर भी मौजूद हैं। जब जीव स्वामी से अलग होकर धारा में बहते हुये इन जगत् में आये, तब उन्हें अनुभव हुआ कि वे अपूर्ण हैं एवं अधूरे हैं। जीवों को अपने प्रियतम से मिलाने के लिये हर युग में राधास्वामी परमतत्व अवतार लेता आया है। सभी युगों के अलग–अलग विधि विधान रखे गये हैं। जैसे सतयुग में ध्यान–समाधि, त्रेता में यज्ञ, द्वापर में पूजा एवं भक्ति और कलियुग में नाम की भक्ति। नाम की भक्ति को संतमत में सुरत–शब्द–योग या सहज योग कहते हैं।

भेद–भाव या द्वन्द्व उस समय कोई मायने नहीं रखते जब हम मालिक की व्यापकता का अनुभव कर लेते हैं। सच्चा प्रेमी सिवाय अपने प्रीतम के कुछ और नहीं देखता। वास्तव में इस जगत् में सिवाय प्रीतम के कुछ और है भी नही। यह हमारा भ्रम है कि कोई हमारा शत्रु है या मित्र है। हम खुद अपने ही विचारों और संस्कारों से किसी को अपना मित्र और दूसरे को अपना शत्रु समझने लगते हैं। वास्तव में हमें भेद–भाव तभी सताता है जब हमारी मनोवृतियां बिखरी हुई होती हैं। जब हमारा मन अपने प्रीतम में टिक जाता है तो शत्रु और मित्र का भाव स्वतः ही समाप्त हो जाता है।

सच्चा सतगुरू स्टेशन मास्टर है, जो आपको सच्चा ज्ञान देता है और सच्ची राय देता है। यदि स्टेशन मास्टर आपको सच्ची राय नहीं देता और किसी लालच में आपको झूठा आश्वासन देता है कि वह अमुक गाड़ी को लेट करा देगा या उसका स्टाप न होते हुये भी वहां खड़ी करा देगा तो आप स्वयं ही पहचान लो कि उसका परिणाम क्या होगा? और उसके मुसाफिरों पर क्या–क्या मुसीबतें आयेंगी?

अप्रैल 1991

इस जगत् में कोई भी कर्म अपने आप में न अच्छा है और बुरा ही है। अच्छाई और बुराई तो हमारी भावना पर निर्भर करती है। एक ही कर्म एक व्यक्ति के लिए शुभ हो सकता है और दूसरे के लिए अशुभ हो सकता है, एक काल या देश मे शुभ तो दूसरे में अशुभ हो सकता है। यदि कर्म का करने वाला किसी कर्म को सद्भावना से, सच्चे प्रेम से प्रेरित होकर दूसरे के हित के लिए करता है तो वह कर्म शुभ माना जायगा चाहे उसका बाहरी परिणाम कुछ भी क्यों न हो। ऐसा कर्म कभी भी जीव को बंधन में नहीं ड़ालता।

एक बार मैंने परमदयाल जी से कहा था, 'मैं नहीं चाहता कि सतसंगी मेरी आरती उतारें क्योंकि ऐसा करने से मेरे अचेतन मन में हो सकता है कि यह भावना आ जाय कि मैं कुछ बन गया हूं।' परमदयाल जी महाराज ने मुझे बड़े प्रेम से कहा कि तुम्हारा दृष्टिकोण बिलकुल ठीक है किन्तु जब तुम भोले–भाले सतसंगियों को ऐसा करने से मना करोगे तो उनके मन को ठेस लगेगी। उनके आदेश का पालन करते हुए और यह जानते हुए कि सतसंगी आरती करते समय अपनी ही आरती करते हैं मैं अपनी आंखें बंद करके ध्यान में चला जाता हूं और अपने आपको उस मालिक के सुपुर्द कर देता हूं। ऐसा करने से सतसंगियों की भावनाओं को भी ठेस नहीं पहुंचती और मुझे भी अहंकार नही व्याापता।

प्यारे सतसंगियों! अपने घरों में भोजन करते समय हमेशा प्रसन्न मुद्रा में रहें और राधास्वामी का सुमिरन करना न भूलें। ऐसा करने से यह भोजन अमृत बन जायगा। ग्रहणियों को चाहिए कि वे भोजन बनाते समय और खिलाते समय कभी भी पति और बच्चों से या किसी पर भी क्रोध न करें। जिस घर में खाना बनाते समय या खिलाते समय क्रोध या नफरत का व्यवहार होता है वहां भोजन विष बनकर अनेक शारीरिक और मानसिक बीमारिया पैदा करता है। जिस प्रकार मेरे प्रेम की अनन्त धारा आप तक पहुंच कर आपको खुशी देती है उसी प्रकार आपकी आत्माओं को छूकर वही प्रेम की धारा जब उलट कर और राधा बनकर मेरे पास लौटती है तो उसकी शक्ति हजारों गुना ज्यादा हो जाती है। प्रेम मार्ग पर चलते हुए ज्ञान–ध्यान, कर्म–काण्ड और पूजा–पाठ की कोई जरूरत नहीं रहती, सच्चा प्रेमी केवल प्रेम करते हुए ही पराभक्ति के उच्चतम योग के जरिये परमधाम तक पहुंचने का अधिकारी बन जाता है।

मालिक के साक्षात्कार का अधिकार केवल उसी व्यक्ति को है, जो सांसारिक धारा में न बहकर अर्थात् धारा से उलटकर राधा बन जाता है। ऐसा व्यक्ति शरीर, मन, आत्मा एवं सुंरत से पूर्णतया सतगुरू के प्रेम में ओत–प्रोत होता हुआ सहज में ही सांसारिक इच्छाओं और मोह माया के बंधन से ऊपर उठ जाता है। ऐसे व्यक्ति की कामनाऐं और वासनाऐं तृप्त करने के लिए साधन नहीं जुटाने पड़ते, उसकी सभी कामनायें और वासनायें उचित रूप से स्वयं ही तृप्त हो जाती हैं और वह सत्यं, शिवम् और सुन्दरम् की मिलौनी बन जाता है। उसका लोक भी बन जाता है और परलोक भी बन जाता है।

मई 1991

जब हमारी दृष्टि समुद्र के रूपों पर, समुद्र की लहरों पर, समुद्र के किनारे पड़े हुए शंख और मोतियों पर होती है तो हम समुद्र को और उसके हिस्सों को अलग–अलग तथा अनेक मानते है। वास्तव में समुद्र की बूंदें, लहरें आदि आंशिक रूप से समुद्र ही हैं। जब हमारी दृष्टि समुद्र की पूर्णता पर रहती है तब हम समुद्र के उन सब अंशो को एक ही मानते हैं। इस प्रकार समुद्र एक भी है और अनेक भी है। वास्तव में अनेकत्व का भेद हमारी दृष्टि में है, हमारे मानने में है। सोने के अनेक प्रकार के गहने बनते हैं और सभी अपने–अपने नामों से जाने जाते हैं मगर मूलतः तो वे सोना ही हैं। इसी व्यापक दृष्टि को समदृष्टि भी कहते हैं। सतगुरू के सतसंग में अनेक के पीछे जो एक तत्व है उसकी समझ आने लगती है, उसका अनुभव होने लगता है। इसी को जीवनमुक्ति की हालत कहा जाता है। प्रेम की यह खूबी है कि प्रेमी अपने प्रियतम को कभी नहीं भूलता, हर जगह उसे अपने प्रियतम की ही झलक दिखाई देती है।

हमारे अंदर पिंघला नाड़ी के द्वारा अच्छे विचारों की धारा बहती है, इड़ा नाडी में बुरे विचारों की धारा का प्रवाह होता है, जबकि सुषुमना नाड़ी सरस्वती का प्रतीक है, जो हमारी संकल्प शक्ति कहलाती है। इस संकल्प शक्ति के द्वारा हम अच्छे या बुरे विचारों को, अच्छे या बुरे कर्मों में बदल देते हैं। जब हम किसी कर्म को निजी स्वार्थ के लिये करते हैं तब ये कर्म हमें उस समय बंधन में ड़ालते हैं। यदि कर्म करते समयं हमारा संकल्प शुद्ध हो और हम उसको ईश्वर प्राप्ति के लिए करते हैं तो वह कर्म हमें बंधन में नहीं बांधेगा। यदि हम सतगुरू से इतना प्रेम करें कि हमारा संकल्प भी संकल्प न रहे तो उस पराप्रेम एवं पराभक्ति की धारा में हम जीवनमुक्त अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं।

जून 1991

प्रकृति के विधान में हमेशा विचारों का सिद्धांत या नियम काम करता है। समस्त विचारों का आकाश में निवास रहता है। एक सच्चे व्यक्ति के विचार हमेशा के लिए प्रभावशाली होते हैं। जब कभी किसी को उन विचारों की आवश्यकता महसूस होती है तब प्रकृति उन विचारों को उस व्यक्ति तक पहुंचा देती है। जब भी कोई दुखी जीव मेरे पास आता है मैं उसे सद्भावना और आशिर्वाद देता हूं, कभी किसी को हताश नहीं करता। मेरे इस व्यवहार से उनके विश्वास में बढ़ोतरी हो जाती है और उनके दृढ़ विश्वास के कारण उनके काम

बन जाते हैं। यह भी संभव है कि मेरे पास वो जीव तभी आते हैं जब उनके काम बनने का या कर्म कटने का समय आ गया होता है। **आप आध्यात्मिकता की शिक्षा प्राप्त करने के लिए मानवतारूपी विश्वविद्यालय के छात्र हैं। इस विश्वविद्यालय में अध्ययन का विषय पराप्रेम और पराभक्ति है। मुझे पूरा विश्वास है कि आप इस प्रेम परीक्षा में मेरी देख–रेख में सफल होंगे क्योंकि मेरा कोई भी छात्र आजतक मेरे विषय में फेल नहीं हुआ।**

सितंबर 1991

इस जगत् में भी और मनुष्य में भी ध्वंसात्मक शक्तियां हमेशा मौजूद रहती हैं। मनुष्य के अंदर ये शक्तियां उसकी निराशावादी प्रवृतियों के कारण उसे हानि पहुंचाती हैं। **जो व्यक्ति निराशावादी होता है उसे शारीरिक और मानसिक रोग सताते रहते हैं।** मनुष्य को लाभ पहुंचाने या हानि पहुंचाने वाली शक्ति बाहर से नहीं आती बल्कि यह उस मनुष्य के अंदर से ही आती है। दैवी शक्तियों का उपयोग तन्त्र कहलाता है। इस तन्त्र से लाभ तो होता है परंतु इनके माध्यम से परम शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

आबदो माबूदियत माबूद से आजाद है।
खुश मुजस्सम खुश है दिल का रूह का वो शाद है।।
जिसको देखो इस तरह समझो वही सच्चा फकीर।
दस्तगीरे दो जहां और दो जहां का है वो पीर।।
आया जो कुछ भी समझ में तेरे लिए लिख दिया।
तू ने फैलाया था दामन आज वो भर दिया।।

नवंबर 1991

मानव पहले मानव है उसके बाद किसी विशेष धर्म का अनुयायी है। धर्म मानव का, मानव के द्वारा और मानव के लिए ही प्रतिपादित किया जाता है। सच्चा मानव वह है जो अपने में मनुतत्व एवं अविनाशी भाव को समझता हुआ प्रत्येक मानव में उसकी झलक देखता है और प्रेममय हो जाता है।

दिसंबर 1991

'गुरू वही जो शब्द सनेही, शब्द बिना दूसर नहीं होई।'

गुरू का शब्द सनेही होने का एक अर्थ तो यह है कि वह स्वयं शब्द की भांति एकत्व और व्यापकता का अनुभव करता हो। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश में आकाश तत्व अत्यंत व्यापक है। उसमें सभी अन्य तत्व समाविष्ट रहते हैं और वह पूर्णतया निरपेक्ष सर्वव्यापक तत्व है, जो एक होते हुए भी अन्य सभी तत्वों को एकत्व में समाविष्ट किये हुये है। इसी प्रकार शब्द सनेही गुरू भी वह है जो सभी प्रकार के भेद–भाव से ऊपर उठा हुआ है और समदृष्टि रखता है। **नाम–दान की पहली अवस्था दीक्षा होती है, दूसरी अवस्था अनुभव है और तीसरी एवं अंतिम अवस्था समर्पण है।** संतमत ने उपनिषदों के श्रवण, मनन और निदिद्धासन को सुमिरन, ध्यान और भजन का रूप दिया है।

आत्मा शान्त है, उसका अनुभव व्यक्त नहीं किया जा सकता। संतमत में सीधा, सच्चा और सरल मार्ग बतलाया गया है, इसे सहज मार्ग कहते हैं। इसे ही सुरत–शब्द–योग भी कहते हैं। ऐसा नहीं कि यह मार्ग पहले नहीं था। था तो यह पहले भी परंतु इतना सरल नहीं था जितना की वर्तमान में कलियुग में संतो ने जनसाधारण के लिए इसे प्रस्तुत किया है। इसका एक कारण तो यह है कि कलियुग में दुखी जीवों की संख्या बहुत बढ़ गई है, दूसरे परमतत्वाधार परमपुरूष ने हर युग में समय और परिस्थितियों के अनुसार मार्गदर्शन किया है। उसी मालिक ने कलियुग में कबीर साहब से लेकर समकालीन संतों के समय तक इस युग के सभी जीवों का कल्याण करने के लिए स्वयं को संतों के रूप में प्रकट किया।

मार्च 1992

यदि विचार शुद्ध हो और गुरू पर पूरा भरोसा हो तो असंभव भी संभव हो जाता है। एक बार मेरे गुरूदेव बाबा फकीर चंद जी महाराज ने 1981 के बैसाखी के आखरी सतसंग में सतसंगियों को बताते हुआ कहा था कि 'क्या पता ड़ा0 आई0 सी0 शर्मा मेरा गुरू है या मैं इसका गुरू हूं।' इसका खुलासा उन्होंने अपने आखरी सतसंग जो उन्होंने मर्सी हास्पीटल, पिट्सबर्ग, अमेरिका में दिया था, में किया। उन्होंने मुझसे कहा कि मैं, आई0 सी0 शर्मा, कई जन्मों के संस्कारों के कारण उनके पास गया था। उसी समय उन्होंने मुझसे यह भी कहा था कि ड़ा0 शर्मा! तेरी वर्तमान अवस्था 'तू' की अवस्था है, जिसमें 'मैं' नहीं है। तेरी इससे भी आगे की अवस्था आयेगी जिसमें 'मैं' और 'तू' दोनों समाप्त हो जांयगे, मगर इससे पहले तुझे सतसंगियों की महान सेवा का काम करना होगा। गुरू तो मैं जन्म से ही था, उस दिन तो मैं परमदयाल जी का शिष्य बना था (जिस दिन उन्होंने 13. 04. 1981 को मुझे तिलक लगा कर गुरू पदवी दी थी)।

इस जगत् में जीवों को अविनाशी अवस्था का अनुभव कराने के लिए सतगुरू मनुष्य के चोले में साक्षी बनकर आता है। उसकी यह गवाही साधारण व्यक्ति की गवाही से अलग होती है। हमारे 6 दर्शनशास्त्रों में से 3 शास्त्र –प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द साक्षी कहे जाते हैं। यह तीन प्रमाण सभी शास्त्रों ने माने हैं क्योंकि उन शास्त्रों के प्रवर्तकों ने अपने–अपने ढ़ंग से परमतत्व का अनुभव करने के पश्चात् जो कुछ लिखा वही वैदिक काल में ऋषियों ने भी वेद मंत्रों में अपने अनुभव के रूप में साक्षी कर दिया।

इसी प्रकार सतसंग में भी गुरू के वचनों को प्रमाण मानने से पहले उन पर अमल करके अनुभव करने की आज्ञा दी जाती है। इसका अर्थ यह नहीं कि गुरू के आप्त वचन विश्वास करने योग्य नहीं हैं, बल्कि इसका मतलब यह है कि उनकी हिदायत के मुताबिक अपने अंदर में उस सच्चाई का अनुभव करना चाहिए। जब शिष्य बुद्धि के चक्कर में पड़कर वाद–विवाद में उलझ जाता है तो अर्थ का अनर्थ हो जाता है।

ये दर्शनशास्त्र 6 हैं, न कम न ज्यादा। इसका कारण है कि ये एक ही सत्य के 6 पहलू हैं, 6 विमाऐं है या 6 दृष्टियां हैं। जैसे हम यदि किसी ठोस वस्तु का पूरा ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं तो उस वस्तु को 6 दिशाओं से ही देखेंगे–आगे से, पीछे से, दांयें से, बांये से, ऊपर से और नीचे से। इन दर्शनशास्त्र के ऋषियों ने भी एक ही सत्य का अनावरण 6 भिन्न–भिन्न प्रकार से किया और उसे प्रतिपादित कर दिया परंतु उनके अनुयायियों ने अनुभव के अभाव में एक दूसरे का खण्डन कर दिया।

वास्तव में आजकल जो खण्डन–मण्डन करने वाले हैं उनका अपना अनुभव तो कुछ है नहीं, वे तो बस बुद्धि के आधार पर एक दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयास करते रहते हैं। इस प्रकार सत्य तो छुप गया और विरोध प्रकट हो गया। इसी को स्वामी जी महाराज ने अपने शब्द में इस प्रकार प्रकट किया–'**खट शास्त्र बुद्धि चलाया, अंधन मिल धूल उड़ाया।**' मेरे मुंह से यह व्याख्या सुनकर परमदयाल जी ने मेरी पीठ ठोंकी और कहा, 'शर्मा इसीलिए तो मैंने तुमको चुना है।'

साक्षी का दूसरा अर्थ उस जाते–पाक का, उस विशुद्ध तत्व का, उस विशुद्ध आत्मा का अनुभव करना है जिसे साधक स्वयं हमेशा शरीर, मन और आत्मा के अंदर रहता हुआ और इनके अनुभवों से अलग रहता हुआ, अनुभव करता है। अर्थात् मनुष्य इस प्रकार कर्म करे कि कर्मों के प्रभाव से अछूता रहे, भक्ति करता हुआ भक्ति के प्रभाव से अलग रहे और ज्ञान प्राप्त करते हुये ज्ञान के प्रभाव से अलग रहे और अपनी निज अवस्था का सदा अनुभव करता रहे।

वैसाखी का अर्थ है–वै अर्थात् आकाश एवं शब्द। जो चीज शब्द का अनुभव करती है वह शब्द से परे अजर, अमर और अविनाशी होती है, उसे सुरत कहते हैं, वही वैसाखी है। जहां पर वै अर्थात् आकाश एवं शब्द कुंठित या समाप्त हो जाता है, उसे वैकुण्ठ कहते हैं। इस उच्चतम अवस्था को सतगुरू के बिना प्राप्त नहीं किया जा सकता।

केवल कल्पना कर लेने से कि बंध और मुक्ति अस्तित्व नहीं रखते, कोई काम नहीं बनता जब तक कि इसका अनुभव न हो जाय। इसी प्रकार '**अहंब्रह्स्मि**' कहने से भी कोई ब्रह्म नहीं हो जाता। इसके

लिए सतगुरू की शरण में जाना आवश्यक है क्योंकि उस शुद्ध परम अवस्था को बुद्धि और मन के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। जब साधक साक्षी अवस्था में पहुंचता है, तब वह उस अवस्था का ब्यान नहीं कर सकता। क्योंकि वह मालिक चेतना का अथाह समुद्र है, उसे मन के द्वारा सोचा नहीं जा सकता, भाषा के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। वह तो अनुभवगम्य है उसे केवल पराप्रेम के द्वारा उसमें विलीन होकर अनुभूत किया जा सकता है।

तत्व अतत्व असार सार नहीं, सुरत शब्द नहीं होई।
संत कहें तुम शब्द रूप हो, और अशब्द गति सोई।।
ऊंची दृष्टि करे जो प्राणी, सार भेद कुछ पावे।
भेद पाय शरणागत आवे, आवागमन मिटावे।।
दया करो करूणा चित लाओ, दो मोही भक्ति विवेका।
राधास्वामी चरण शरण बलिहारी, रहूं शब्द मिल एका।।

अप्रैल 1992

जब सच्चे गुरू के सतसंग से पराभक्ति और पराप्रेम से ओत–प्रोत होकर सतसंगी अपनी मंजिल पर आगे बढ़ता है और अपने शरीर, मन और आत्मा से ऊपर उठ जाता है तब उस समय सतसंगी और सतगुरू में कोई भेद नहीं रहता। यही असली नाम है, यही मंजिल है। **सतसंगी का संग समाप्त हो जाता है और सतगुरू का गुरूपना समाप्त हो जाता है, उसके बाद दोनों के बचे हुये सत् परमसत् में मिल जाते हैं।** राधा– राधा नहीं रहती और स्वामी–स्वामी नहीं रहता। यह सहज समाधि की अवस्था है।

मई 1992

अर्थ और काम मनुष्य के लौकिक जीवन को सुधारने के लिए और धर्म और मोक्ष उसके पारलौकिक जीवन की पराकाष्ठा पर पहुंचाने के लिए आवश्यक हैं। इन चारों को पुरूषार्थ कहा गया है। हमारे शारीरिक कर्म जो अर्थ और काम की पूर्ति करने के लिए किये जाते हैं का उद्देश्य भी मन को इष्ट में लगाकर परमपुरूष को प्राप्त करना है। इसी प्रकार धर्म जो आत्मा को उज्जवल करता है, उसे परमतत्व की ओर ले जाता है। मोक्ष का साधन भी उस परमपुरूष को प्राप्त करने के लिए ही किया जाता है। मोक्ष के द्वारा विशुद्ध आत्मा को पूर्णता प्राप्त करके स्वयं को परमतत्व में विलीन किया जाता है।

जुलाई 1992

विकासवाद के अनुसार विकसित होने वाला तत्व जड़ पदार्थों में अचेतन है और उसमें अपने आपको पैदा करने की शक्ति नहीं है। पशु– पक्षियों में और वनस्पतियों में वह अर्द्ध–चेतन है और उसमें अपने आपको पैदा करने की शक्ति रहती है। मनुष्य में वह शक्ति चेतन रूप में होती है। मनुष्य में जड़ पदार्थ से लेकर अन्य सभी के गुण मौजूद रहते हैं और कुछ हद तक आत्म चेतना भी होती है परंतु यह आत्म चेतना पूरी तरह से विकसित नहीं होती। संतों में यह आत्मचेतना पूरी तरह से विकसित होती है इसलिए उन्हें चेतनघन भी कहते हैं। इस प्रकार नवीनतम अवतार पुराने सभी अवतारों के गुण लेकर अवतरित होता है।

मनुष्य को चाहिए कि वह अर्थ को कल्याण का साधन माने, जीवन का लक्ष्य कभी न माने। काम का अर्थ आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। वैसे मन की जितनी भी कामनाऐं होती हैं उन सबको काम की श्रेणी में गिना जाता है। चूंकि मनुष्य की सभी इच्छायें कभी पूरी नहीं हो सकतीं इसलिए उसे उन सबके पीछे न जाकर कुछ की पूर्ति कर लेनी चाहिए बाकी को मालिक के हवाले छोड़ देना चाहिए।

जिस तरह से अर्थ को काम के साथ जोड़ा गया है उसी प्रकार अर्थ धर्म के साथ भी जुड़ता है। अगर किसी के पास पैसा नहीं है तो वह दान भी नहीं दे सकता। संतमत में सच्चा गुरू वह है जो अपनी आजीविका खुद कमाता है और सतसंगियों के दिये हुए दान पर निर्भर नहीं रहता। गुरू की मौज में रहने का मतलब यह है कि गुरू में पूर्ण विश्वास रखते हुए पूरी तरह से उसकी शरणागत हो जाना।

अक्टूबर 1992

सुरत और शब्द दोनों एक ही अनुभव के पहलू हैं, उन्हें अलग समझना एक बड़ी भारी भूल है। जिस परमतत्वाधार से मिलने की हर सतसंगी के मन में तड़फ होती है, वह मालिक सभी रंगरूपों से परे नाम और अनामी से भी परे शुद्ध तत्व है। सतगुरू सतसंग के द्वारा सतसंगी को उसी अवस्था में पहुंचा देता है। यदि सतसंग देने वाले को स्वयं उसका अनुभव नहीं है तो वह खुद भी डूबेगा और सतसंगियों को भी डूबो देगा।

जनवरी 1993

सभी धार्मिक, सामाजिक, नैतिक एवं राजनैतिक सिद्धान्त मानव द्वारा ही बनाये गये हैं और उसे अनुशासन में रखने के लिए ही बनाये गये हैं। दुर्भाग्यवश भौतिक उन्नति और तकनीकी खोज के आवेश में मनुष्य ने प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के बाद नैतिक मूल्य के महत्व को भुला दिया है जो विज्ञान के समकक्ष विकसित हुआ है। बौद्धिक प्रवृति को सहानुभूति से रहित मानव की भलाई और बुराई से असंपृश्य एक ऐसा अमूर्त विश्लेषात्मक दृष्टिकोण माना गया है जो मानव की सभी आवश्यकताओं को बलाये ताक रख देता है जबकि मानवमात्र एक आदर्श रचनात्मक दर्शन की पिपासा से पीड़ित है।

इन परिस्थितियों में सभी धर्म का समन्वय तभी संभव हो सकता है जब मानव धर्म के सच्चे स्वरूप का अनुसरण किया जाय। मानव धर्म तो मनुष्य की पूर्णता पर आधारित उस सत्य का नाम है जिसकी खोज में सभी धर्म और दर्शन प्रवृत हैं। मानवता की साधना प्राचीन ऋषियों ने इस उद्देश्य से की थी कि मानव अपनी साधना करते–करते ईश्वर और मनुष्य के एवं ब्रह्माण्ड के समझने के योग्य बन जाय और उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला था कि मानव अपने असली घर परमधाम से अलग हो गया है, इसलिए वह भटक रहा है और जब तक वह अपने निज धाम वापिस नहीं लौट जाता तब तक धार्मिक समन्वय और शान्ति संभव नहीं हो सकती। वास्तव में सभी धर्मों में मानव को इसलिए श्रेष्ठतम माना गया है क्योंकि उसमें सत् और असत्, स्थाई और अस्थाई तत्व का वह ज्ञान मौजूद है, जिससे उसकी पूर्णता निखर सकती है।

शरीर का संबंध पृथ्वी तत्व से है इसलिए इस पार्थिव कहते हैं। मन का संबंध चन्द्रतत्व से है इसलिए चंचल कहते हैं क्योंकि यह बदलता रहता है। बुद्धि सूर्य से उत्पन्न हुई है इसलिए उसे सौर्य कहा जाता है। आत्मा के दो अव्यय हैं– एक को आत्मा और दूसरे को विशुद्ध आत्मा या सुरत कहते हैं। उपनिषद पूर्णतया विवेचन और तर्क द्वारा मोक्ष की व्याख्या करते हैं और अंत में इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि जीव परमतत्व का अंश है अतः जीव और परमततव एक ही है। इसके अतिरिक्त क्योंकि मानव सनन्तता और अनन्तता, सीमितता और असीमितता का समन्वय है, इसलिए वह नैतिक और अध्यात्मिक अनुशासन के द्वारा ही एकत्व प्राप्त कर सकता है। मानव ही ऐसा प्राणी है जो परमतत्व से तादात्म करके, सभी सामाजिक, राजनैतिक एवं सामप्रदायिक आवरणों से सवर्था के लिए आजाद हो सकता है।

अप्रैल 1993

अनुभव के बाद ही अनुमान से ऊपर उठकर सच्चा ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। ज्ञान के तीन रूप बताये गये हैं–शब्द, अनुमान और प्रमाण। शब्द का अर्थ यहां पर उस ऋषि या संत की गवाही से है जो राधास्वामी की अवस्था में रहता है और जो अपना अनुभव सतसंगियों में बांटने के लिए अवतरित हुआ है। अनुमान भी उस प्रत्यक्ष ज्ञान पर आधारित है जो हम ज्ञानेद्रिंयों द्वारा प्राप्त करते हैं। माला फेरने से मन टिक जाता है। मालिक के नाम का सुमिरन करने से आत्मा भी स्थिर हो जाती है। उस समय इस उनमुनि अवस्था को व्यक्त नहीं किया जा सकता। यही हमारी निज अवस्था है।

नवंबर 1993

उनमुनि अवस्था का मतलब है उत्–मुनी अर्थात् ऊपर जाने की अवस्था। ऐसी अवस्था में साधक को कुछ भी करने–धरने की जरूरत नहीं रहती है। उसका सब काम मौज से अपने आप होता

रहता है। स्थिर बुद्धि वाला व्यक्ति दुख–सुख में घबराता नहीं है, विचलित नहीं होता। यह अवस्था ब्राह्मी स्थिति कहलाती है।

जनवरी 1994

पिछले वैसाखी के मासिक संदेश में मैंने वैसाखी शब्द की विस्तार से व्याख्या की थी और यह बताया था कि 'वै' शब्द का अर्थ है आकाश और 'साक्षी' शब्द का अर्थ है गवाह। गवाह या साक्षी वह व्यक्ति होता है जो भौतिक, मानसिक या आत्मिक किसी भी प्रकार की सांसारिक घटनाओं में आसक्त नहीं होता। इसी अनासक्ति के संदर्भ में मैंने साक्षी या गवाह की व्याख्या करते हुये मिसाल देकर समझाया था। मान लीजिए दो व्यक्ति राम और श्याम किसी व्यक्ति प्रीतम की दुकान के सामने मिलते हैं। राम श्याम से कहता है कि वह उसके तीन हजार रूपये जो उसने लिए थे, उसी समय लौटा दे। श्याम राम के इस प्रकार सरे बाजार उससे रूपये लौटाने की बात को अपना अपमान समझता है और रूपये देने से इंकार कर देता है। दोनों के बीच झड़प और मार– पीट होती है और अंत में दोनों चाकू से एक दूसरे को लहूलुहान कर देते हैं। पुलिस दोनों को पकड़ कर ले जाती है। दोनों अस्पताल ले जाए जाते हैं। अदालत में प्रीतम को साक्षी के लिए गवाह के रूप में पेश होना पड़ता है। लेकिन इन सारी स्थितियों में प्रीतम अनासक्त भाव से रहता हुआ केवल एक गवाह के रूप में सारा बयान देता है। प्रीतम खुद राम श्याम की स्थितियों से अछूता और निर्लिप्त रहता है। संस्कृत में इसे ही साक्षी कहते हैं। फारसी भाषा का 'साकी' शब्द इसी 'साक्षी' शब्द से निकला है। साकी उस बाला को कहते हैं जो मैखाने में शराब पीने वालों को शराब पिलाती है, मगर खुद नहीं पीती। इस तथ्य की व्याख्या शायर ने निम्नलिखित शेर मे की है:–

सबकी साकी पे नजर हो,
ये तो जरूरी है पर।
सब पे साकी की नजर हो,
ये जरूरी तो नहीं।।

यह तो आवश्यक है कि सभी जिज्ञासु सत्संगियों की दृष्टि सद्गुरू की आंखों की ओर हो और सद्गुरू की दया की सब अपेक्षा करें, मगर यह जरूरी नहीं कि सद्गुरू भी हर एक सत्संगी की ओर देखे। इसी संदर्भ में शायर आगे कहता है:–

नींद तो कांटों के बिस्तर, पर भी आ जाती है।
उनके आगोश में सर हो, ये जरूरी तो नहीं।।

अर्थात् थके हुए व्यक्ति को तो कांटों के विस्तर पर भी नींद आ जाती है, लेकिन यह जरूरी नहीं कि हर व्यक्ति का सिर सद्गुरू की गोद का आनन्द ले सके।

यह कथन बहुत सारगर्भित है और इसका भाव महत्वपूर्ण है। सत्संगियों को यह सदा याद रखना चाहिए कि सद्गुरू पर पूर्ण विश्वास और भरोसा रखना उनकी दया को प्राप्त करने के लिए नितांत जरूरी है, क्योंकि सद्गुरू की दया ही सत्संगी को सब कुछ प्रदान करती है। हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों के अनुभवों की ओर से लापरवाह न हों। ज्ञानेन्द्रियां सूक्ष्म होती हैं, लेकिन मन ज्ञानेद्रिंयों से भी सूक्ष्म है। और बुद्धि मन से भी सूक्ष्म है। किन्तु सुरत बुद्धि से भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म है।

अक्सर लोग इस भ्रांति में रहते हैं कि भगवद्गीता में केवल तीन ही योग बताए गये हैं: कर्म, भक्ति और ज्ञान। लेकिन वास्तव में भगवान श्री कृष्ण ने भगवद्गीता में चार योगों का उपदेश दिया है और चौथ योग है बुद्धि योग।

अक्सर ऐसा होता है कि मन जिस तरफ लग जाता है चेतना उसी ओर रहती है और दूसरी ओर का ध्यान उसे नहीं रहता। आत्मा मन से परे है, और सुरत आत्मा से भी परे होती है।

भगवद्गीता में भगवान श्री कृष्ण जी ने कहा है:

परित्राणय साधुनाम, विनाशाय च दुष्कृताम।
धर्मसंस्थापनार्थाय, सम्भवामि युगे युगे।।

इसका वास्तविक अर्थ यह है कि ईश्वर हर एक युग में अवतार लेता है और धर्म को स्थापित करता है। इसी संदर्भ में भगवान कृष्ण अर्जुन से कहते हैं, 'हे अर्जुन, मैंने यह भेद आरम्भ में सूर्य को

दिया था। आगे चलकर सूर्य ने इस भेद को अपने पुत्र मनु को दिया था। मनु ने इक्ष्वाकु को यह भेद दिया और इक्ष्वाकु ने राज ऋषियों को दिया। किन्तु कालान्तर में यह भेद लुप्त हो गया। आज मैंने तुम्हारी भक्ति और समर्पण भाव से प्रसन्न होकर पुनः यह गुप्त भेद तुम्हें बताया है क्योंकि तुम मुझे अत्यन्त प्रिय हो और तुमने अपने आपको पूरी तरह मुझे समर्पित कर दिया है। आगे चलकर भगवान अर्जुन को बताते हैं कि सच्चा भक्त कौन और कैसा होता है। भगवान कहते हैं:—

अपिचत्सुदुराचारो, भजत मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः, सम्यक् व्यवसितोहि सः।।

ऐसा भक्त तुरंत ही साधु हो जाता है। भगवान श्री कृष्ण आगे कहते हैं:—

क्षिप्रम् भवति धर्मात्मा, शश्वत् शांतिम् निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि, न मे भक्तः प्रणश्यति।।

हे अर्जुन! तुम्हें यह सदा स्मरण रहना चाहिए कि मेरे भक्त का नाश कभी नहीं होता, और वह परम शांति को प्राप्त करता है। एक क्षण में उसे परम शांति की अवस्था मिल जाती है।। हे कुन्ती पुत्र! वह भक्त जो मुझे हर जगह और वस्तु में देखता है, वह मुझ से कभी भी अलग नहीं होता और मैं उससे अलग नहीं होता। भगवद्गीता के अंतिम अध्याय में भगवान श्री कृष्ण ने पूर्ण आश्वासन देते हुए कहा है:—

सर्वधर्मान् परित्यज्य, मामेकम् शरणं व्रज।
अहम् त्वाम् सर्वपापेभ्यो, मोक्षयिष्यामि माशुचः।।

अर्थात् संसार के सभी धंधों को त्याग कर सब प्रकार से मेरे प्रति समर्पित हो जाओ। हमें किसी दूसरे आश्रय की आवश्यकता नहीं है। केवल सद्गुरू का एकमात्र आश्रय ही पर्याप्त है।

अन्त में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से पूछते हैं, क्या मेरे अठारह सत्संगों से तुमने ज्ञान प्राप्त कर लिया है? अर्जुन बहुत ही बुद्धिमान था। उसने सोचा कि अगर वह 'हां' कहता है तो भगवान सोचेंगे कि अर्जुन बड़ा अहंकारी है। और यदि 'नहीं' कहता है तो वे कहेंगे कि अर्जुन बड़ा मूर्ख है कि उनके अठारह सत्संगों को मिट्टी में मिला दिया। अतः अर्जुन ने उत्तर दिया:

स्थितोऽस्मि, गतसन्देहः। करिष्ये वचनम् तव।

हे परमतत्वाधार! स्वामी, अब मैं खड़ा हो गया हूं। मैं सभी संशयों से पूर्णतया मुक्त हो गया हूं। उसने यह नहीं कहा कि वह युद्ध करेगा। उसने कहा:—

'हे अच्युत्! मेरे परम इष्ट, मैं आपकी आज्ञा का पालन करूंगा।

ऊपर के कथनों से यह पूरी तरह प्रमाणित होता है कि वैदिक सनातन धर्म में और सन्तमत में कोई अन्तर या भेद नहीं है। यही मानव धर्म है।

इस मासिक संदेश के लिए इतना ही पर्याप्त होगा। मैं सच्चे दिल से चाहता हूं तकि आप सब का शरीर स्वस्थ रहे, मन प्रसन्न रहे और सुरत परमानन्द में विलीन हो जाए।

सबको राधास्वामी।

सितम्बर 1995

सतसंग परमसंत हुजूर मानव दयाल डा0 आई. सी. शर्मा जी महाराज

(मीरापुर, इलाहाबाद 13.02.85)

आंखों का तारा सबका सहारा, हित चित से तू प्यारा है।
निर्मल शुद्ध बुद्ध हितकारी, सुख सम्पति परिवारा है।
घट घट वासी आनन्द रासी, अविनाशी मंगलकारी।
रोम रोम में रमता जोगी, रोग सोग से न्यारा है।।
गुणातीत गोविन्द मुरारी, पुरूषोत्तम करूणा सागर।
जन मन रंजन दोष विभंजन, प्रेम प्रीति भण्डारा है।।
नाम लेत भव सिंधु सुखावे, ध्यान धरत कलिमल जावे।
भव दुख मेटन दोष नसावन, भक्ति रीति का सारा है।।
करम धरम वैराग ज्ञान तत, विज्ञानी पूरा सच्चा।
हे दयाल करो दृष्टि दया की, ह्रदय दुखी हमारा है।।
अब तो शरण में आन पड़ा हूं, एक आस तेरी मुझको।
राधास्वामी चरन से प्रीति रहे नित, वही धुर इष्ट सहारा है।।

गुरूदेव जगद् व्याप्तं, ब्रह्मा विष्णु शिवात्म् कम्।
गुरो परतरं नहि किंचित्, तस्मै श्री गुरूव`नमः।।
मानवधर्मस्य धातारं, दाता दयालस्य प्रियतमम्।
सन्तधर्मस्य गोप्तारं, फ़कीरं वन्दे जगद्गुरूम्।।

मेरी अपनी ही आत्मा के स्वरूप उपस्थित भाईयों और बहनों, इस युग में, जिसे कलियुग कहते हैं, एक विशेष महत्व यह है कि इसमें हर वस्तु सुगम और सहज रूप से उपलब्ध है। चाहे वह वस्तु भौतिक जीवन के लिये हो या बौद्धिक जीवन के लिये, चाहे आध्यात्मिक जीवन के लिये हो या रूहानियत के लिये हो। जिस्मानियत, रूहानियत, बुद्धि आदि सभी इस युग में एक सहज रास्ता अपना रहे हैं। वैसे हमारे ऋषियों ने प्राचीन काल में जीवन को बहुत समन्वित बनाया था, लेकिन उस समय हर चीज के लिये काफी समय देना पड़ता था।

किसी एक विषय में ज्ञान प्राप्त करने के लिये जो उपनिषद् काल में विश्व विद्यालय थे, उनमें बारह–बारह वर्ष स्नातक की उपाधि प्राप्त करने के लिये व्यतीत करना पड़ता था। उपनिषद् में एक कथा आती है कि एक शिष्य ब्रह्मचारी बारह वर्ष तक एक गुरू के आश्रम में रहा। उसे केवल व्याकरण में उपाधि लेनी थी। ऋषि–पत्नि सबको खाना खिला रही थी। वह स्नातक विशेषकर अलग खाना खाता था। बारह वर्ष पूरे होने पर एक दिन गुरू ने कहा, "आज तेरा काम समाप्त हो गया, तू स्नातक हो गया।" नित्य की भांति जब वह खाना खाने बैठा। ऋषि–पत्नि ने खाना परोसा तो खाते समय उसने कहा, "माता जी, आज आप शायद सब्जी में नमक डालना भूल गईं।" ऋषि–पत्नि बोली, "बेटा, ऐसा लगता है कि आज तेरी शिक्षा समाप्त हो गई और तू स्नातक हो गया है।" ब्रह्मचारी बोला, माता जी, नमक का स्नातक होने से क्या संबंध?" माता बोली, "बेटे बारह साल तक तू यही खाना खाता आ रहा है, मैंने कभी नमक डाला ही नहीं। तुझे होश नहीं रहती थी। आज तुझे होश आया है कि भोजन में नमक नहीं है।" वह समय था जब बौद्धिक शिक्षा लेने में भी इतना समय लगता था, रूहानियत का तो कहना ही क्या!

एक शिष्य गुरू के पास गया और प्रश्न किया, "मैं कौन हूं?" यह सवाल हर इन्सान के मन में कभी न कभी जरूर आता है, खासकर जब उसकी और जरूरतें पूरी हो जाती हैं लेकिन उन जरूरतों के पूरा होने के बाद भी उसके मन में एक कुरेद होती है कि "मैं कौन हूं?" मैं पैदा हुआ, पढ़ा–लिखा, नौकरी की, शादी की, बच्चे पैदा किये, उनको पाला– पोसा, बड़ा किया लेकिन इससे आगे क्या?" सब दुख सुख से गुजरने के बाद, यह सवाल पैदा होता है कि भई, यह सारा झगड़ा अखिर है क्या? यह एक बड़ा भारी सवाल है कि मालिक जो अपने आप में पूर्ण है–'पूर्णमदः:' उसमें किसी चीज की कमी नहीं, वह सर्वशक्तिमान है, सर्वज्ञ है, सर्वव्यापक है, सर्वाधार है, सारी सृष्टि उसी से निकली है, तो फिर उसने यह अलखंजा क्यों खड़ा किया? सब कुछ वही है, आप भी उसी के रूप हो। उसने अपने आपको बिखेर कर उसके अन्दर एक अलखंजा खड़ा कर दिया। जिसको देखो वही अपनी धुन में लगा हुआ है। किसी को कोई फिक्र, किसी को कोई चिन्ता ही नहीं है। आखिर यह क्या है? एक बार मेरी पत्नि ने भी मुझसे यह प्रश्न किया कि यह संसार क्या है? क्यों है?

इसकी क्या जरूरत थी? अगर यह नहीं होता तो ठीक नहीं था क्या? बड़े–बड़े दार्शनिकों, भक्तों और ऋषियों ने इस पर विचार किया और इस नतीजे पर पहुंचे कि "स्वलीला या मौज–यह सब उसकी लीला या उसकी मौज है।" उसका वार–पार कोई नहीं पा सकता।

'अनादि तेरी अनन्त माया, जगत् को लीला दिखा रही है।'

यह सब उसकी लीला है। लीला का मतलब खेल है। बच्चे खेलते हैं सारा दिन। यदि उनसे पूछा जाय कि बच्चों, "तुम क्यों खेलते हो?" कोई जबाब नहीं। बस, खेलते हैं। खेलना उनका स्वभाव है, इसलिए खेलते हैं या यों कहो कि बच्चों के अन्दर अधिक ऊर्जा होती है। शिक्षा शास्त्र में इसे 'शक्ति के प्राचुर्य का सिद्धांत' कहते हैं। जब शक्ति जरूरत से ज्यादा (Surplus Energy) हो जाती है तो उसे खपाने की जरूरत पड़ती है। कई बार हम यह कह देते हैं कि मालिक की शक्ति अनन्त है, वह बाहर आ जाती है। यह जगत् उसकी प्राचुर्य शक्ति की धारा है जिसको Abundance भी कहते हैं। इतनी शक्ति, इतनी सत्ता, इतना सत्–चित्–आनन्द कि वह बाहर आ जाता है। वेदों में इसको प्रवग्य या ब्रह्मोज कहा गया है। ब्रह्म इतना अधिक हो गया कि उबल पड़ा। यह सब व्याख्यायें हैं। ठीक है लीला या खेल का कोई लक्ष्य नहीं होता, वह स्वलक्ष्य है (Self Contained) है। उसका महत्व अपने आप में है। लेकिन यह उत्तर भी पूर्णतया सन्तोषजनक नहीं है। आखिर यह जो प्रवग्य है, यह ब्रह्मोज है, प्राचुर्य या आधिक्य है, यह सब क्यों? किसलिये?

दाता दयाल जी ने एक जगह बहुत ही सुन्दर व्याख्या लिखी है कि वह सर्वाधार एक ऐसा जौहर, एक ऐसा हीरा है जिसकी किरणें जब निकलती हैं तो विकास होता है और जब वह अपनी किरणों को समेट लेता है तो लीला समाप्त हो जाती है। इससे यह ज्ञान हो जाता है कि हम सब उसी परमतत्व सर्वाधार के अंश है, हम वही हैं। फिर सवाल उठता है कि यह किरणों का फूटना क्यों? और इस स्थिति में हमें दुख क्यों उठाते हैं? इसका एक ही जबाब है, वह यह कि हमारे जीवन के अनुभव से यह सिद्ध होता है कि किसी वस्तु का सही–सच्चा मूल्य और महत्व हमें उस समय समझ में आता है जब हम उससे अलग होते हैं। आपके घर में एक बूढ़ा है–अस्सी नब्बे साल का, खाट पर पड़ा खांसता है, आप समझते हैं कि वह निकम्मा है, व्यर्थ है। मगर उसकी असली–सच्ची कदर आप तब तय करते हो जब वह चला जाता है। मालिक ने हमें इस काल के जगत् में, अपने से अलग, फेंक दिया है। हम बिछुड़ गये हैं उस प्रीतम प्यारे से। यह प्रेममय जगत् उसने हमें प्रेम का अनुभव करने के लिये रचाया है और आपको विरह इसलिये दिया ताकि इस जगत में आकर, इस शरीर, मन और आत्मा के अन्दर होते हुए भी आप तड़फते रहें। हम तड़फ रहे हैं इसलिए कि हमारा प्रियतम प्यारा हमें नहीं मिला है। यह तड़फ तब तक समाप्त नहीं हो सकती, जब तक कि उसके साथ हमारा प्यार का संबंध जुड़ नहीं जाता। इस विरह और प्रेममय जगत् में तपन करारी है। सब के अन्दर एक ज्वाला है। लेकिन पता नहीं कि यह तड़फ किसके लिये है।

इस शरीर को भी स्वस्थ रखना चाहिए। शरीर के लिये जितने भी आनन्द और साधन हम जुटा सकते हैं हम जुटाते हैं, लेकिन सब सुख सुविधा की साधन सामग्री होने के बावजूद हमारे मन को चैन नहीं। धन– दौलत, इज्जत और शोहरत के बावजूद सुख नहीं क्योंकि आत्मा तो कुछ और ही खोज रही है **"मैं उस पूर्ण से बिछुड़ कर आई हूं, पूर्ण में ही मिलूंगी। जब तक उस पूर्ण से संबंध नहीं जुड़ जाता, तब तक तड़फती रहूंगी।"** यह जबाब है इस शास्वत प्रश्न का इस समय। सवाल तो पहले भी थे। एक शिष्य अपने गुरू के पास गया और प्रश्न किया, "मैं कौन हूं? मेरा आधार क्या है? परमात्मा क्या है? आत्मा क्या है? ब्रह्म क्या है? आत्मा और ब्रह्म का मिलाप कैसे हो? इनका संयोग कैसे हो"

उपनिषद काल भी गुरू–शिष्य का काल था। दातादयाल जी महाराज ने सभी उपनिषदों पर लिखा है। "मानव पूर्ण से निकला है, इसलिए पूर्ण है–अमृतस्य पुत्रः।" जब बच्चा पैदा होता है, उसके कानों में यह मंत्र फूंका जाता है "शुद्धोऽसि, बुद्धोऽसि, निरंजनः।" पता नहीं अब यह रिवाज है या नहीं। इससे क्या होता है? जब ये शब्द बच्चे के कानों में कहे जाते हैं तो उसके मन पर संस्कार की एक मुहर लग जाती है।

बच्चे को यह कहा जाता हैः–

'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।'

तू पूर्ण से आया है, पूर्ण का पुत्र है। उस 'पूर्णात्पूर्णं' के छोटे पूर्ण को जब जान लोगे तब सब जगह तुम्हें पूर्ण ही दिखाई देने लगेगाः—

जिधर देखता हूं, उधर तू ही तू है।
कि हर शै में जलवा, तेरा हू ब हू है।।

सब रूपों में उसी प्यारे का रूप दिखाई देने लगता है। 'सर्वं खलिवदं ब्रह्म'। निश्चित रूप से सब कुछ ब्रह्म ही है, कोई भी जगह उससे खाली नहीं है, कण—कण के अन्दर वह मौजूद है। जड़ पदार्थ में वह सो रहा है, वनस्पति में वह स्वप्न ले रहा है, पशु में वह चेतन है, मनुष्य में आत्म—चेतन है और सन्त में वह परम चेतन है और अपने आप में वह चेतनघन है। ये उसकी अभिव्यक्ति की अवस्थाऐं हैं। ठीक है, मालिक सब जगह मौजूद है। कुछ भी तो ऐसा नहीं जो उसके बिना ठहर सके। उसी से सब कुछ निकलता है, उसी में विकसित होता है और उसी में समाविष्ट हो जाता है लेकिन यह नहीं समझ नहीं लेना चाहिए कि यह जगत् ही पूर्ण है। नहीं, यह जगत् तो उसकी बूंद, उसकी धार है। इसलिए वह परमतत्व, जहां से हम आये हैं, जहां हम जा रहे हैं, उसके बारे में एक बात और बताना भी जरूरी है कि आप कहीं यह न समझ बैठें कि यह जगत् ही ब्रह्म है। **यह जगत् तो ब्रह्म पर आधारित है लेकिन ब्रह्म जगत् पर आधारित नहीं है।** ब्रह्म जगत् से ऊँचा और बड़ा है। इसलिए कहीं बूंद को समुद्र समझ लेने की भूल न कर बैठना। बूंद सिंधु का अंश जरूर है, पर सिंधु नहीं है। वेदान्ती यही भूल कर बैठते हैं। वे कहते हैं **"अहं ब्रह्मास्मि — मैं ब्रह्म हूं।"** यह ठीक नहीं, मैं तो ब्रह्म का अंश हूं। 'अहं ब्रह्मस्मि' कहने से कोई सचमुच परमतत्व मालिक नहीं हो जाता। हम तो मालिक के अंश हैं।

इसलिए इसको समझाने के लिये एक दूसरा पक्ष है, नकारात्मक (Negative) पक्ष। जैसे, कोई चीज ऐसी है, ऐसी नहीं। अर्थात् कहीं गलती या भूल न कर बैठो इसलिए परिहार—प्रक्रिया (Procss of Elemination) भी बतानी पड़ती है—यह हटा दो, यह हटा दो, यह हटा दो, करते —करते जो शेष बचता है वही अभिष्ट है। इस 'नहीं है' को कहने के लिए वह शैली थी कि जो परमतत्व है वह फूल नहीं है, पत्ती नहीं है, रंग नहीं है, रूप नहीं है, आकाश नहीं है। क्योंकि यदि परमतत्व फूल है तो पत्ती कहां से आई? अगर पत्ती है तो आकाश कहां से आया? अगर वह आकाश है तो प्रकाश कहां से आया? इसलिए किसी भी चीज को उसके समकक्ष नहीं माना जा सकता। यह कहना कि 'नेति—नेति—नेति— 'यह नहीं', 'यह नहीं', 'यह नहीं' इसका मतलब यह नहीं कि वह कुछ नहीं है। इसका मतलब यह है कि उसके मुकाबले या बराबर की कोई चीज है ही नहीं। सब कुछ उसी से निकला है लेकिन वह उससे परे है। इसलिए 'नेति—नेति' कहा जाता है। 'नेति—नेति' कहने से कहीं भ्रम न हो जाये, इसलिए एक कदम और आगे लिया जाता है। बड़ी सूक्ष्म बात समझा रहा हूं, मूर्त भाषा से अमूर्त भाव समझा रहा हूं। भाषा मूर्त है, वह अमूर्त है। भाषा सीमित है, वह असीमित है।

इसलिए इसे समझाने के लिए एक मिसाल देना जरूरी है। यह नहीं, यह नहीं, यह नहीं, तो फिर आखिर ठहराव कहां है? ठहराव जहां भी होगा, वह आधार होगा, जिस पर ठहरने के बाद सब प्रकार की हरकत या चंचलता समाप्त हो जाती है। ठहराव कहां है? ठहराव तुम्हारे अन्दर में है। पहले यह समझना है कि यह जो मैं 'मैं' कह रहा हूं, वह मेरा असली 'मैं' क्या है? क्या उसका कोई सबूत है? दुनिया सबूत मांगती है। सबूत दिया जा सकता है। उसका सबूत है निश्चितता, उसका सबूत यह है कि जिस चीज के समझने के लिये किसी भी प्रमाण की जरूरत नहीं है, वह स्वतः प्रमाण है। कैसे? आप सब चीज को अनिश्चित मान कर चलो। आप अन्त में वहां पहुंचोगे जहां निश्चितता होगी। मान लीजिए मैं शरीर को कहता हूं कि यह मेरा शरीर है। अरे भाई! यह शरीर तो छिन्न—भिन्न हो जायेगा। शरीर पर संदेह किया जा सकता है। शरीर अनिश्चित है, मन भी अनिश्चित है, प्रकाश भी अनिश्चित है, पृथ्वी भी अनिश्चित है। आज सूर्य उदय हो रहा है, कल न हो! इस पर संदेह किया जा सकता है। आत्मा पर भी संदेह किया जा सकता है, परमात्मा पर भी संदेह किया जा सकता है परन्तु एक बात पर संदेह नहीं किया जा सकता कि मैं संदेह कर रहा हूं।

लोग कहते हैं कि "आत्मा को दिखाओ, फूल की तरह आत्मा को दिखाओ।" यह फूल तो नहीं है, इस पर संदेह किया जा सकता है। लेकिन आप अपने आप पर संदेह नहीं सकते। अपने आप पर संदेह न करना ही प्रमाण है कि आपके अन्दर कोई चीज है जो सबकी साक्षी है। यह एक नुक्ता है। पहले तो उसको यह बताया कि यह सब तुम्ही तो हो। फिर कहा कि नहीं, यह जगत् भी तो कुछ नहीं। वह तो इससे ऊँचा है–'नेति–नेति'। कहीं जिज्ञासु इस 'नेति–नेति' के भ्रम में यह न समझ ले कि वह तो कुछ भी नहीं है। इसलिए पहले तो कहा कि वह "ऐसा है, फिर कहा कि "ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है।" फिर एक दम उसे कहा कि "तत् त्वमसि" अरे! तुम वही हो क्योंकि तुम अपने आप पर संदेह नहीं कर सकते। इसलिए मान लो कि वह परमतत्व भी तुम्हारी तरह ही निश्चित है। ऐसा ज्ञान देने के बाद उस शिष्य को कहा, "तू है यह निश्चित है, इसमें संदेह नहीं। तेरा प्रश्न था कि आत्मा क्या है? आत्मा दृष्टा है, देखने वाला है, वह देखा नहीं जा सकता, लेकिन उसके बिना कुछ भी नहीं देखा जा सकता। वह सुना नहीं जा सकता, लेकिन सुनना उसका खासा है।" ऐसा बताने के बाद उसको कहा, "बात समझ में आ गई।"

सवाल–जबाब किया, बुद्धि के तर्क– विर्तक से भ्रम दूर कर दिये। तीसरे कदम पर बात समझ में आ गई। पहला कदम था बताना, दूसरा कदम था बैठ कर मनन करना और तीसरा कदम था निदिध्यासन। अन्त में उसको कहा, "अब जाओ, जाकर स्वयं अनुभव कर लो। निदि– ध्यासन, ध्यान, समाधि से खुद आत्मसाक्षात्कार कर लो।" वह शिष्य गया और बारह वर्ष बाद फिर गुरू के पास आया। गुरू ने पूछा, "क्यों कुछ ज्ञान हुआ?" शिष्य बोला, "हां महाराज! मैंने देख लिया, आप की बात सत्य है। जहां भी जाता हूं फूलों में, पत्तों में, नदियों में, आकाश में, उसी का नजारा है। सब जगह वही है, वह घट–घट में विराजा है।" आधा घंटे तक उसने अपना व्याख्यान दिया। गुरू ने कहा, "बेटे! अभी तेरी समझ में पूरी बात नहीं आई, जा बारह वर्ष जाकर और साधना कर।" शिष्य फिर गया और बारह वर्ष बाद आकर बोला कि "गुरू जी! मैंने व्यर्थ लम्बी–चौड़ी व्याख्या दी थी, वह सब जगह व्यापा है और सबसे परे भी है, हमारे अन्दर भी है और बाहर भी है।" गुरू बोले, "पुत्र! बात तो तुमने ठीक कही लेकिन पूरी तरह अभी समझ में नहीं आई। जा बारह वर्ष और साधना कर।" जब वह तीसरी बार आया तो गुरू को नमस्कार करके चुपचाप बैठ गया, न वह बोला, न गुरू ही कुछ बोले। कुछ समय बाद गुरू जी बोले, "अब तू समझ गया कि असलियत क्या है। जहां सब तर्क–वितर्क और दलीलें समाप्त हो जाती हैं, वहां अनुभव बता देता है कि–

बूंद पानी में मिला, दरिया बना क्या जुस्तजू।
जात में जब मिल गया, फिर वह करे क्यों गुफ्तगू।।

यह छत्तीस वर्ष की साधना पुराने युग की बात थी, लेकिन आज के युग तो तुरंत–युग (Instant Age) है। आज हर चीज तुरंत मिलनी चाहिए–इन्सटेंट काफी, इन्सटेंट ब्रेकफास्ट। अक्ल में भी, रूहानियत में भी आप देखें, आज जितना साहित्य है, हर विषय में जितनी सामग्री मिल रही है, कमप्यूटर के जरिये, पहले कभी उपलब्ध नहीं थी। आज एक मिनट में आप शेक्सपियर के बारे में जानना चाहते हैं तो बटन दबा दीजिये और कमप्यूटर के जरिये आपको सारी जानकारी मिल जायेगी। इसलिये इस वास्ते इस युग में सन्तों का अवतार है। दाता दयाल जी का अवतार हुआ, परमदयाल जी का अवतार हुआ। यह सहज युग है और इसमें 'नाम' की भक्ति से सहज में ही परमतत्व की अनुभूति होती है। राधास्वामी नाम में ही वह शक्ति, वह प्रभाव है जिसे पाने के लिए मनु–शतरूपा ने हजारों वर्ष तपस्या की।

'राधा' नाम है आत्मा का और 'स्वामी' नाम है परमात्मा का। राधा धारा है, जगत् है, व्यापक सौंदर्य है, सत्यम्–शिवम्–सुन्दरम् है। यह सारा जगत् ही सत्यम् है लेकिन जहां से यह जगत् निकला है, जो इसका आधार है, वह अनादि, अनन्त है, अनाम है, अविनाशी तत्व है।

जगत् परिवर्तनशील है परन्तु वह मालिक परिवर्तनशील नहीं है। यह चल है, वह अचल है। यह गतिमान है, वह स्थिर–स्थाणु है। राधास्वामी का भी यही मतलब है। राधास्वामी किसी व्यक्ति या फिरके का नाम नहीं है। दाता दयाल जी ने हर शब्द में 'राधास्वामी' नाम का प्रयोग किया है। आप देखें, उसका मतलब है ध्रुव, अचल, सर्वाधार,

परमतत्व जो बारम्बार अवतार लेता है और ज्ञान देता है। वह ज्ञानदाता, राधास्वामी, अचल मुकामी है। राधास्वामी का मतलब लोक और परलोक दोनों है। मालिके कुल का नाम राधास्वामी भी है। स्वामी जी ने तो एक जगह कहा है 'राधा राधा है, स्वामी कृष्ण कन्हाई है।'

इसलिये मैंने राधास्वामी से आरम्भ किया। सन्तमत में वही सब कुछ है जो उपनिषद् काल में भी था–श्रवण, मनन और निदिध्यासन। पहले सुनना अर्थात् सतसंग, फिर मनन अर्थात् सतगुरू से प्रश्न करना और फिर निदिध्यासन अर्थात् सतनाम का अनुभव करना, उसमें विलीन हो जाना। अनुभव के बाद ही शिष्य कहता है कि सतगुरू ने ठीक कहा था–

जब तक न देखो अपने नैना।
कभी न मानों गुरू के बैना।।

यह बात सही है लेकिन इसका मतलब यह नही है कि आप गुरू से बड़े हो गये, और आप यह सोचने लगो कि शायद गुरू गलत हो। इसका मतलब यह है कि जब तुम निदिध्यासन के जरिये खुद अपने अनुभव में नहीं उतारोगे, तब तक तुम्हें गुरू की बात की सच्चाई का पता नहीं लग सकता। जब अपने अनुभव में उतार लोगे तब उस शिष्य की तरह जाकर गुरू को नमस्कार करोगे, क्योंकि वह सत्य है। कुछ लोग **'कभी न मानों गुरू के बैना'** का अर्थ गलत समझते हैं। वे सोचते हैं कि गुरू ने कह दिया, पर इसे देखा जायेगा, जब मैं स्वयं अनुभव करूंगा तब मानूंगा। गुरू को एक तरफ फेंक दिया। यह शिष्य की बहुत बड़ी भूल है। संतमत की सबसे बड़ी देन है सतसंग। सतसंग ही ज्ञान पाने का सहज–सुगम साधन है, क्योंकि वह जमाना गया जब जिज्ञासु शिष्य बारह–चौदह वर्ष तक आश्रम में जाकर रहते थे।

सबहिं सुलभ सब दिन सब देसा।
सेवत सागर समन कलेसा।।

सतसंग केवल पूर्ण पुरूष का होना चाहिए, उसका नहीं जो किताबें पढ़–पढ़ कर किताबी ज्ञान उगल दे। सतसंग सबके लिए सुलभ है, चाहे वह किसी भी उम्र का हो। किसी भी आध्यात्मिक ज्ञान के लिए यह जरूरी नहीं कि आप बूढ़े हो कर ही उसे प्राप्त कर सकते हैं। कुछ लोगों का विचार है कि भगवद्गीता सन्यासवाद है। नहीं, ऐसी बात नहीं है। अर्जुन तो डर कर संन्यास लेने जा रहा था, पर भगवान कृष्ण ने उसे कहा, "नहीं, भागो नहीं, डट कर अपना कर्म करो।" गीता तो सहज समाधि, सहज योग और संतमत का एक खास नमूना है। यह सब के लिए है, सभी इसके अधिकारी हैं। सनातन धर्म में व्रत रखना, एकादशी– पूर्णिमा आदि का अनुष्ठान करने का मतलब तो कुछ और ही है। यह स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिए है। लेकिन अगर आप कहें कि एकादशी या पूर्णिमा का व्रत रखने और दान देने से ही मालिक मिल जाता है, ऐसी बात नहीं हैः–

सबहिं सुलभ सब दिन सब देसा।

वह मालिक सब के लिए और सब काल में सुलभ है। **'सदा दिवाली सन्त घर, आठों पहर आनन्द।'** यह मतलब है सतसंग का। यह जरूरी नहीं कि आपको काशी या हरिद्वार में ही मुक्ति मिलेगी। कबीर साहब ने इसे अप्रमाणित कर दिया कि काशी में शरीर त्यागने से वैकुण्ठ मिलता है और मगहर में मरने से मनुष्य नरक में जाता है। उन्होंने काशी से मगहर जाकर अपना शरीर त्यागा और कहाः–

'जो कबिरा काशी मरे तो रामहिं कौन निहोर!'

काशी में मरने से मुक्ति मिली तो राम की बड़ाई क्या रही। उनके लिए राम स्वयं मगहर में प्रकट हुए और कबीर सशरीर परम धाम को गये। परम दयाल जी महाराज ने अमेरिका के मर्सी हस्पताल (दया का अस्पताल) में जाकर शरीर छोड़ा। वह जितने दिन वहां रहे, उस अस्पताल के सारे मरीज ठीक होकर चले जाते थे। उनकी रेडियेशन का इतना भारी असर उन पर पड़ा। परम दयाल जी महाराज ने यह प्रमाणित कर दिया–

'सबहि सुलभ सब दिन सब देशा।'

वह मालिक सब देशों में, सब काल में है। सारा जगत् उसी का ही तो है। अरे! काल भी तो दयाल का ही है। नही तो काल कहां से आया? काल में ही तुमको दयाल मिलेगा। यदि काल नही तो आपको दयाल नहीं मिल सकता।

मानव शरीर इतना दुर्लभ और उत्तम है कि देवता भी इसे पाने के लिए लालायित रहते हैं। आप गृहस्थ में हो तो गृहस्थ का आनन्द

भोगते हुए ही मालिक को देखो। पहले मनुष्य से प्रेम करो। मनुष्य साक्षात् ईश्वर का रूप है। ईश्वर को देखना हो तो मनुष्य में देखो।

महाराज जी ने एक बार मुझसे पूछा कि 'अगर मैं यहां अमेरिका में मरूं तो मेरा पार्थिव शरीर भारत ले जाने में क्या कठिनाई आयेगी?' जब महाराज जी का पार्थिव शरीर भारत आया तो कोई कठिनाई नहीं आई। यह सब उनकी लीला थी। और भी कई सन्त विदेश में मरे लेकिन वे वहीं के वहीं रह गये। ऐसी मिसाल अब तक सिर्फ एक ही है कि कोई सन्त अमेरिका में प्राण त्यागे और उसका शरीर स्वदेश वापिस आये। परम दयाल जी महाराज का शरीर भी इतना दिव्य था कि जब तक वे समाधि में रहे, वैसी क्रांति, उतना तेज मैंने जीवन में नहीं देखा, जो दिव्य से दिव्यतर होता चला गया। मानवता मंदिर के ऊपर एक बादल आया और जल–वर्षा से भीषण ज्वाला शान्त हो गई।

परम दयाल जी महाराज ने अपने सतसंगों के प्रभाव से देश–विदेश और पूर्व–पश्चिम का भेद मिटा दिया। जो परमतत्व में विलीन हो गया उसके लिए सारा विश्व और मानव मात्र एक समान है। ऐसे सन्त सद्गुरू का सत्संग भी **'सबहिं सुलभ सब दिन सब देसा'**, ऐसा नहीं कि जब पंडित जी खास पूर्णिमा के दिन ही आयेंगे तो कथा सुनायेंगे। मुझे तो आप उधर ढूढ़ने गये और मैं यहां पहले ही पहुंच गया। आप एक कदम मालिक की तरफ चलें तो मालिक सौ कदम आप की तरफ चला आता है। सतसंग की यह महिमा है, लेकिन इसके लिए शर्त हैः–

'सेवत सादर समन कलेसा।'

दुख–क्लेश तो कई तरह के हैं, पर इनसे बचने का उपाय सिर्फ एक है–सतसंग को आदर पूर्वक सुने। चाहे शरीर का दुख हो, चाहे मन की चिंता हो, या मृत्यु का भय हो, सतसंग में जा कर आदर के साथ अदब से बैठ कर सुनने से आप के सभी दुख–क्लेश समाप्त हो जायेंगे। उनका शमन हो जायेगा, पर दमन नहीं। दमन का मतलब है बलपूर्वक या जबरदस्ती किसी चीज को दबाना। सतसंग तो सहज मार्ग है; इसमें आसन लगाने, स्वांस चढ़ाने या काया को कष्ट देने की जरूरत नहीं है। दिल से आदर किया और ज्यों ही झुके कि आपका सारा क्लेश दूर हो गया। **सतसंग में क्या मिलता है? सतसंग में आदर के साथ बैठने से नाम की प्राप्ति होती है।** नाम के प्राप्त होने से और नाम की भक्ति करने से बाकी सारे काम अपने आप ही पूरे हो जाते हैं। **सतसंग में आने से आपको यह पता चल जाता है कि हम सब कहां से आये हैं, कहां जायेंगे?**

आज का जो शब्द दाता दयाल जी का पढ़ा गया है, उसके अन्दर सार भेद छिपा है कि वह रोम–रोम में रमता योगी कहां है! इस शब्द के आधार पर मैं आपको थोड़ी सी व्याख्या दूंगाः–

आंखों का तारा सबका सहारा, हित चित से तू प्यारा है।
निर्मल शुद्ध बुद्ध हितकारी, सुख सम्पति परिवारा है।

'आंखों का तारा' कौन होता है? नवजात शिशु मां–बाप का प्यारा होता है। बच्चे हमें प्यारे हैं, पत्नि प्यारी है, पोता प्यारा है। ये सब हमें क्यों प्यारे हैं? ये प्यारे इसलिये हैं क्योंकि यह सब आत्मा हैं। प्यार आत्मा का आत्मा से होता है। 'आंखों का तारा' वही है जो हर एक के अन्दर मौजूद है। पति–पत्नि एक दूसरे को उनकी आत्मा के लिए प्यार करते हैं। आत्मा शरीर और मन का सहारा है और आत्मा उस सर्वाधार का अंश है जो सब का सहारा है, सब की आंखों का तारा है। **तुम समझ रहे हो कि तुम शरीर से प्यार करते हो। लेकिन नहीं, तुम प्यार इसलिए करते हो क्योंकि वह सर्वाधार जो तुम्हारे अन्दर है, वही सर्वाधार उसके अन्दर भी है।** वही सर्वाधार सबके अन्दर मौजूद है। ऐ सर्वाधार मालिक! तू हित चित से प्यारा है, मैं तुझसे ही निकला हूं और तुझ में ही वापस आना है। मैं भूल गया था कि तू सब के अन्दर मौजूद है, मैं भूल से इनको शरीर और मन मान बैठा था। मैंने यह नहीं देखा कि असली 'आंखों का तारा' तो उनका शरीर नहीं, मन नहीं बल्कि इनसे परे है। चाहे मेरी पत्नी भले ही मुझ पर क्रोध करे, क्योंकि वह रक्त–चाप की मरीज है, पर उसके प्रति मेरा प्यार इसलिए है कि उसके अन्दर वही 'आंखों का तारा' मौजूद है जो सबका सहारा, हित–चित से प्यारा है। हम भूल कर हित–चित से प्यार किससे करते हैं– मकानों से, टेलीवीजन से, मोटर कार से, पैसे से। लेकिन हमारा हित–चित से प्यार तो अपने प्रियतम प्यारे से होना चाहिए जो सदा सब पर अपना प्यार बरसाता है।

निर्मल शुद्ध बुद्ध हितकारी, सुख सम्पति परिवारा है।

हम सुख ढूंढ़ते हैं भौतिक जगत् में; यह भी होना चाहिए। लेकिन असल में निर्मल वह है जिसके अन्दर किसी प्रकार का मल नहीं है, जो सदा शुद्ध है। वह न शरीर है, न मन है, न आत्मा है, न प्रकाश है। वह बुद्ध है, वह हितकारी है। हमारा सच्चा हित तो उसी से है। जब उसको पा लिया तो आपकी आत्मा भी चमक उठेगी, मन भी शक्तिशाली हो जायेगा और शरीर भी स्वस्थ रहेगा। Seek ye the Kindgdom of God First, All other things shall be added. पहले तुम परमतत्व की बादशाहत को ढूंढ़ो, बाकी तीन लोक का कर्त्ता 'काल' तो अपने आप हाथ में आ जायेगा। इसीलिये तो कहते हैं—

मुक्ति की नहीं चाह मन में भक्ति प्यारी लाग।
राधास्वामी की दया से भाग्य पूरन जाग।।

दयाल पुरूष राधास्वामी ही वह परमतत्व है। उसकी दया हो गई, वह हमें मिल गया तो बाकी चीजें अपने आप ही आ गईं।

घट घट बासी आनन्द रासी, अविनाशी मंगलकारी।
रोम रोम में रमता योगी, रोग सोग से न्यारा हैं।।

परमतत्व सबके अन्दर मौजूद है, वह घट—घट वासी है। हमारा प्रेम जब भी किसी से होता है तो समझो वह घट—घट वासी ही हमें बुला रहा होता है। हम समझते हैं कि हमें उसके शरीर या मन से प्रेम है पर अगर शरीर ने जबाब दे दिया, या मन ने बेरूखी दिखाई, तो उससे नफरत हो जाती है। लेकिन 'घट—घट वासी' में हानि—लाभ, दुख—सुख का कोई सवाल ही नहीं है। वह तो सदा आनन्दमय है। उसका मूल ही परमानन्द है, वह अविनाशी है। शरीर का नाश हो जाता है, मन परिवर्तित हो जाता है, आत्मा भी आवागमन के चक्र में रहता है, लेकिन अविनाशी परमतत्व नित्य और मंगलकारी है। वहां अमंगल का सवाल ही नहीं होता। सन्त सद्गुरू इस अनुभव के बाद सतसंग देता है, इसलिए उसके सतसंग से मंगल होता है। हमारे कण—कण और रोम—रोम के अन्दर उसी रमता जोगी की ज्योति है। जब यह अनुभव हो जाता है तो फिर शरीर के रोग, मन के शोक और आत्मा का अज्ञान सब चले जाते हैं।

गुणातीत गोविन्द मुरारी, पुरूषोत्तम करूणासागर।

जन मन रंजन दोष विभंजन, प्रेम प्रीति भंडारा है।।

गुणातील—अर्थात् तीनों गुणों से परे। सभी गुण उसी से तो निकले हैं। सच्चिदानन्द तो गुणमय है, पर अविनाशी परमतत्व गुणातीत सभी गुणों से परे है। वह गुणों का आधार है, सभी गुणों का स्रोत है, खान है। दाता दयाल कह रहे हैं—'गुणातीत गोविन्द मुरारी'। आप कृष्ण को भी अपना लक्ष्य मानकर वहां पहुंच सकते हैं, बशर्ते आप गोविंद का मतलब समझते हों। 'गो' का मतलब है जगत् और 'बिन्दू' है अविनाशी तत्व। कृष्ण वही है, उसकी मूर्ति से भी आपका काम हो जायेगा, लेकिन उसको मनुष्य नहीं मानना, उसको परमतत्व का साक्षात् अवतार मानना।

गुरू को मानुष जानते, ते नर कहिये अंध।
दुखी होयं संसार मे, आगे जम का फंद।।

'वाणी जालम् महाजालम्' इस वाणी को भी समझना चाहिये। जो लोग गुरू के निकट रहते हैं वे समझते हैं कि गुरू तो हमारी तरह ही खाना खाते है, पानी पीते हैं, बीमार होते हैं, तो फिर वे क्या गुरू हुये? यह तो हमारे ही जैसे इंसान हैं। जितने गुरू के नजदीक रहने वाले होते हैं, वे गुरू से कभी कुछ नहीं प्राप्त कर सकते क्योंकि वे उनको चाचा, ताया, दादा, नाना, भाई या संसारी मनुष्य समझते हैं। जो गुरू को परमतत्व मानकर उनकी आज्ञा पर चलते हैं, उन्हें सफलता मिलती है। गुरू साक्षात् परमतत्व ही हैं।

गुणतीत गोविन्द मुरारी, पुरूषोत्तम करूणासागर।

'गो' अर्थात् यह जगत् जो चलने वाला है, लेकिन 'गो' के साथ बिन्दु लगा हुआ है। 'गो' राधा है और बिन्दु स्वामी है। गो काल है, बिन्दु दयाल है। गुणातीत गोविन्द काल में भी है अर्थात् जगत् में भी है और जगत् से परे भी है, दयाल भी है।

पुरषोत्तम आत्मा से परे परमतत्व का नाम है जो करूणा का अनन्त भण्डार है, उसकी करूणा अपरम्पार है। उसकी दया की अनन्त धारा अपने आप बहती है। जब उसकी ओर आपका ध्यान गया और उससे आपकी लौ लग गई तो बाकी चीजें अपने आप होती चली जायेंगी। जनमन रंजन पुरोषत्त्म सब को आनन्द देने वाला है। भगवान श्रीकृष्ण लंगोटी धारी नहीं थें। अरे! यह जगत भी आनन्द मय है।

फिर दोष–विभंजन; कहीं कोई दोष आ जाय तो, उसको तुरंत दूर कर देने वाला है। उस प्रेममय पुरोषत्तम ने प्रेम के लिए यह सारा संसार बनाया है ताकि तुम प्रेम के रास्ते पर चलते हुये, मालिक से विरह का अनुभव करके उससे मिलने के लिए व्याकुल हो उठो। जब उसके प्रेम में तुम पूरी तरह दीवाने हो जाओगे, तब वह अपने आप किसी न किसी रूप में तुम्हें मिल जाएगा।

नाम लेत भव सिन्धु सुखावे, ध्यान धरत कलिमल जावे।
भव दुख मेटन दोष नसावन, भक्ति रीति का सारा है।।

नाम लेने का मतलब मुंह से नाम उच्चारण करना नहीं है, बल्कि नाम–तत्व में स्वयं धुल–मिल जाना है। सुरत शब्द योग में आप बड़ी आसानी से शब्द को प्रकट कर लेते हैं। मीरा ने पत्थर की मूर्ति को परमतत्व मान कर उसकी भक्ति की। यह सन्तमत की महिमा है। मीरा के मुकाबले का सन्त बताओ मुझे! मीरा ने कृष्ण–भक्ति को साध लिया; "गिरधर गोपाल ही मेरा पति परमेश्वर है, सर्वस्य है।" इस प्रेम को मीरा ने ऐसा साधा कि उसे हर जगह वही दिखाई देने लगा। फिर भवसागर अपने आप सूख गया। परमतत्व स्वरूप सद्गुरू का ध्यान करो, मन शुद्ध स्थिर हो जायेगा और वातावरण के सारे प्रदूषण हट जायेंगे। भक्त वह है जो विभक्त नहीं है, जो उस मालिक से मिल कर एक हो गया है। यही भक्ति–रीति का सारांश है, उसका निचोड़ है।

करम धरम वैराग ज्ञान तत, विज्ञानी पूरा सच्चा।
हे दयाल करो दया की दृष्टि, हृदय दुखी हमारा है।।

कर्म, धर्म, वैराग्य और ज्ञान तत्व यह सब कुछ ठीक है, लेकिन कर्म का रास्ता कठिन है और धर्म में भी अनेक मत–मतान्तर हैं। बस एक ही रास्ता सबमें सरल–सुगम है, वह है सतसंग का सहज मार्ग।

परहित सरिस धर्म नहिं भाई, पर पीड़ा सम नहि अधमाई।

परहित का धर्मपालन करने से वैराग्य और ज्ञान तत्व अपने आप ही मिल जाते हैं। जब ऐसे मालिक से लौ लगा लिया, फिर और कुछ करने की जरूरत नहीं। बस मालिक से प्रेम पूर्वक विनती करो, "हे दयाल, तुम्हीं सब कुछ हो, सब के आधार हो अब दया की दृष्टि करो, हमारा हृदय दुखी हो गया है।" मैंने अभी आप को बताया कि वह मंगल मय है। दुखी होने का तो कोई कारण नहीं जान पड़ता, फिर भी हम दुखी हैं। हृदय इसलिए दुखी है कि हम यह भूल गये हैं कि हम परमतत्व हैं। इस जगत् में आकर हम अपने सर्वाधार प्रियतम प्यारे से विछुड़ गये हैं। इस दुख को मिटाने के लिये ही सतसंग कराया जाता है। उसके विरह की तड़फ के कारण ही हमारा हृदय दुखी है।

तू तो थी सतपुरूष की अंशी, गोत लजाया शर्म न आई।

अरे! क्या तुम भूल गये कि तुम शेर हो! तुम अपने रूप को ही भूल बैठे, तुम अपने आप को गीदड़ समझ बैठे हो। जब तक हम दुखी नहीं होते, उससे मिलने को बेचैन नहीं होते, तब तक उससे हमारा मिलाप नहीं होता।

दिल वो दिल है जो हर घड़ी, यादे जाना में बेकरार रहे।
आंख वो आंख है जो शामो सहर, गमे फुर्कत में अश्कबार रहे।।

जो मालिक के लिए नहीं रोता, वह प्रेमी नहीं है।

अब तो शरण में आन पड़ा हूं, एक आस तेरी मुझको।
राधास्वामी चरन में प्रीत रहे नित, वही धुर इष्ट सहारा है।।

अब दुनिया की सब चीजें जो पहले अच्छी लगती थीं, फीकी और दुखदाई लगती हैं। अब तो बस एक ही प्रार्थना है कि मालिक, मेरा यह मन आपके प्रकाशमय चरणों में लीन हो, क्योंकि **'प्रकाशमय चरण'** ही ध्रुव इष्ट तक पहुंचने का एक मात्र सहारा है। इष्ट तो उससे आगे है, परन्तु इष्ट तक पहुंचने का सहारा यही है कि मैं सबमें उसी प्रियतम को देखूं।

जिधर देखता हूं उधर तू ही तू है।
कि हर शै में जलवा तेरा हू ब हू है।।
जो सब को तुम्हीं में, तुम्हें सब में देखे।
वो आशिक है तेरा, और माशूक तू है।।

अब मैं सोचता हूं कि मेरी यही हालत सदा बनी रहे, तेरे सिवाय कुछ भी दिखाई न दे।

यो मां पश्यति सर्वत्र, सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामी स च मे न प्रणश्यति।।

भगवान कृष्ण ने स्वयं कह दिया कि अर्जुन जो मुझे ही सब जगह देखता है और सबको मुझमें देखता है उसके लिए मैं सदा

उपस्थित रहता हूं और वह मेरे लिए सदा उपस्थित है। बात जहां से शुरू हुई थी, अन्त में फिर वहीं आ गये। आज का सतसंग शुरू भी इसी बात से हुआ था और समाप्त भी इसी बात से हो रहा है कि वह प्यारा सब जगह दिखाई देता है। वह कभी मुझसे अलग नहीं होता, वही मेरा सहारा है, बाकी संसार के सब सहारे छूट गये।

सूली ऊपर सेज पिया की किस विधि मिलना होय।

सूली का क्या मतलब है? जब किसी को सूली पर लटकाते है तो उसके हाथ बांध देते हैं और पैरों के नीचे से सहारा हटा लेते हैं। वह बेसहारा हो जाता है। सूली का मतलब सारे सहारे छोड़ देना है।

कश्ती खुदा पे छोड़ दो, लंगर को तोड़ दो।

उसके सिवाय न कोई है, न किसी का सहारा लो।

सबको राधास्वामी!

सतसंग परमसंत हुजूर मानव दयाल जी महाराज

(मोदीनगर दिनांक 30.09.84)

संतमत और सनातन धर्म

जिनको चाह राम की साधु, राम उन्हें मिल जाते हैं।
राम दास के पास राम हैं, और नहीं कोई पाते हैं।
वाद विवाद में राम नहीं हैं, राम न पूछा पेखी में।
रामदास ने राम को पाया, सहज ही देखा देखी में।।
राम नहीं तीरथ में रहते, राम बरत के साथ नहीं।
राम दास के हाथ राम हैं, औरों के वह हाथ नहीं।।
बून्द में सिन्धु सिन्धु मे बून्दें, बून्द सिन्धु दोऊ एक हुए।
बुन्द सिन्धु का झगड़ा मन में, उनके लिए अनेक हुए।।
राधास्वामी सतगुरू आये, भेद दिया पूरा पूरा।
जो कोई भेद भाव को मेटे, सतगुरू का सेवक सूरा।।
अखंडमन्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः।।

राधास्वामी!

मेरी अपनी आत्मा के स्वरूप भाईयों और बहनों, आज मेरे यहां के दो–दिन के प्रोग्राम में यह पहला सतसंग है। इस सतसंग को आरम्भ करने के लिए मैंने जो शब्द सावित्री बहन से पढ़वाया है उसका खास महत्व है। क्योंकि एक तो यह राम की व्याख्या की करता है कि राम क्या है, दूसरे यह जानने की जरूरत है कि मनुष्य क्या है? उसे राम की चाह है या नहीं और यदि राम की चाह है तो उसे उस चाह को पूरा करना चाहिए। राम क्या है? साकार राम तो आप स्वयं मनुष्य के रूप में बैठे हुए हैं। मैंने मंगलाचरण में आपके सामने उपनिषद् का एक श्लोक पढ़ा। राम के बारे में, मनुष्य के स्वरूप के बारे में उपनिषद् क्या कहते हैं। हमारी जो संस्कृति है जिसे हम गलती से हिन्दू संस्कृति कहते हैं वह विश्वव्यापी संस्कृति है। यह भारत जो आप देख रहे हैं वह चक्रवर्त्ती विशाल भारत था। अगर आपने महाभारत पढ़ी है तो आपको इतना तो अवश्य पता होगा कि धृतराष्ट्र का विवाह गन्धार की राजकुमारी गान्धारी से हुआ था जिसको

कन्धार कहते हैं। राम के समय में भी चक्रवर्त्ती राज्य था। चक्रवर्त्ती का मतलब है जिसका सारी पृथ्वी के चारों ओर राज्य हो। यह सब बात काल्पनिक नहीं है, तथ्यात्मक है और सच्चाई पर आधारित है, इतिहास पर आधारित है। यह संस्कृति सारे विश्व के केन्द्र की संस्कृति थी और इस संस्कृति में कुछ तो बात है जो यह अभी तक जीवित है। मशहूर शायर इकबाल साहिब का शेर कुछ इस प्रकार है–

मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना।
हिन्दीं हैं हम वतन हैं हिन्दोस्तां हमारा।।
ऐ वादिये गंगा वो दिन है याद तुझको।
उतरा तेरे किनारे जब कारवां हमारा।।
यूनान मिश्र रोमा सब मिट गये जहां से।
लेकिन अभी है बाकी नामों निशां हमारा।।
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।
सदियों रहा है दुश्मन दौरे जहां हमारा।।

इकबाल साहिब कट्टर मुसलमान थे लेकिन सच्चाई उन्होंने भी बयान की है। यह संस्कृति हिन्दू धर्म की संस्कृति नहीं है। हिन्दू शब्द आपको वेदों में, उपनिषदों में, भगवद्गीता में, रामायण में या किसी पुराण में नहीं मिलेगा। यह संस्कृति अनादिकाल से चली आ रही है, यह सनातन संस्कृति है, सनातन धर्म पर आधारित है। गीता में लिखा है–

एष धर्मः सनातनः (यह धर्म सनातन है)।

यह संस्कृति धर्म इतना सच्चा है, इतना व्यापक है कि यदि आप उसके एक अंश पर भी अमल करेंगे तो आपको कितने भी खतरे का भय क्यों न हो, आप उससे बच जायेंगे। कुछ बात तो है जो हमारी हस्ती मिटती नहीं है। हमने भी देखा है कि जब–जब भारत पर अधिक संकट आया तब–तब वह और अधिक ज्यादा चमकता गया। हालांकि अमेरिका और अन्य बड़े–बड़े देश नहीं चाहते कि भारत पनपे लेकिन भारत पनपेगा। अमेरिका में भारत के बारे में बिलकुल गलत धारणा है। भारत के योग के प्रति कुछ लोगों में जिज्ञासा है। मैंने 17 साल अमेरिका में पढ़ाया है और भारत की असली तस्वीर उनके सामने रखने की कोशिश की है जिसके फलस्वरूप विश्वविद्यालयों में अब परिवर्तन हो रहा है। मैं ऐसे खानदान में पैदा हुआ जहां चारों तरफ धर्म और दर्शन था। मेरे पिता जी बहुत उत्कृष्ट अध्यापक थे। वह गीता के श्लोक रोजाना पढ़ते थे तथा मुझे पढ़ाते थे। मेरे ताऊ जी बड़े भारी ज्योतिषाचार्य थे लेकिन बड़े कर्मठ तथा बड़े इष्ट वाले थे। वह सुबह तीन बजे से लेकर 6 बजे तक अपने इष्ट के ध्यान में रहते थे। वैसे ही संस्कार मेरे थे। मुझे राम की चाह बचपन से ही थी, शायद पिछले जन्म के संस्कार भी हो सकते हैं। पांच साल की उमर से ही राम के साथ मेरा रोजाना योग होता था। व्यवसाय से मैं अध्यापक था, मालिक की बड़ी दया थी कि मुझे दर्शन शास्त्र पढ़ाने को मिला। दर्शन शास्त्र में क्या पढ़ाया जाता है? मनुष्य का स्वरूप क्या है? हमारा उद्देश्य क्या है? मालिक से कैसे मिला जा सकता है? अमेरिका में मैंने दर्शन शास्त्र के साथ–साथ अन्य सभी धर्मों को भी पढ़ाया। अध्यापक की यह विशेषता है कि वह जीवनभर छात्र रहता है, अध्ययन करता है इसलिए वह विचारों से भी युवा रहता है और चाहे तो शरीर से भी युवा रह सकता है।

संसार में मनुष्य इसलिए आया है कि जिस मालिक ने यह जगत् चलाया है, जो कण–कण में व्याप्त है, जो सब जगह मौजूद है उसको ढूंढें तथा उसको मिलें और उसी के साथ प्यार करें। लोग कहते हैं कि उसने यह जगत् क्यों बनाया? उसने यह जगत् इसलिए बनाया कि उस परम–तत्व के अन्दर, उस सर्वाधार के अन्दर एक उमंग आये, एक लहर आये और उसके अन्दर जो एक शक्ति है वह शक्ति बाहर आये। इसलिए उसने एक लहर से कोटि–कोटि ब्रह्माण्डों की रचना की तथा उसके अपने पुत्र स्वयं आप और मैं उससे निकल कर इस जगत् में आये लेकिन हमने इस जगत् में आकर उसका अनुभव करने की कोशिश नहीं की, न यह जानने की कोशिश की कि उसने जो मंडलाकार बनाये हैं वह क्या है?

अखंडमन्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः।।

मैंने इस मंगलाचरण में गुरू को नमस्कार किया है। परन्तु यह शरीरधारी गुरू को नमस्कार नहीं किया गया है। **यहां पर गुरू का मतलब है जो सबका आधार है, ब्रह्माण्डों का आधार है, देवताओं का**

आधार है, अवतारों का आधार है, जिसके बाद में कोई चीज नहीं रहती है, उसका नाम गुरू है। मैंने इसी गुरू को अपने मन्त्र में नमस्कार किया है।

'गुरू देव जगत् व्याप्तम्'– गुरू की दैवी शक्ति, दैवी ताकत क्या है? गुरू की दैवी शक्ति, गुरू की दैवी ताकत है उसका प्रकाश और वह प्रकाश देवी–देवदाताओं के पीछे भी लगा रहता है। आप देखोगे कि जितने भी पैगम्बर हैं उन सबके पीछे प्रकाश लगा रहता है। मैं आपको बता रहा था– जगत् क्या है? जगत् वह है जो हमेशा गति में रहता है, चलता रहता है, बदलता रहता है। पृथ्वी, सौरमंडल, कोटि–कोटि ब्रह्माण्ड जब जगत् है।

इस चलने वाले जगत् के अन्दर काल है तथा इसके बाहर दयाल है। काल का मतलब कोई डरावनी चीज नहीं है। काल चलता है, काल के अन्दर तीन शक्तियां हैं– (1) जो शक्ति किसी चीज को पैदा करती है उसे विश्वसृट् ब्रह्म कहते हैं या ब्रह्मा की शक्ति कहते हैं। (2) पैदा होने के वाली चीज का पालन–पोषण करने वाली शक्ति, उसकी रक्षा करने वाली ताकत विष्णु तत्व है (3) पैदा होने वाली चीज को वापिस ले जाने वाली शक्ति को शिव तत्व कहते हैं। शिव को संहारकर्त्ता भी कहते हैं। 'ब्रह्मा विष्णु शिवात्कम्–शिव कल्याणकारी हैं। जहां से यह जगत् निकला था वहां प्रकाश है। कोटि–कोटि ब्रह्माण्ड प्रकाशमय हैं–**'मनोभूतकोटिप्रकाशस्वरूपम्'** ।

यह तीनों ताकतें जगत् के अन्दर हैं। पैदा होना, आगे बढ़ना और फिर कारण शरीरमें प्रकाश के अन्दर विलीन हो जाना ही इन ताकतों का खेल है। यह जगत् ऐसे ही चला आ रहा है और ऐसे ही चलता रहेगा। निकला, प्रसारित हुआ, फैला और फिर वापिस चला गया। 'गुरू देव जगत् व्याप्तम्'–गुरू की दैवी शक्ति, प्रकाशमय शक्ति, ब्रह्मा–विष्णु–शिव सारे जगत् में फैली हुई है। गुरू के इस रूप को काल का रूप कहते हैं। काल का अर्थ है समय के अन्दर। यह उभरता है, उठता है और विलीन हो जाता है। भगवद्गीता में कृष्ण ने कहा है कि **"यह जगत् मेरी माया से, योगमाया से, महामाया से, पैदा होता है।"** माया का सिर्फ यह मतलब नहीं कि दुनिया कुछ नहीं है। महामाया से योगमाया सकारात्मक है, यह वह शक्ति है जिसको व्यक्त करते हैं। जब यह व्यक्त होती है उस समय संसार का विकास होता है, जब वह सिमट जाती है उस समय संसार में प्रलय होती है। तो महामाया की शक्ति के यह तीन रूप हुए। इस जगत् के अन्दर तीन गुण हैं। इस जगत् की सीमा है लेकिन जो खुद अपने आप में असीम है उसने अपने आपको सीमित कर लिया। वह तो अनन्त है। उसने एक धार को ब्रह्मा, विष्णु, शिव में सीमित कर दिया। सीमित वही कर सकता है जो असीम है। यही एक विशेषता है।

मैंने आपको बताया कि मनुष्य अपने आप में पूर्ण है। परमतत्व ब्रह्मा, विष्णु, शिव के रूप में सीमित है। **'गुरोः परतरं नहि किंचित्'** परमतत्व तो इस जगत् के पार भी है, इससे अधिक भी है परंतु उससे परे कोई भी नहीं है। यह जगत् तो परमतत्व की एक बूंद मात्र है।

महाभारत का युद्ध शुरू होने से पहले अर्जुन और दुर्योधन भगवान कृष्ण के पास सहायता लेने के इरादे से गये। भगवान कृष्ण ने कहा कि तुम दोनों मेरे पास आये हो। एक तरफ मैं अकेला हूं और दूसरी तरफ मेरी सारी सम्पत्ति, सेना, जायदाद है। अर्जुन ने कहा, महाराज! मैं कुछ नहीं मांगता, मैं आपको मांगता हूं। अर्जुन कृष्ण को गुरू मानता था। भगवान कृष्ण जब रथवान बने तो अर्जुन को ध्यान नहीं रहा और उसने कह दिया कि "हे मित्र, दुर्योधन के कहने पर मेरे साथ कौन–कौन लड़ने आये हैं, मैं इनको देखना चाहता हूं।"

सेनयोरूभयोर्मध्ये रथं स्थापयमेऽच्युत। (मित्र मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा करो।)

अब भगवान कृष्ण को आभास हुआ कि इसको अभी तक यह समझ नहीं आया कि मैं कौन हूं? इसलिए उन्होंने रथ को द्रोणाचार्य और भीष्मपितामह के सामने खड़ा कर दिया। गीता के पहले अध्याय का बड़ा महत्व है–'अर्जुन विषाद योग' उसका नाम है। विषाद होने से, घबराहट होने से, तुरंत मालिक की चाह पैदा हो जाती है। अर्जुन ने दो गलतियां की थीं–(1) एक तो भगवान कृष्ण को अच्युत कह दिया (2) दूसरे अर्जुन ने भगवान कृष्ण से कहा कि महाराज युद्ध तो बहुत खराब है, जब युद्ध में आदमी मर जाते हैं तो स्त्रियां दुष्चरित्र हो जाती हैं। स्त्रियों के दुष्चरित्र होने से वर्णसंकर संतान पैदा होती है। हमने

सुना है कि वेद कहते हैं कि वर्णसंकर संतान के पैदा होने से हमारे पितर नरक में जाते हैं।

भगवान कृष्ण ने सोचा कि इस मूर्ख को वेदों पर संदेह हो रहा है। इसको पता नहीं कि वेद क्या चीज है? भगवान कृष्ण ने अर्जुन को वेद की निन्दा करने पर प्रताड़ना दी, उसको गाली दी और कहा कि तुम ऐसी बाते कर रहे हो जैसे अनाड़ी लोग करते हैं, गिरे हुए लोग करते हैं, तेरा ऐसा सोचना बिलकुल गलत है। ऐसी बात करने से तू नर्क में जायेगा, तेरी कीर्ति चली जायेगी। अर्जुन को समझाते हुए फिर कहा कि बात तो विद्वानों जैसी करता है लेकिन तू उस चीज की चिन्ता कर रहा है जो चिन्ता करने के योग्य नहीं है। तू समझ रहा है कि तू इनको मार देगा। अरे! आत्मा तो न मरती है और न कोई उसे मार सकता है, आत्मा तो अमर है। लेकिन जब अर्जुन की समझ में यह नहीं आया तो उसे विराट रूप दिखाया, जब विराट रूप दिखाने पर भी ज्ञान नहीं हुआ तब भगवान कृष्ण ने अर्जुन को भक्ति मार्ग बताया। लोग समझते हैं कि गीता वेदों का विरोध करती है लेकिन गीता वेदों का विरोध नहीं करती। एक जगह आता हैः— त्रैगुण्यविषया वेदाः।

यहां वेद का मतलब है यह त्रिगुणात्मक जगत्—शरीर, मन और आत्मा से परे विशुद्ध आत्मा जिसे सुरत भी कहते हैं। वेद सभी धर्मों के, दर्शन के आधार हैं, चाहे वह सन्तमत है, चाहे आर्यसमाज है, चाहे विवेकानन्द का वेदान्तवाद है। कोई भी दर्शन ऐसा नहीं जो वेदों का उल्लंघन करता हो। छः दर्शन (न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मिमांसा, वेदान्त) आपस में तो मतभेद रखते हैं लेकिन सभी दर्शन वेदों को प्रमाण मानते हैं। वेद नाम है ज्ञान का। वेदों के अन्दर हर प्रकार का ज्ञान है। यदि गीता को वेदों की दृष्टि से पढ़ा जाये तो उसमें आपको विरोध दिखाई नहीं पड़ेगा। गीता के अन्दर वेदों का सारा का सारा तत्व है। इसलिए भक्ति मार्ग वाले कहते हैं कि गीता भक्ति मार्ग बताती है और वेदान्ती कहते हैं कि गीता ज्ञान मार्ग बताती है। जो कर्मकाण्ड़ी हैं, कर्म पर चलते हैं वह कहते हैं कि यह हमें कर्म मार्ग बताती है।

मालिक का स्वरूप अपने आप में पूर्ण है, हम सब उस मालिक में से निकले हैं, इसलिए मनुष्य का स्वरूप भी अपने आप में पूर्ण है। मालिक का स्वरूप क्या है? मालिक का स्वरूप है कि आपके अन्दर उसकी जो परमावस्था है, उस अवस्था में वह जगत् से बाहर है। उसकी एक धारा मात्र से सारे जगत् की उत्पत्ति हुई है। तो इस सच्चाई को गीता में बताया गया है कि परमतत्व अपने आप में पूर्ण है। चूंकि मनुष्य अमृत से निकला है इसलिए वह अमृत का पुत्र है और अपने आप में पूर्ण है।

मालिक का शरीर 'ब्रह्मा' विराट है, उसका मन अव्याकृत 'विष्णु' है और उसकी आत्मा 'शिव' है लेकिन वह अपने आप में इन तीनों से परे इनको धारण करने वाला है। इसी तरह से हमारा भी शरीर है, मन है और आत्मा है। मैं आत्मा से परे की बात कर रहा हूं। यहां आत्मा का मतलब वह कारण शरीर है जो प्रकाशमय है, ज्योतिर्मय है जो शरीर के नष्ट होने पर भी रहता है, मन के बदलने पर भी रहता है और फिर ऊपर जाकर के वापिस आ जाता है। लेकिन वह भी उसका कारण शरीर है जिसका अनुभव हम गहरी नींद में करते हैं, आनन्द की अवस्था में करते हैं। 'अहं ब्रह्मास्मि' कह देना भी गलत है क्योंकि हम उसके बराबर नहीं हैं, हम उसका अंश जरूर हैं। यह सच्चाई है जो वेदों में है। आपस में जितने भी लड़ने झगड़ने वाले शास्त्र हैं, षट्दर्शन हैं यह सभी वेदों से निकले हैं क्योंकि वेदों में मनुष्य का, परमात्मा का, एकत्व का, अनेकत्व का पूर्ण ज्ञान है। इसलिए इन सब में मतभेद होते हुए भी यह सब उसी तत्व की व्याख्या करते हैं। यह आत्मसन्तति वेदों से, ऋषियों से चली आ रही है। यदि इसको हम ऋषि परम्परा कहें, सनातन धर्म कहें, सनातन संस्कृति कहें तो सबसे अच्छी बात है। इससे बहुत सी गतलफहमी दूर हो जायेगी।

मैं आपको बता रहा था कि आपके सामने जो शब्द पढ़ा गया उसका एक खास महत्व है। इस शब्द के अन्त में एक कड़ी आती है —

राधास्वामी सतगुरू आये, भेद दिया पूरा पूरा।
जो कोई इस भेद भाव को मेटे, सतगुरू का सेवक सूरा।।

इस शब्द में राधास्वामी शब्द आया है। राधा क्या है? स्वामी क्या है? मै। इसकी व्याख्या करना चाहता हूं। राधा परमतत्व की धार है, शक्ति है, फैलाव है, जगत् है। स्वामी उसका आधार है, इसलिए उसे

परमतत्वाधार कहा जाता है, जगदाधार कहा जाता है, परात्पर ब्रह्म भी कहा जाता है। मन ही ब्रह्म है जो फैलता है। यह ब्रह्म ही जगत को बनाने वाला है। इस जगत् के अन्दर सत्यम् है, सुन्दरम् है और शिवम् है। यह माया भी झूठ नहीं है। कहा गया है–

नाम रूप दोऊ ईश उपाधि। अकथ अगाध अनन्त अनादि।।

यदि मालिक इस जगत को नहीं फैलाता तो हम आते ही क्यों? हम उसका अंश होकर कैसे कह सकते हैं कि यह जगत् मिथ्या है, माया है। यह वाचक वेदान्ती का अधूरा ज्ञान है। वेदान्ती का यह कहना सही है कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सत्, चित्त्, आनन्द पूर्ण नहीं हैं क्योंकि परमतत्व इनसे परे है। लेकिन यह जगत् अपने आप में पूरी तरह से पूर्ण भी नहीं है और पूरी तरह से अपूर्ण भी नहीं है। एक तरफ तो हमें पता चलता है कि यह जगत् सीमित है और दूसरी तरफ यह असीम से निकला है और ये दोनों चीजें मनुष्य के अन्दर मौजूद हैं। इस सच्चाई को जानने की जरूरत है कि यह जगत् सुन्दर है। आपने पष्थ्वी से सितारों को देखा है, यदि आप चन्द्रमा पर जाकर देखें तो यह सारा जगत् बहुत सुन्दर दिखाई देगा जो इस बात को प्रमाणित करता है कि इसको बनाने वाला सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् है। जगत् राधा है, राधा लक्ष्मी है और लक्ष्मी सुन्दर है। इस जगत् के अन्दर हम परलोक से आये हैं। यह जगत् हमारा लोक है। राधा शब्द धुनात्मक है।

दो प्रकार के शब्द होते हैं– (1) धुनात्मक और (2) वर्णात्मक। मैं ताजमहल शब्द बोलता हूं –यह वर्णात्मक है। यदि ताजमहल आपने देखा नहीं है तो मैं बता सकता हूं कि ताजमहल की चार मीनारें हैं वह संगमरमर का बना है। ताजमहल की तस्वीर भी दिखा सकता हूं। जब आप स्वयं जाकर देखेंगे तो कहेंगे कि यह वैसा ही है जैसा वर्णन किया गया था। वर्णात्मक शब्द वह होता है जिसका मनुष्य स्वयं वर्णन कर सकता है। लेकिन कुछ शब्द ऐसे हैं जो धुनात्मक होते हैं। ऐसे शब्दों की आवाज सुनते ही आपको उसका नाम याद आ जाता है– 'ऊँ', 'सोहम्', 'राधा' आदि शब्द धुनात्मक हैं। राधा शब्द नहीं है, असल में वह धार आई हुई है जिस धार से हम आए हैं। हम समुद्र की बूंदे हैं। जो धार नीचे आई, संत लोग उसे धारा कहते हैं। मैं धारा बोल रहा हूं और आपके सामने धार की तस्वीर आ रही है क्योंकि धार अशब्द है। उसका मतलब है माया, प्रकृति, सौंर्दय, जगत्, सौर्यमंडल, कोटि–कोटि ब्रह्माण्ड जिसके आनन्द भोगने के लिए आत्मा नीचे आती है। इस जगत् में आनन्द है।:–

'ईशावास्यमिदं सर्वम्'

यदि आप इस जगत् में रोने–पीटने के लिए आये हैं तो रोते रहोगे और यदि आप समझोगे कि यह सब आनन्दकन्द परमतत्व का ही पसारा हैं तो आप भी आनन्द का अनुभव करोगे। धारा से हम नीचे आये हैं, धारा का मतलब वह सब कुछ है जो आपको दिखाई देता है। जिसके अन्दर आप भी हैं, आपका, शरीर भी है, आपका मन भी है और आपकी आत्मा भी है। यह लोक है और स्वामी परलोक है। स्वामी इन तीनों से न्यारा है। मैंने परतततत्वाधार पंड़ित फकीर चन्द जी महाराज को देखा है, वह वास्तव में परमतत्व के अवतार थे। उन्होंने कभी यह नहीं कहा कि आप अपना धर्म छोड़कर मानवता मंदिर में आओ तब हम शिष्य बनायेगें। उन्होंने सच्चाई बयान की। उनका रूप लोगों के अन्दर सब जगह प्रकट होता था और वह कहते थे कि 'मैं कहीं नहीं जाता।' उन्होंने बताया कि जिस रूप में तुम मालिक को देखते हो, विचार करते हो वही रूप तुम्हारे सामने प्रकट होता है। तुम यह नहीं समझते हो कि वह रूप तो अंशमात्र है, बूंद मात्र है, लेकिन मालिक तो इससे परे है। इसीलिए मजहबों में झगड़े होते हैं। अपने आपको हिन्दू अलग समझते हैं, मुसलमान अलग समझते हैं। सब अधूरे हैं। सब काल के चक्कर में हैं। परमदयाल जी महाराज के गुरू ने जब उनको देखा तो देखते ही कहाः–

रूप तेरा अति प्यारा फ़कीरा, रूप तेरा अति प्यारा।
तू है सत् चित् आनन्द मूरत, तू तीनों से न्यारा।।

महर्षि शिवब्रत लाल जी महाराज उत्तर प्रदेश के थे, उन्होंने कहा कि मै। गौतम बुद्ध का अवतार हूं। उन्होंने अपने स्वार्थ के लिए कुछ नहीं कहा। उन्होंने 5 हजार से ज्यादा पुस्तकें लिखीं। जिनमें वेदों पर, उपनिषदों पर, हिन्दू संस्कृति पर भी लिखीं। उन्होंने कहा कि विश्व के जितने भी धर्म हैं वह सब हिन्दू धर्म के असल और नकल हैं। परमदयाल जी महाराज आठवीं कक्षा तक पढ़े हुए थे लेकिन

उन्होंने जो अनुभव किया वह वेद, उपनिषद, गीता, रामायण और ऋषियों की जितनी भी खोज है उसके साथ मेल खाता है। जब मैं कहता था कि महाराज जी! यह बात तो गीता में है तो वे कहते थे कि भई मुझे तो पता नहीं। उनको फकीर कहा गया है। फकीर कौन होता है? फकीर पारब्रह्म परमतत्व ज्ञानी होता है, जो हर वक्त परमतत्व में रहता है वह फकीर है।

हद टपे तो औलिया, बेहद टपे तो पीर।
हद बेहद दोनों टपे, वाको कहें फकीर।।

हद क्या है? शरीर की हद। शरीर के पीछे मानसिक शक्ति है। यह सिद्धियां मन तक रह जाती हैं। मन की शक्ति के लिए किसी गुरू, राम, कृष्ण या अन्य किसी भी इष्ट के रूप को दोनों भौहों के बीच में बना लो आपका मन ब्रह्माण्डी मन से जुड़ कर आपकी इच्छा पूरी कर देगा। 'हद टपे तो औलिया' अर्थात् जो मन की शक्ति तक पहुंच गया वह किसी को हाथ लगायेगा तो उसकी बीमारी दूर हो जायेगी। वह आपको सद्भावना देता तो आपका काम हो जायेगा। जो शरीर से परे हो गया वह औलिया है। 'बेहद टपे तो पीर' अर्थात् जो मन से परे आत्मा के क्षेत्र में आ जाता है वह प्रकाश में रहने लगता है। 'हद बेहद दोनों टपे वाको कहें फकीर' अर्थात् जो आत्मा से भी परे चला जाता है वह परमतत्वमय हो जाता है, उसे फकीर कहते हैं। फकीर इन तीनों से ऊपर उठकर चौथे पद में रहता है।

यह आप पर भी लागू होता है। आपके अन्दर 'सत्', 'चित्', 'आनन्द' है। सत् आपका शरीर है, चित् आपका मन है और आनन्द आत्मा है। जाग्रत सत् की अवस्था है, स्वप्न चित् की और सुषुप्ति आनन्द की अवस्था है लेकिन ये अवस्थायें काल के अन्दर हैं–ये आती जाती रहती हैं। इनके पीछे जो तत्व है जो इन अवस्थाओं को अनुभव करता है, वह हमेशा रहता है। उसी का नाम अविनाशी तत्व है। वही आपका असली रूप है। इस सच्चाई को परमदयाल जी महाराज ने बड़े सरल तरीके से बयान किया।

परमदयाल जी महराज को राम की तलाश थी। राम की तलाश हर एक को है लेकिन समझ नहीं रहे कि किस राम की तलाश है। जो मनुष्य अपने शरीर को बनाना चाहता है, बनाये क्योंकि शरीर भी तो ब्रह्म है वह भी तो राम का रूप है। हमारे यहां शरीर को पुष्ट रखने के लिए ब्रह्मचर्य आश्रम है। जिसने ब्रह्मचर्य आश्रम को निभाया वह सौ साल तक जीयेगा। वीर्य की शक्ति को मजबूत बनाए रखने के लिए ब्रह्मचर्य आश्रम है। परमदयाल जी महाराज ने एक बात बहुत अच्छी बताई कि हमारी ऋषी परम्परा में चार आश्रम थे–ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम और सन्यास आश्रम। पहले आश्रम में 25 वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करके अपने शरीर को पुष्ट बनाओ ताकी धन कमाने योग्य हो सको। गृहस्थ आश्रम काम की तृप्ति के लिए, आनन्द के लिए, प्रेम के लिए है। काम का मतलब सिर्फ पति–पत्नि का संबध ही नहीं है बल्कि–

काम काम सब कोई कहे काम न चीन्हे कोय।
जेती मन की कामना काम कहावे सोय।।

यदि आपने गृहस्थ जीवन व्यतीत नहीं किया, मनुष्य रूप में मां–बाप, बच्चों, पति–पत्नि, गुरू आदि से प्यार नहीं किया तो आपको राम नहीं मिल सकता है। तीसरी अवस्था वानप्रस्थ की है। इस अवस्था में सारा काम बच्चों पर छोड़कर सारा समय परहित में लगाना। यदि हमें बुद्धि का विकास करना है तो परहित करना चाहिए। जब आप इन तीनों से गुजर जाओगे तब भगवान के भजन में लगोगे। इस प्रकार हमारी आर्ष संस्कृति कितनी व्यवस्थित है, कितनी वैज्ञानिक है। जैसे विज्ञान में खोज करने के बाद बताते हैं कि हाइड्रोजन और आक्सीजन को निश्चित मात्रा में मिलाने से पानी बन जाता है, उसी प्रकार हमारी जो परम्पराऐं हैं वे अन्धविश्वास पर आधारित नहीं है, उन्हें ऋषियों ने खोज करने के बाद बताया कि ब्रह्मचर्य रखने से ऐसा परिणाम होगा।

परमदयाल जी महाराज ने एक सच्चाई और बयान की। उन्होंने बताया कि ज्यादातर लोगों को राम की चाह होती है लेकिन उन्हें कोई अनुभव नहीं होता, उसका कारण है उनका छोटी आयु में ब्रह्मचर्य का गिर जाना। छोटी आयु में ब्रह्मचर्य के गिरने से एक तो शरीर पुष्ट नहीं होता, दूसरे ऐसे व्यक्ति के अन्दर प्रकाश पैदा नहीं होता। अगर आपको मन वाले राम की चाह है तो आप उसे भी पैदा कर सकते हैं। जितनी भी आप राम, कृष्ण, शिव या और किसी की मूर्ति बनाते हैं यह

सब ब्रह्माण्डी मन से बनती हैं। ये सभी ब्रह्म के स्वरूप हैं। **आप जिसको इष्ट मानते हो उसे पूरा मानो और शब्दमय मानो, अपने आपको उसके हवाले कर दो, बस जो चाहोगे मिल जायेगा।** मगर आनन्द नहीं मिलेगा। आनन्द वाला जो राम है वह है प्रकाश। वह ब्रह्ममय है उसके लिए आपको अन्तर में ध्यान लगाना पड़ेगा। इससे आगे भी एक राम है जहां पहुंचने के बाद फिर इस जगत् में वापिस नहीं आना पड़ेगा।

सतसंग समाप्त करने से पहले मैं आपको फिर एक बार बताना चाहता हूं कि राधा का मतलब है सत्, चित्, आनन्द का जगत् और स्वामी नाम है परमतत्व का परमात्मा का। हम धारा से नीचे आये हैं। यदि आप अपने अन्दर राधा शब्द कहोगे और अन्तर में ध्यान लगाओगे तो आप स्वामी से मिल जाओगे। मैं यह बताना चाहता हूं कि राधास्वामी किसी फिरके का नाम नहीं है। राधास्वामी उस अवस्था का नाम है जहां आपकी आत्मा उस परमतत्व से मिल जाती है। शब्द में आया है–

राधास्वामी सतगुरू आये, भेद दिया पूरा पूरा।

सतगुरू का मतलब वही परमतत्व जो राम, कृष्ण के रूप में आए, अनेक अवतारों के रूप में आए। हम दस अवतार तो नहीं मानते, वे सिर्फ नमूने के लिए हैं। पहला अवतार परशुराम का है। परशुराम ने जीवन भर ब्रह्मचारी रहकर राम की चाह को पूरा किया। दूसरा अवतार राम का हुआ जो गृहस्थ का अवतार कहलाते हैं। भगवान राम ने बताया कि गृहस्थ में रहते हुए एक सच्चा भाई, एक सच्चा पति, एक सच्चा पुत्र, एक सच्चा राजा कैसे बना जाता है। तीसरे भगवान कृष्ण का जो सोलह कला युक्त थे वह वानप्रस्थ का नमूना है। वह गृहस्थी भी थे, उन्होंने लोक भी बनाया और परलोक भी बनाया। जिस धर्म से, जिस गुरू के ज्ञान से आपका लोक नहीं सुधरा तो आपका परलोक कैसे सुधरेगा। राधा नहीं सुधरी तो स्वामी नहीं मिलेगा। कबीर साहब का कथन है–

जाको दर्शन इत्त है, वाको दर्शन उत्त।
जाको दर्शन इत्त नहीं, वाको इत्त न उत्त।।

अगर आपको जीते–जी राम नहीं मिला, आपको राम का अनुभव नहीं हुआ, आप राममय नहीं हुए तो लाख यत्न कर लो आपको मरने के बाद वह स्थान नहीं मिलेगा। जब जाग्रत अवस्था के अन्दर आपको राधास्वामी अवस्था मिल जायेगी तब निश्चित समझो कि वह स्थान मिल जायेगा। भगवान कृष्ण ने बताया कि इस जगत् में रहते हुए, सब कुछ करते हुए अपने आपको कर्म बंधन से मुक्त रखो। चौथा अवतार महात्मा बुद्ध का हुआ जो सन्यास आश्रम का नमूना है। उन्होंने शुरू से ही संन्यास ले लिया था जबकि गृहस्थ में से गुजरे थे। यह संस्कृति कितनी उत्कृष्ट है। राम क्या है? राम शरीर भी है, राम मन भी है, राम आत्मा भी है और राम वह अन्तिम अवस्था भी है जहां पहुंचने के बाद जितने भी और राम हैं उनका कोई मूल्य नहीं रहता। इसलिए–

जिनको चाह राम की साधो, राम उन्हें मिल जाते हैं।
रामदास के पास राम हैं, और न कोई पाते हैं।।

रामदास कौन है? रामदास वह है जो आठों पहर, चौबीसों घण्टे राम की तलाश में रहता है, जहां भी देखता है उसी को देखता है। जो कभी किसी हालत में घबराता नहीं, वह रामदास है। इसका मतलब यह नहीं कि आप दुनिया को छोड़ दो। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सब में उसी को देखो और **यह सोचो कि जो कुछ भी कर रहा है वह राम ही कर रहा है। हम सब भ्रम में हैं कि हमने यह कर लिया, वह कर लिया।**

आप सब पूर्ण हो, इसका मतलब यह नहीं कि आप मालिक बन गये या आप किसी के आगे झुको नहीं। झुकने से अहंकार का पर्दा हट जाता है और उस पर्दे के हटते ही राम मिल जाता है। राम का दास होने से मैं कुछ नहीं हूं, तू कुछ नहीं है आदि सब मिट जाता है और वह राममय हो जाता है। उसके बाद उसके सब काम राम ही पूरे करता है। फिर स्थिति यह होती है–

किस्ती खुदा पे छोड़ दे लंगर को तोड़ दे।

जब यह हालत आपकी हो जाती है तब आपको हर जगह राम दिखाई देगा। इसका मतलब यह नहीं कि जब शैतान आपके सामने हो तो आप उसे पूजने लगो। यदि किसी ने आपको नुकसान पहुंचाया

है और आप रामदास हैं तो आप देखोगे कि उस नुकसान में भी आपकी भलाई है।

राधास्वामी सतगुरू का मतलब है कि परमतत्व बार–बार अवतार लेता है। जब वह मनुष्य के रूप में आता है तो बताता है कि राम की सच्चाई क्या है? असली राम एकत्व में है। जो एक करने वाला है वह दयाल है, जो अलग करने वाला है वह काल है।

उस परमतत्व का असली सेवक वही है जो अपने आपको उस मालिक से अलग नहीं समझता क्योंकि मालिक उसके अन्दर है, वह अलग नहीं है। प्रेममय भक्त वही है जो विभक्त नहीं है। जो अपने आपको राम से अलग समझता है वह राम को नहीं पा सकता। कबीर साहब ने कहा है–

कामी तरे क्रोधी तरे पापी तरे अनन्त।
आन उपासक कृतघन, तरे न नाम रटन्त।।

कामी अगर काम को मालिक की तरफ लगा देता है, तो वह तर जायेगा। तुलसीदास जी ने कहा कि जैसे कामी को अपनी कामनी प्यारी है, वैसे ही मुझे राम प्यारे हैं। यदि कोई क्रोधी है लेकिन उसके अन्दर सद्भावना है तो वह भी तर जायेगा। हर किस्म के पाप करने वाला भी राम को पा लेगा लेकिन **'आन उपासक कृतघन'** –अधिकतर लोग कृतघ्न का मतलब यह समझते हैं कि जो अपने गुरू का सच्चा नहीं है, यह बात भी ठीक है लेकिन असली बात यह है कि यदि किसी ने आपके ऊपर कोई अहसान किया है और आप उस अहसान को नहीं मानते तो आप कृतघ्न हैं। इसका दूसरा मतलब यह है कि अपने इष्ट को अपने से दूसरा समझ कर उपासना करना। जब वह परमतत्व आपके अन्दर मौजूद है तो उसे अपने से अलग क्यों समझना, भेद–भाव क्यों पैदा करना, ऐसा करने से आप नहीं तरोगे।

जब मैंने मालिक से भेद–भाव हटा दिया तब वह मालिक मेरे में ओत–प्रोत हो गया, वह तो ओत– प्रोत हमेशा से ही है लेकिन भेद–भाव के कारण हम ही उसे गैर समझते हैं और दुखी होते रहते हैं। जो गुरू या जो धर्म यह कहता है कि तुम अलग हो, तुम्हारा फिरका अलग है, तुम्हारा तरीका अलग है, तुम दूसरों से अलग हो, वह सच्चा सद्गुरू नहीं है और न ही ऐसा धर्म सच्चा धर्म हो सकता है। जिसको असली अनुभव हो गया वह आन–उपासक नहीं रहता, वह मालिक से अलग नहीं रहता। इन्हीं शब्दों के साथ मैं आपको सच्चे दिल से सद्भावना देता हूं।

सबको राधास्वामी!

सतसंग परमसन्त हुजूर मानव दयाल डा0 ईश्वर चन्द्र शर्मा जी महाराज

(इटारसी दिनांक 02.02.2091)

<u>गुरू की दात</u>

तेरी लीला कौन समझे, तू तो अपरम्पार है।
एक दृष्टि से तेरे, दुखियों का बेड़ा पार है।।
दुख में सुख रहता है तो, हमको नया कुछ भी नहीं।
मौज को क्या जीव जाने, दुविधा का सिर भार है।।
दुख में सुख रहता है छुपकर, कष्ट का परिणाम सुख।
बन्ध में मुक्ति की छाया, मुक्ति बन्धाकार है।।
राधास्वामी पूरे सतगुरू, ने भेद बताया आनकर।
मन में अब चिन्ता नहीं है, सुखदाई यह संसार है।।
ईशावास्यमिदं सर्वंयत्किंचित जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।

राधास्वामी!

मेरे परमप्रिय आत्मा के स्वरूप सत्संगी भाइयों और बहनों! इटारसी में आज यह आशीर्वाद सतसंग है। मैंने हमेशा की भांति गुरू को नमस्कार किया। परमतत्वस्य अवतारम् कौन से गुरू को नमस्कार किया? जो परमतत्व के अवतार हैं। इस बात को भूलना कि गुरू परमतत्व के अवतार हैं और गुरू को मनुष्य मानकर, उसकी आलोचना करना, तुम्हारे विश्वास में कमी आना है। गुरू को तो कुछ नहीं होगा लेकिन तुम्हारे विश्वास में कमी आने से तुम्हारा काम नहीं बनेगा और तुम पीछे रह जाओगे। मैं आपको आशीर्वाद सतसंग दे रहा हूं। आशीर्वाद दिया नहीं जाता, बल्कि लिया जाता है। गुरू की महिमा तो

अपरम्पार है। वह तो ऊपर से आया है। अवतार का मतलब है जो उतर करके आया है। वह तुम्हारे पास दूर देश से सब दर्जों को पार करता हुआ आया है, लेकिन तुम्हें उसकी कदर नहीं है। अरे! उसका आदर करो, सत्कार करो, उसका आशीर्वाद लो। वह तो दया का भण्डार है, उसकी दया बह रही है, लेकिन उसको लेने वाला भी तो चाहिए।

फैज का दर है खुला, वह बन्द नहीं हरगिज।
शर्त ये है कि कोई, मांगने सायल आये।।

उसकी दया का दरवाजा खुला है, वह कभी बन्द नहीं होता। लेकिन शर्त यह है कि काई दर्दे दिल से मांगे। परमतत्वाधार तुम्हें देने के लिए भरपूर खजाना लाया है। कमी लेने वाले की है, लेने वाला चूक जाता है। यह चूक क्या है? चूक यह है कि थोड़े से भी समय के लिए गुरू को मनुष्य मान लेना— यह चूक है, यह गिरना है।

साईं के दरबार में, कमी काहू की नाहिं।
बन्दा मौज न पावई, चूक चाकरी माहिं।।

उसके दरबार में बिना मांगे ही मिलता है, वह सब कुछ दे रहा है। अब आम आदमी उसके व्यवहार को देखकर धोखा खा जाते हैं। अरे सद्गुरू जो कर्म करता है, वह आम आदमियों की तरह नहीं करता। यह बात ठीक है कि हरएक कर्म का अच्छा या बुरा फल होता है। लेकिन वह जो कर्म कर रहा है, वह किसी गरज या स्वार्थ से नहीं कर रहा बल्कि दया से कर रहा है। सद्गुरू को कर्म का अच्छा या बुरा फल नहीं चाहिए। **सद्गुरू आजाद आया है, आजाद रहता है और आजाद ही परमधाम को वापस चला जाता है। भक्त की जरा सी चूक से रास्ता कठिन हो जाता है और कोई न कोई रूकावट आ जाती है।** इसमें कोई शक नहीं कि परम दयाल जी महाराज परमतत्व के अवतार थे और सतसंगियों के परमपूज्य थे। वैसे तो माता—पिता, विद्यागुरू, देवी—देवता सभी पूज्य हैं, लेकिन परमपूज्य वह होता है, जिसकी पूजा करने से बाकी सबकी पूजा अपने आप ही हो जाती है।

एक बार कार्त्तिकेय और गणेश जी में बहस हुई कि हम दोनों में कौन बड़ा है? और दोनों में से कौन सबसे अधिक शिव का अंश है? भगवान शंकर ने कहा, "सारे संसार की परिक्रमा जो सबसे पहिले करके आयेगा, वह मेरा सबसे अधिक अंश होगा।" अब कार्त्तिकेय की सवारी तो मोर है और गणेश की की सवारी चूहा। कार्त्तिकेय तो मोर पर बैठ कर चले गये मगर गणेश जी वहीं बैठे रहे। जब कार्त्तिकेय वापिस आया, तो गणेश जी ने कहा, "तुम देर से आये।" कार्त्तिकेय ने कहा, "वह कैसे?" गणेश जी ने कहा, "कार्त्तिकेय सारी त्रिलोकी भवान शंकर के चारों तरफ है, भगवान शंकर त्रिलाकी नाथ कहे जाते हैं। इसलिए मैंने इनकी परिक्रमा कर ली।" इस प्रकार गणेश जी विजयी हुए। भगवान शंकर ने प्रसन्न होकर गणेश जी को वरदान दिया, "गणेश! इस जगत् में जहां भी शुभ कार्य होगा, वहां पर सबसे पहले तुम्हारी पूजा होगी।" इस प्रकार गणेश जी की चूक नहीं हुई।

तुम मानो या न मानो, वह तो पूर्ण है। मैं कहता हूं कि तुम भी पूर्ण हो। अगर तुम मुझे पूर्ण नहीं मानते, तो यह तुम्हारी अपनी इच्छा है, लेकिन यह तुम्हारी चूक होगी।**मैं तुमको बता रहा था कि सद्गुरू भी परमधाम से कर्म लेकर आता है। क्योंकि कर्मों के बिना उसे शरीर नहीं मिलेगा, विशेष प्रकार की बुद्धि नहीं मिलेगी।** इसलिए परमतत्व, स्वरूप तो परमपुरूष का लेकर आता है। जब वह नीचे आता है तो शंकर की आत्मा लेकर आता है, विष्णु का मन लेकर आता है और ब्रह्मा का सर्वशक्तिमान शरीर लेकर आता है। इस प्रकार वह सभी कर्म लेकर आता है।

गुरूर्ब्रह्मा गुरूर्विष्णुः गुरूर्देवो महेश्वरः।
गुरूः साक्षात् परब्रह्मः तस्मै श्री गुरवे नमः।।

वह अनामी भी है, ब्रह्मा भी है, विष्णु भी है और महेश भी है। सद्गुरू जो कर्म लेकर आता है, वह इसलिये कि आपको बता सके कि हम भी आप जैसे ही हैं। लेकिन वह जानता है कि दुख के अन्दर सुख और सुख के अन्दर दुख छुपा है। **सद्गुरू जो कर्म करता है, अपने स्वार्थ के लिए नहीं करता, बल्कि जगत्—कल्याण के लिए करता है।** अब सद्गुरू के अच्छे और बुरे कर्मों का भी फल होता है, लेकिन अच्छा फल उसकी दाहिनी ओर रहता है और बुरा फल उसकी बांई ओर रहता है। अब आने वाला जिस भावना से आता है, वह वैसा ही फल ले जाता है। अरे! तुम तो सद्गुरू के पास अच्छे—बुरे फल के

लिए नहीं आओ, बल्कि प्रेम के लिए आओ। यदि तुम्हें ऊपर जाना है, तो उसे पूर्ण मानकर प्यार करो। यदि तुम ऐसा करोगे तो क्या होगा!

एक दृष्टि से तेरे दुखियों का बेड़ा पार है। यह समझने की बात है, **'बन्दा मौज न पावई'** इस जगत् के अन्दर मौज तो है। उपनिषद् कह रहा है–

'ईशावास्यमिदंसर्वम्' इस सारे जगत् के अन्दर जड़–चेतन के अन्दर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश के अन्दर, पौधों के अन्दर, पशुओं के अन्दर, मनुष्यों के अन्दर ईश का अंश मौजूद है, मगर वह छुपा हुआ है। लेकिन जो सद्‌गुरू ऊपर से आया है, उससे छुपा हुआ नहीं है। संसार की हर वस्तु में वह मौजूद है। अब आप सोचो कि किसको बुरा कहें और किसको अच्छा कहें। इसलिए हमें इस जगत् के अन्दर आनन्द भोगना चाहिए। दुख–सुख के पीछे परमानन्द होता है। यदि तुम्हें इस बात की समझ नहीं है, तो सद्‌गुरू के पास आना जरूरी है, क्योंकि वह जानता है कि तुम सब परमतत्व हो, और तुम्हारे अन्दर अनन्त का भण्डार है। कहीं भी उसकी अनुपस्थिति नहीं है। लेकिन तुम उसकी बात नहीं मानते, वैज्ञानिक की बात मानते हो। वैज्ञानिक एटम बम बताता है, एटम आत्मा से निकलता है। आत्मा का बम प्रेम का बम है। जब प्रेम का बम जब फटेगा, तब आनन्द ही आनन्द होगा, परमानन्द होगा। वह जानता है कि कण–कण के अन्दर मालिक मौजूद है। 'तेनत्यक्तेन भुन्जीथाः' इस जगत् के आनन्द को भोगो, लेकिन त्याग भाव से भोगो। त्याग भाव से भोगने का मतलब है कि उसके अन्दर फंसो नहीं। 'मा गृधः कस्यस्विद् धनम्'। किसी दूसरे के हिस्से को मत लो। लालच में मत आओ। अब मनुष्य कैसे लालच में नहीं आयेगा? तुम्हारे अन्दर हीनभाव नहीं अपना चाहिए कि मैं दोषी हूं। यह नकारात्मक विचार नीचे गिरा देता है। तुम तो परमतत्व हो–

तू तो थी सतपुरूष की अंशी।
गोत लजाया शर्म न आई।।

अपने आपको हीन मत समझो । तुम तो उस प्रीतम की प्रेयसी हो। तुम तो सर्वाधार से प्रेम करते हो। तुम्हें दुनिया की परवाह नहीं करनी चाहिए। तुम मुकम्मल हो, पवित्र पाक हो, तुम्हारे अन्दर कोई दोष नहीं है, इस बात का आपको अन्तस में एहसास होना चाहिए। जब एहसास होगा, तब आपके अन्दर दोष नहीं रहेगा। 'मा गृधः कस्यस्विद् धनम्' – जो जानता है या जिसे गुरू ने बता दिया है कि मैं पूर्ण हूं, पूर्ण का अंश हूं, वह नीचे नहीं गिरेगा, वह लोभ नहीं करेगा। जब तुम मालिक से प्यार करते हो, तो तुम उसके वारिस हो। कह दो कि ऐसा हो जायेगा, और वह हो जायगा, यदि नहीं होता तो आपके विश्वास में कमी है–गुरू में कमी नहीं है।

सबसे बुरी चीज है लालच, जो हमें मालिक से मिलने नहीं देता। जैसे पैसे का लालच। अब आप देखिये कि आप लाखों रूपया खर्च कर देते हैं, लेकिन मन्दिर को देने में संकोच करते हैं। मेरी पेंशन आती है, मैं उसे भी मंदिर को दे देता हूं, मैं मंदिर से कुछ नहीं लेता। जितना जो देगा, उसका हजारगुना उसे मिलेगा। मैं आपको सच्ची बात बताता हूं। हमें आपसे कुछ नहीं चाहिए। यदि मनुष्य को पूर्णता का विश्वास हो जाय, तो वह कभी लालच नहीं करेगा। क्योंकि लालच करना उसकी शान के मुताबिक नहीं है। लालच कब जायेगा, जब आपको पता चलेगा कि आप पूर्ण हो। जिसने अपनी पूर्णता को पहचान लिया, वह कभी लालच नहीं करेगा।

दाता दयाल जी महाराज ने परमदयाल जी महाराज को लिखा कि तू फकीर है। फकीर सब कुछ दे सकता है, जो देवता नहीं दे सकते वह फकीर दे सकता है। एक राजा था, जो चरित्रवान और धर्मात्मा था, उसके राज्य में सब सुखी थे। लेकिन उसके कोई सन्तान नहीं थी। राजा ने बड़े–बड़े बाह्मणों को बुलाकर सन्तान के लिए यज्ञ कराया, ब्रह्मा प्रकट हुए, राजा ने पुत्र प्राप्ती की प्रार्थना की। ब्रह्मा ने कहा, "राजन्! इस जन्म में तुम्हारे भाग्य में पुत्र नहीं है, इसलिए मैं तुम्हें पुत्र नहीं दे सकता।" कुछ दिनों बाद घूमते हुए देवर्षि नारद आये, राजा ने उनकी बहुत सेवा की, मान–सम्मान किया। नारद ने कहा, "भक्त! मांग तू क्या मांगता है।" राजा ने कहा, "महाराज क्या मांगू? मेरे कोई पुत्र नहीं है। इस इच्छा को ब्रह्मा जी भी पूरी नहीं कर सके। आप देना ही चाहते हैं तो मुझे एक पुत्र दे दीजिये।" नारद ने कहा, राजन! कोई बात नहीं, ब्रह्मा तुम्हें पुत्र नहीं दे सके तो मैं विष्णु से तुम्हारी सिफारिश करूंगा, विष्णु सबसे ऊँचे हैं। देवर्षि नारद विष्णु भगवान के पास गये और बड़ी प्रशंसा की, स्तुति की। विष्णु भगवान ने

कहा, "नारद! आज बड़ी खुशामद कर रहे हो, किसी की सिफारिश लाये हो।" नारद ने कहा, "हां महाराज! पृथ्वी पर एक राजा है जो बड़ा धर्मात्मा तथा चरित्रवान है, उसके कोई सन्तान नहीं है, उसे एक पुत्र दे दीजिये।"

विष्णु भगवान ने कहा, "ब्रह्मा जी को बुलाओ क्योंकि सृष्टि का काम तो उन्हीं का है।" ब्रह्मा जी आये, उन्होंने भृगुसंहिता देखी और कहा, "महाराज! इस जन्म में इस राजा के कोई पुत्र नहीं है। इसलिए मैं दे नहीं सकता।" विष्णु भगवान ने कहा, "नारद मैं अब क्या करूं, यह विभाग तो ब्रह्मा जी का है, मेरा नहीं है, मैं कुछ नहीं कर सकता।" नारद जी पृथ्वी पर आये और राजा को सब कुछ बता दिया। राजा चुप हो गया। कुछ समय बाद एक मस्त फकीर उधर से गुजरा, राजा ने उसकी भी बहुत सेवा की। फकीर ने खुश होकर कहा, "राजा मांग क्या मांगता है?" राजा बोला, "महाराज मेरे कोई पुत्र नहीं है। ब्रह्मा भी नहीं दे सके, विष्णु भी नहीं दे सके।" मस्त फकीर ने कहा, ब्रह्मा, विष्णु, नारद सब बेकार, सबकी ऐसी की तैसी–एक दो तीन चार जा तेरे चार पुत्र होंगे।" मस्त फकीर तो चला गया और कुछ समय बाद राजा के चार पुत्र हो गये। कुछ सालों के बाद नारद जब उधर आये, तो नारद ने देखा कि राजा के आंगन में चार पुत्र खेल रहे हैं। नारद ने पूछा, "राजन! यह किसके पुत्र हैं?" राजा ने कहा, "महाराज ये मेरे ही पुत्र हैं। आपके जाने के बाद एक मस्तफकीर आया था उसने कहा, "ब्रह्मा, विष्णु, नारद सब बेकार, जा तेरे चार पुत्र होंगे। बस उस फकीर के आशीर्वाद से मुझे ये पुत्र मिले हैं।"

यह बात सुनकर नारद को बहुत गुस्सा आया और वह सीधे बैकुण्ठ में विष्णु भगवान के पास गये और कहने लगे, "प्रभु! यह क्या बात हुई? मेरे कहने पर आपने उस राजा को एक पुत्र नहीं दिया और फकीर के कहने से आपने उसे चार पुत्र दे दिये।" विष्णु भगवान कहने लगे, "नारद मैं जानता हूं कि मैंने उसे चार पुत्र दिये लेकिन मैं क्या करूं। मैं फकीर से डरता हूं। चलो मेरे साथ आज तुम्हें दिखाता हूं कि फकीर क्या होता है?"

भगवान विष्णु और देवर्षि नारद साधु के वेश में चल पड़े, चलते–चलते शाम हो गई। नारद ने कहा, "महाराज! मैं तो थक गया। मुझे बड़ी जोर की भूख भी लगी है।" विष्णु भगवान ने कहा, "नारद ! वह देखो सामने चिराग जल रहा है। शायद किसी भक्त की कुटिया है। चलो वहीं चलते हैं।" दोनों कुटिया के पास पहुंचे और देखा कि एक भक्त बैठा है। इन दोनों को देखकर वह भक्त बहुत खुश हुआ। कहने लगा, "आज भगवान आ गये। मैंने कई दिन से कुछ नहीं खाया। आज खाना बनेगा।" नारद ने कहा, "बड़ी भूख लगी है, जल्दी से कुछ खिला दे।" भक्त कुटी के अन्दर गया। उसने देखा कि कुटिया में सब कुछ है, परन्तु लकडी नहीं है। भक्त ने अपनी टांग पर कपड़ा लपेटा और आग लगाकर खाना बनाने लगा। भक्त पूरियां सेकता जाता था और बाहर फेंकता जाता था। नारद और भगवान विष्णु खाते–खाते अन्दर चले गये। अन्दर जाकर देखा तो पता चला कि भक्त की टांग जल रही है और उसे होश नहीं है, वह खाना बनाने और खिलाने में मस्त है। विष्णु भगवान बोले कि नारद अब बता कि मैं इससे डरूं या नहीं? इसका कहना मानूं कि नहीं। इसे मेरे प्रेम में यह होश ही नहीं है कि मेरी टांग जल रही है। मैं इसका कहना नहीं टाल सकता हूं। तू अपने आपको मेरा पुत्र कहता है, भक्त कहता है, मगर तूने कहा कि मैं सिफारिस करूंगा। भक्त जानता है कि मैं अपने पिता का वारिस हूं, इसलिये लुटा दी उसने दौलत।

तेरी लीला कौन समझे, तू तो अपरम्पार है।
एक दृष्टि से तेरे, दुखियों का बेड़ा पार है।।

उसकी दृष्टि पड़ रही है। दया का समुद्र बह रहा है। जिसका जितना पात्र है, भर लो। उसके खेल को, उसकी लीला को नहीं समझते। उसको बार–बार मनुष्य मानकर चूक कर जाते हैं। सद्गुरू कभी–कभी तुम्हारे साथ खेल खेलता है। उस खेल को, उस लीला को समझो। दृष्टि तो वह दे रहा है, यदि कोई लेने वाला हो।

मेरे सामने शब्दानन्द बैठे हैं। इनके प्रेम की कोई मिसाल नहीं। एक दिन मैंने शब्दानन्द को कहा, "शब्दानन्द! मुझे दही खानी है।" इन्होंने साइकिल उठाई और दही लेले चल दिये। हमारे मन्दिर का बड़ा फाटक है, जिसमें छोटी खिड़की है, उससे बाहर जाना होता है। शब्दानन्द जी मेरे प्रेम में मस्त रहते हैं। इनका ध्यान नहीं गया और

लोहे की खिड़की इनके सिर में लगी। सिर फट गया, खून बहने लगा। मगर उसी हालत में दही लेकर आये। शब्दानन्द जी की लड़की मेरे पास आई और बताया, "महाराज जी! बाबू जी का सिर फट गया। खून बह रहा है।" मैं तुरन्त नीचे गया। देखा कि जमीन पर खून के बड़े–बड़े कतरे पड़े हुए हैं। शब्दानन्द जी जब दही लेकर वापिस आये तो कहने लगे, "मैं दही ले आया हुजूर।" मैं इनकी श्रद्धा, भक्ति और प्रेम को देखकर द्रवित हो उठा। मैंने इन्हें डाक्टर के पास भेजा, इंजेक्शन लगवाया, सिर में कई टांके आये। यह इनकी पराभक्ति है। इस पराभक्ति से सब कुछ प्राप्त होता है।

अरे! सतगुरू की प्रेम की एक दृष्टि में तुम्हारा बेड़ा पार हो जायेगा। परम दयाल जी महाराज के एक वाक्य से मैं ऊपर पहुंच गया था। सतगुरू की दृष्टि तो है, लेकिन उसको लेने के लिए श्रद्धा चाहिए, विश्वास चाहिए, लगन चाहिए, तड़प चाहिए।

दिल वो दिल है जो हर घड़ी हर पल।
यादे जाना में बेकरार रहे।।
आंख वो आंख है जो शामोसहर।
गमें फुर्कत में अश्कबार रहे।।

हर वक्त सोचो कि मैं गुरू से अलग क्यों हूं? उसकी दया की गंगा बह रही है, जितना चाहो ले लो। लेने वाला स्वयं मालिक बन जाता है। तुम समझते हो कि तुम गुरू की सेवा करते हो। अरे गुरू तो तुम्हारी हर प्रकार की सेवा करने को तैयार है, क्योंकि वह सच्चा प्रेम करता है। इसलिये गुरू को 'साक्षी' कहा है। गुरू शरीर, मन, आत्मा से परे है। परम दयाल जी महाराज के शरीर को छूने में बहुत अच्छा लगता था। ऐसा महसूस होता था कि महाराज जी के शरीर सें बड़ी भारी शक्ति या धार है। उसका प्यार तुम्हें कभी भी नुकसान नहीं पहुंचा सकता।

फारसी भाषा में साक्षी को साकी कहते हैं। साकी वह होती है जो शराबखाने में सबको शराब पिलाती है। लेकिन वह खुद नहीं पीती। इसलिये उसको साक्षी कहा गया है। वह शराब किसको देती है? जिसका पैमाना खाली होता है। गुरू भी साक्षीरूप है। वह प्रेम की शराब पिलाता है। सब लोग साकी की तरफ देखते रहते हैं कि वह हमें शराब दे। **सिर के बल आती है सुराई पैमाने के पास।** अगर तुम खाली हो, दीनहीन हो, लेने के इच्छुक हो, तो गुरू सिर के बल तुम्हारे पास आयेगा। उसकी दृष्टि जरूरतमंद पर पड़ती है।

सब की साकी पे नजर हो, ये तो जरूरी है।
सब पे साकी की नजर हो, ये जरूरी तो नहीं।।
दुख में सुख रहता है तो, हमको नया कुछ भी नहीं।
मौज को क्या जीव जाने, दुविधा का सिर भार है।।

जब कभी मैं तुम्हें दुख देता हूं या झटका देता हूं तो उसके पीछे सुख भरा हुआ होता है। यह राज की बात है। दुख में सुख रहता है छुपकर–तुम्हें आगे चलकर पता लगेगा कि महाराज जी ने जो झटका दिया था, वह बड़ा अच्छा था। वह तुम्हें अन्त में दुख–सुख से परे ले जायेगा। स्वामी जी महाराज ने एक जगह लिखा है–

गुरू नहीं भूखा तेरे धन का, उस पे धन है नाम रतन का।
पर तेरा उपकार करावें, भूखे नंगे को दिलवावें।
उनकी दया मुफ्त तू पावे, जो उनको प्रसन्न करावे।

हमें तुम्हारे पैसे की जरूरत नहीं। मेरी पेंशन आती है। गुरू तुमसे दान दिलवाता है, उपकार कराता है, तुम्हारी भलाई के लिए।

मौज को क्या जीव जाने, दुविधा का सिर भार है।

तुम उसकी मौज को, उसके खेल को नहीं समझते। कभी–कभी गुरू पर शक भी करने लग जाते हो। यदि दुविधा न हो, तब आप मौज को समझ सकते हैं।

दुख में सुख रहता है छुपकर, कष्ट का परिणाम सुख।
बन्ध में मुक्ति की छाया, मुक्ति बंधाकार है।

दुख में सुख छुपा रहता है। कष्ट का अन्तिम परिणाम सुख होता है। अरे! बन्ध में मुक्ति की जरूरत महसूस होती है। तुम बंधन में आये हो, तभी तो तुम्हें छुड़ाने के लिए गुरू भी आया है। जो बंधा हुआ है, उसी को तो छुड़ाया जायेगा। इसलिए तुम्हे जो कष्ट हुये हैं, उन कष्टों से तुम पूर्ण अवस्था में पहुंच जाओगे। गुरू कुछ नियम, कानून, बंधन तुम्हारे ऊपर लगाता है। वह बंधन इसलिए लगाता है ताकि तुम आगे बढ़ सको। जब तुम नियमों के अन्दर चलोगे तो तुम पार हो

जाओगे, पूर्ण हो जाओगे। 'मुक्ति बंधाकार है'—मुक्ति की भी एक सीमा है। हम आरती करते हैं—

मुक्ति की नहीं चाह मन में, भक्ति प्यारी लाग।

अरे! गुरू से प्यार मांगो, भक्ति मांगो। मुक्ति के अन्दर वासना है। वासना नहीं होनी चाहिए।

राधास्वामी पूरे सतगुरू, ने बताया भेद को।
मन में अब चिन्ता नहीं है, सुखदाई संसार है।।

मैं तुम्हें भेद बता रहा हूं। तुम गुरू से बस प्रेम करते जाओ और किसी बात की जरूरत नही है। तुम्हें कोई दुख नहीं रहेगा। **तुम अपने दुख और चिन्ता पूरे विश्वास के साथ मुझे दे दो। तुम सच्चे दिल से शरणागत हो जाओ। जिसकी शरणागत होगे, वह जान पर खेलकर भी शरणागत की लाज रखेगा।**

गुरू आपके दर्दे दिल को जानता है, महसूस करता है। इसलिए तुम उस पर विश्वास करो और उसे अपने दुख दे दो। वह तुम्हें सच्चा रास्ता बतायेगा। तुम्हारे लोक और परलोक दोनों बन जायेंगे, मैं आपको यह आशीर्वाद देता हूं। इस परिवार को मैं सदभावना देता हूं कि आपके सब काम होते रहें। आप प्रेम से ओत—प्रोत होकर घर में आनन्द से रहें। इन शब्दों के साथ मैं आज का सत्संग समाप्त करता हूं।

सबको राधास्वामी!

पूर्ण भक्ति में आपको सब कुछ मिल जाता है
परमसन्त सद्गुरू हिज़ होलीनेस
हजूर मानव दयाल
डा0 ईश्वर चन्द्र शर्मा जी महाराज

(गढ़शंकर में दिया गया सतसंग)

तू दया का रूप प्यारे, तू दया भंडार है।
कर दया दृष्टि दयामय, तुझ से ही अधिकार है।।
सन्त सतगुरू तुझको कहते हैं, नहीं हूं जानता।
मेरे अनुभव में दया करूणा, का तु भण्डार है।।
मेरे दाता सीस पर, मेरे दया का हाथ रख।
तू है दानी दीनबन्धु, जगत् का दातार है।।
मेरे अन्तर में समाना, मेरे सांसों सांस में।
तू है व्यापक यह समझ दे, सच्चा जो अधिकार है।।
आस रखकर गुरू कृपा की, नित करो अभ्यास तुम।
रात—दिन छिन—छिन तुम्हारा, वह सदा रखवार है।।
छोड़ो ममता छल कपट चतुराई, गुरू से नेह जोड़।
भक्ति उसकी कर वह सच्चा, प्रेम का भण्डार है।।
राधास्वामी, राधास्वामी, राधास्वामी को सुमिर।
राधास्वामी सर्वरक्षक, सर्वदा हितकार है।।
गुरूदेवजगद् व्याप्तं ब्रह्मा विष्णु, शिवात्मकम्।
गुरोः परतरं न हि किंचित, तस्मै श्री गुरवे नमः।।

राधास्वामी!

मेरी अपनी ही आत्मा के स्वरूप सत्संगी भाईयो और बहनो! आज का यह पारिवारिक सत्संग विवाह के उपलक्ष्य में आयोजित किया गया है। विवाह संस्कार कई उद्देश्यों को पूरा करता है, क्योंकि हमारे प्राचीन काल के ऋषियों ने जो परम्परा डाली उसमें चार आश्रम रखे हैं—

1. ब्रह्मचर्य आश्रम,
2. गृहस्थ आश्रम,

3. वानप्रस्थ आश्रम,

4. सन्यास आश्रम।

आज जिसको सन्तमत कहते हैं, यही सन्तमत प्राचीनकाल का ऋषिमत है, कोई नई चीज नहीं है। ऋषि परम्परा में भी गृहस्थ धर्म को बहुत ऊँचा माना जाता था। जब सनातन धर्म बहुत गिर गया, लोग अपने आदर्शों को भूल गये, एक मालिक को भूल गए और अनेक देवी–देवताओं की पूजा करने लगे व रूढ़ीवाद में फंस गये, तब राधास्वामी दयाल ने गुरू रूप में अवतार लिया। राधास्वामी दयाल ने स्वयं सन्त का अवतार लिया। यह अवतार इसलिए लिया क्योंकि लोग मालिक से मिलने का रास्ता भूल गए हैं। राधास्वामी दयाल ने बताया कि मालिक से मिलने का एक ही रास्ता है और वह है सहज रूप से प्रेम तथा भक्ति करना। राधास्वामी का मतलब है गुरूचर्चा। राधास्वामी दयालपुरूष की एक बूंद से कोटि–कोटि ब्रह्माण्ड बने हैं। इस सच्चाई को इस युग में सबसे पहले आदि मनु ने खोला। प्राचीन काल में यह सच्चाई वर्णाश्रमों में बंटी हुई थी। हर एक आदमी मालिक की तलाश करता था। हमारे यहां चार आश्रम थे। आश्रम का मतलब है ठहरने की जगह या स्थान। प्राचीन काल में हमारे जीवन को चार हिस्सों में बांट दिया था। मनुष्य जब पैदा होता है तो पृथ्वी पर ठहरता है और आयु पूर्ण करने के बाद मृत्यु को प्राप्त होता है। सृष्टि पैदा होती है, ठहरती है और विलीन हो जाती है। आत्मा, जीव या परमतत्व का अंश शरीर में आता है, और जितनी आयु होती है, उतने वर्ष जगत में ठहरता है अर्थात् जिन्दा रहता है फिर जहां से आया वहीं वापस चला जाता है। कहने का मतलब यह है कि जो चीज पैदा होती है, ठहरती है और फिर समाप्त हो जाती है। लेकिन हमारी जो सुरत है जिसे विष्णु कहते हैं, उसका कभी नाश नहीं होता। सुरत शरीर में आती है, ठहरती है और वापिस चली जाती है। शरीर, मन तो समाप्त हो जाते हैं लेकिन सुरत कभी समाप्त नहीं होती। यह सच्चाई तो पहले से मौजूद थी और ऋषि उसको ब्रह्मा, विष्णु, शिव कहते थे। यदि आप सारे जगत् को परमतत्व सर्वाध्धार अर्थात् राधास्वामी मान लो, तो उसके तीन हिस्से हैं:

1. विराट

2. अव्याकृत

3. हिरण्यगर्भ

स्थूल जगत् को विराट भी कहते हैं। यह ठोस जगत् दिखाई देता है। सारा जगत् कोटि–कोटि ब्रह्माण्ड, मालिक का शरीर है। गुरू नानक देव जी ने कहा हैः

'लख पतालां पताल, लख अकाशां अकाश।'

मालिक के इस शरीर को विराट कहते हैं। मालिक का यह शरीर युग–युगान्तरों तक ठहरा रहता है। इस ठहरने में, जो शक्ति काम कर रही है वह शक्ति भी मालिक है, विराट भी मालिक है। जिसे ज्योति निरंजन कहते हैं। ज्योति निरंजन उस शक्ति का नाम है, जो सारे जगत् में फैली हुई है। यह स्थूल जगत है–ब्रह्मा। यह स्थूल जगत् ठहरता है परंतु अपनी शक्ति से नहीं ठहरता। तुम्हारा शरीर तुम्हारी शक्ति से नहीं ठहरता। तुम्हारे शरीर के अन्दर मालिक की सूक्ष्म धार है, जिसे मन कहते हैं और संत उसे अव्याकृत कहते हैं। यह दिखाई नहीं देता है, क्योंकि यह सारा जगत् बनता, ठहरता और समाप्त हो जाता है, गुम हो जाता है। मालिक की तीसरी धार में यह जगत् गुम हो जाता है। मालिक की इस तीसरी धार को संत हिरण्यगर्भ कहते हैं। लेकिन यह तीनों धार जहां से आई हैं, वह चौथी अवस्था इन तीनों से अलग है।

चौथी अवस्था या चौथा पद का क्या मतलब है? चौथा पद वह दयाल है, अविनाशी है, जिसे सतपुरूष सचखण्ड कहते हैं। उसकी तीन शक्लें, नुक्ते अर्थात् दर्जे हैं। यह तीन दर्जे तीन शक्तिया कहलाती हैं–ब्रह्मा, विष्णु और शिव। इन तीनों शक्तियों को मिलाकर 'ओं' बना है। इस 'ओं' का उच्चारण सभी धर्मों के लोग करते हैं। सन्तमत इस 'ओं' की ही बात कर रहा है। 'ओं' के तीन अक्षर हैं– 'अ' 'उ' 'म' और ऊपर लगा हुआ है बिन्दु। 'अ' का अर्थ है ब्रह्मा अर्थात् विराट। 'उ' का अर्थ है विष्णु अर्थात् अव्याकृत, जिसे ब्रह्माण्डी मन भी कहते हैं और 'म' का अर्थ है शिव, अर्थात् वह प्रकाशमय कारण शरीर जिसको हम मालिक की आत्मा कह सकते हैं। यह सारा जगत मालिक के प्रकाशमय शरीर से निकला और अन्त में उसी में विलीन हो जाता है। **इस प्रकार ये मालिक के तीन शरीर हैं, ब्रह्मा, विष्णु और शिव। इनके**

ऊपर जो बिन्दु लगा है, वह चौथा पद है, जो ब्रह्मा, विष्णु और शिव से परे है। ये तीनों तो आने– जाने वाले हैं, लेकिन इनके अन्दर जो अविनाशी तत्व राधास्वामी तत्व है––उसी को बिन्दु कहा गया है। मैं आपको बता रहा हूं कि 'ओंकार' भी वही चीज है। 'ओंकार के अन्दर भी दुनिया के लोक हैं, जिसे काल कहते हैं। हमारा शरीर, मन और आत्मा काल के अन्दर हैं।'

'ओं' हर धर्म के अन्दर मौजूद है। पण्डित मन्त्र पढ़ते हैं लेकिन उन्हें यह पता नहीं कि ओं का मतलब क्या है? जैनी भी 'ओं' से शुरू करते हैं। बौद्ध भी 'ओं' से शुरू करते हैं। सिक्ख धर्म में भी 'ओं' या 'ओंकार' आता है। इस्लाम धर्म, यहूदी धर्म व ईसाई धर्म में भी 'ओं' हैं। आप गिरजाघर में जायें, आप इनकी प्रार्थना को ध्यान से सुनें। वे क्या कहते हैं?

Father, Son and Holy ghost. Father का अर्थ है ब्रह्मा। Son का अर्थ है विष्णु। Holy ghost का अर्थ है शिव। ईसाई अन्त में कहते हैं 'आमीन'। आमीन का अर्थ है 'ओं'। केवल 'ओं' के उच्चारण का फ़रक है। 'ओं' शब्द धुनात्मक है। किसी भी धर्म में भेद–भाव नहीं है। हम नफ़रत किससे करें? यह बात कबीर साहिब ने कही है। इन चारों आश्रमों में गृहस्थ का आश्रम सबसे श्रेष्ठ माना गया है। सबसे पहले ब्रह्मचर्य आश्रम आता है। इसमें 25 साल तक मनुष्य को ब्रह्मचारी रहकर गुरूकुल में शिक्षा ग्रहण करनी होती थी। गुरू शिष्य को बताता था कि 'ओंकार' क्या है?

ओंकार बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
मोक्षदं कामदं चैव ओंकाराय नमो नमः।।

यही शब्द सारे जगत् के अन्दर फैला हुआ है। ओंकार का मतलब है 'अ' 'उ' 'म' तथा बिन्दु हैं चौथे पद का सूचक। 'नित्यं ध्यायन्ति योगिनः' इस चौथे पद का ही योगी तथा भक्त ध्यान करते हैं। उस ओंकार को नमस्कार है। ''मोक्षदं कामदं चैव' वह तुम्हें भक्ति भी देगा, तुम्हारी कामनाओं को भी पूरा करेगा और तुम्हें चौथे पद पर भी ले जायगा। इन सब बातों को पूरा करने के लिए गृहस्थ आश्रम की जरूरत है। इसीलिए कबीर साहिब ने सन्तमत का भेद धर्मदास को ही दिया, जो गृहस्थी थे। राधास्वामी मत भी वही चीज है। मैं आपकों सरल भाषा में बता रहा हूं। सद्गुरू सत्संग में अपना अनुभव बताता है। वह जहां तक पंहुचा है वहीं तक आपकों ले जायगा।

आ गए सत्संग में और संग सत का हो गया।
दुमर्ति जाती रही और गुरू के मत का हो गया।।

सत्संग में आने से मालिक का तथा चौथे पद का ज्ञान हो जाता है। यदि आपको सत्संग में चौथे पद का ज्ञान नहीं हुआ, तो आपने सत्संग ध्यान से नहीं सुना। अब सत् का संग कैसे होगा? जो सद्गुरू आपको अनुभव बांट रहा है, यदि आप उसको केवल मनुष्य समझोगे, तो आपको ज्ञान नहीं होगा। सद्गुरू को पूर्ण मानो। वह जो शब्द बोल रहा है, वह ऊपर से आ रहा है'–

गुरू वही जो शब्द सनेही। शब्द बिना दूसर नहीं सोई।।

शब्द सनेही का क्या मतलब है? शब्द सनेही का मतलब है कि वह शब्द में रहता है। वह ऊँचें से ऊँचे शब्द को अपने अन्दर लिए हुए है, अर्थात् ऊँची से ऊँची हालत में रहता है। सुख दुख में सम रहता है। किसी से द्वेष नहीं रखता। किसी की निन्दा नहीं करता। हर एक जीव को, प्राणी को मालिक का स्वरूप समझता है, वही शब्द सनेही सद्गुरू है। यदि राधास्वामी मत के सत्संग के अन्दर सद्गुरू से कुछ लेना चाहते हो, तो तुम्हें गुरू के साथ ऐसा होना चाहिए, जैसे मिसरी पानी में घुल जाती है। सत्संगी गुरू को इतना प्यार करे कि उसकी अपनी कोई हस्ती न रहे। गुरू उसको मानना चाहिए, जो अपने अनुभव के आधार पर सत्संग देता हो। गुरू का रूप प्रकट होता है लेकिन गुरू को पता नहीं होता कि उसका रूप प्रकट हो रहा है। क्योंकि वह ता शब्द में रहता है, केवल उसकी छाया प्रकट होती है। गुरू की यह निशानी है कि उसकी वाणी में कभी भी भेद–भाव नहीं दिखाई देगा। उसकी वाणी में अमृत होता हैः

वाणी गुरू, गुरू है वाणी, वाणी अमृत धार।

सद्गुरू जो बोल रहा है, वह अम्त की धार है। वाणी ही गुरू है। उसका शरीर, उसकी शक्ल गुरू नहीं है। वाणी की जो धार है वह अमर अविनाशी है, और जो अविनाशी है वह शरीर नहीं, मन भी नहीं और आत्मा भी नहीं है। इसलिए वह हर एक शरीर के अन्दर,

आत्मा के अन्दर समान रूप में दिखाई देता है अर्थात् उसका अनुभव होता है। उसकी वाणी सुनते ही आपको शांति आ जायेगी, क्योंकि उसकी वाणी अनुभव से आ रही है। सद्गुरू के शब्द सुनते–सुनते आपको मस्ती आ जायगी। गुरू वही है, जिसकी गिरा, जिसकी वाणी आपको ऊँचा उठाती है। यह सद्गुरू की निशानी है। इसी तरह जो शब्द सनेही गुरू है, वह हमेशा शब्द में रहता है। उसकी वाणी को सुनकर आपको थोड़ी देर के लिए मालिक से मिलने की इच्छा तीव्र होगी। ऐसे सत्संग को सुनते–सुनते आप वहां पहुंच जाओगे, जिसे चौथा पद कहते हैं। वह मालिक सर्वव्यापक है।

गुरूदेवजगद् व्याप्तं ब्रह्मा विष्णु शिवात्कम्।

एक गुरू वह है जो सबके अन्दर बैठा हुआ है। वह गुरू ब्रह्म है, जो शरीर के अन्दर है। यह मालिक की शक्ति है विष्णु जो आपके मन के अन्दर है। ''शिवात्मकम्' आपकी आत्मा के अन्दर भी उसी मालिक का अंश है। दूसरा गुरू वह है, जो ऊपर से आ करके अपना अनुभव बांटता है। तुम्हें जगाने के लिए आता है। उसकी वाणी सुनने से, आपको गुरू के उस स्वरूप का पता लग जायेगा, जो हर जगह मौजूद है। इससे तुम्हारी रहनी ऐसी बन जाएगी कि तुम सुख–दुख में समभाव में रहोगे। यह सत्संग का लाभ है। दाता दयाल जी महाराज ने इस शब्द में बताया है कि मालिक का स्वरूप क्या है?

तू दया का रूप प्यारे, तू दया भण्डार है।

लोग हनुमान जी को मानते हैं। शिवजी को मानते हैं। देवी–देवता को मानते हैं। ठीक है, यह सब देवी–देवता हैं। इनसे इन्कार नहीं किया जा सकता लेकिन यह सब प्रकाश के, ब्रह्म के स्वरूप है। प्रकाश निकला है शब्द से और शब्द निकला है, दयाल से। तो मालिक का असली स्वरूप क्या है? मालिक का असली स्वरूप दयाल का है। दयाल क्या है? दयाल वह है, जो तुम्हें बिना किसी कीमत के दया बांट रहा है। उसके दरबार में तुम लाख गुनाह करके आओ, पर उसके सामने झुक जाओ, उसे प्यार करो, वह तुम्हें माफ कर देगा। यदि तुम दयाल के पास चले जाओगे तो तुम्हारे इसी जन्म में सारे कर्म समाप्त हो जायेंगे। उस मालिक का असली स्वरूप दया है। यह प्यार का रास्ता है। **यदि तुम्हारा अभ्यास नहीं बनता तो न बने। बस! तुम उसे प्यार करते रहो।** अभ्यास क्या है? अभ्यास है, उसी मालिक को याद करना। याद उसी को किया जाता है, जिसको हम प्यार करते हैं। आपके घर वाले, रिश्तेदार प्यारे तो हैं, परंतु आपको सदा प्यार नहीं देंगे। लेकिन दयाल हमेशा तुम्हारे साथ रहता है। वह दया का रूप होने के साथ–साथ दया का भण्डार भी है। वह प्यार का ऐसा खजाना है, जो कभी समाप्त नहीं होता। ऐसे सद्गुरू के पास जब तुम जाओगे, तो तुम्हें दया अवश्य मिलेगी।

साईं के दरबार में, कमी काहू की नाहिं।
बन्दा मौज न पावई, चूक चाकरी माहिं।।

यदि आपकी श्रद्धा तथा सेवा में कमी नहीं है, तो आपकों साईं के दरबार से सब कुछ मिलेगा। वह कभी खत्म न होने वाला दया का भण्डार है। इसलिए कहते हैं कि यदि तुम सन्तमत में आ गये और तुमने गुरू को पूर्ण मानकर सच्ची भक्ति की है, तो तुम्हें दयाल के पास जाने का सच्चा भेद बता देगा। तुम्हारे सारे कर्म समाप्त हो जायेंगे और तुम्हें बार–बार जन्म नहीं लेना पड़ेगा। देवी–देवताओं की पूजा करने से, अनुष्ठान करने से, तुम्हें अच्छा जन्म अवश्य मिल जायेगा, लेकिन मालिक के पास, दयाल के पास नहीं जा सकते। यह देवी–देवता तो हाकिम की तरह हैं,, अदालत की तरह हैं। अदालत तो तुम्हें सजा भी देगी।

कर्म प्रधान विश्व कर राखा।
जो जस कीन्ह सो तस फल चाखा।।

कर्म का भोग तो सबको भोगना पड़ता है और कर्म के अनुसार जन्म भी लेना पड़ता है। इस जगत् का कानून सख्त है और कानून किसी की परवाह नहीं करता। यदि जगत् के कानून से बचना हे, तो दयाल के पास जाओ। जब दयाल के पास चले जाओगे तो जगत् रूपी काल तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकता। दयाल तुम्हें माफ कर देगा। ब्रह्मा, विष्णु, तथा शिव तुम्हें दया नहीं देंगे।

अनघड़िया देवा कौन करे तेरी सेवा।
घड़े देव को सब कोई पूजे, नितह लावे मेवा।।
पूर्ण ब्रह्म अखण्डित स्वामी, ताका ज्ञान न भेवा।

कबीर साहिब कहते हैं कि अनघड़िया देवा दयाल है जिसका रूप हमें दिखाई नहीं देता। लेकिन उसका रूप है सन्त। अनघड़िया देवा को कोई नहीं पूजता। देवी–देवता को सब पूजते हैं। दिल्ली में हनुमान जी का मंदिर है वहां मंगल को इतनी भीड़ होती है, घण्टों तक लोग लाईनों में खड़े रहते हैं। कितना अंधविश्वास है। लेकिन जो साक्षात् मालिक गुरू रूप में बैठा है वह पूर्ण है, लोगों को उसका ज्ञान नहीं है।

दस अवतार निंजन कहिए, सो अपना नहीं होई।
ये तो अपनी करनी भोगें, कर्त्ता औरहि कोई।।

राधास्वामी मत तथा सनातन धर्म दस अवतारों को मानते हैं। यह दस अवतार ज्योति निरंजन से पैदा हुए हैं। इनके अन्दर भी वही परमतत्व का अंश था जो सबके अन्दर है। पंचनाम के अन्दर दस अवतार माने गए हैं। यह दस अवतार तो अपनी करनी भोग रहे हैं। राम ने अवतार इसलिए लिया था क्योंकि उन्हें नारद मुनि का शाप था। यदि आप राम–राम कहोगे, तो अपका कल्याण नहीं होगा, क्योंकि असली राम तो सारे जग से न्यारा है।

एक राम दशरथ का बेटा, एक राम घट–घट में लेटा।
एक राम का सकल पसारा, एक राम दुनिया से न्यारा।।

लोग समझते हैं कि कबीर साहिब ने हिन्दु धर्म का विरोध किया है। लेकिन असलियत यह है कि कबीर साहिब ने भी ब्रह्मा, विष्णु, शिव को माना है। यदि तुम ब्रह्मा को शरीरधारी तथा चारमुख वाला मानोगे तो गलत होगा। ब्रह्मा तो तुम्हारा शरीर है। लेकिन उस ब्रह्मा के पीछे उस शरीर को चलाने वाली जो 'सुरत' है, वह ब्रह्म के अन्दर भी है और तुम्हारे शरीर के अन्दर भी है। कबीर साहिब ने ब्रह्मा, विष्णु, शिव की निन्दा नहीं की है। 'इन सिर लागी काई' काई हरे रंग की होती है और पानी के ऊपर होती है। यदि कोई काई को हटा दे, तो नीचे साफ पानी दिखाई देगा। तुम ब्रह्म, विष्णु तथा शिव को मनुष्य नहीं मानो, उनको दिव्य रूप मानों अर्थात् परमतत्व का रूप मानो। तुलसीदास जी ने कहा है कि देवताओं में अगर कोई सन्त का नमूना है, तो वह शिवजी का है। वह मस्त रहता है। उसका न घर है न द्वार है। शिवजी को दयाल कहते हैं। शिव के रूप को समझ करके जब ध्यान लगाया जाता है,, तब वहां पहुंचा जा सकता है। तुलसीदास जी ने कहा है कि मैं उस मालिक को, उस ईश को नमस्कार करता हूं जो निर्वाणपद है। स्वामी जी महाराज ने निर्वाण के बारे में कहा है–

ना खालिक मखलूक न ख़िलकत,
कर्त्ता कारण काज न दिक्कत।
राम रहीम करीम न केशो,
कुछ नहीं कुछ नहीं कुछ नहीं था सो।।

शिवजी का कोई रूप नहीं होता, वह सब जगह मौजूद है। मैंने आपको बताया कि 'ओंकार' के ऊपर जो बिन्दु है, वह चौथा पद है। यदि आप शिवजी को चौथा पद मानकर चलते हो तो ठीक है, परंतु यदि आप शिवजी को केवल एक देवता ही मानकर चलोगे तो आपका कल्याण नहीं हो सकता।

ब्रह्मा, विष्णु महेश्वर कहिए, इन सिर लागी काई।
इनके भरोसे कोई मत रहियो, इनहुं मुक्ति न पाई।।

मुक्ति पाने वाली तो इनके अन्दर में सुरत ही है। उसी सुरत को पहिचानों जब आप अपने गुरू को फकीर का, अर्थात् शिव का सच्चा रूप मानकर, उससे सच्चे दिल से प्रार्थना करोगे कि आपको गुरूकृपा के सिवाय और कुछ नहीं चाहिए, उस अवस्थामें आपको सब कुछ मिलेगा।

चाह गई चिन्ता मिटी, मनुवा वेपरवाह।
जिनको कछु न चाहिए, वह ही शहनशाह।।

ऐसे शहनशाह की शरण में जाओ तो तुम्हारा लोक भी बन जायेगा और परलोक भी बन जायेगा।

जोगी, जती, तपी सन्यासी, आप–आप में लड़िया।
कहे कबीर सुनो भाई साधो, शब्द लखै सो तरिया।।

कबीर साहब कहते हैं कि बड़े–बड़े योगी, सन्यासी तथा तपस्वी सिद्धियां तो प्राप्त कर लेते हैं, परंतु उसके बाद भी उनकी ईर्ष्या नहीं जाती, वे आपसे में अहंकार के कारण लड़ते रहते हैं। किन्तु सद्‌गुरू तो चौबीस घण्टे मालिक के साथ जुड़ा रहता है, उसे सिद्धि शक्ति से कोई मतलब नहीं रहता।

सदा दिवाली सन्त के चारों पहर आनन्द।

फकीर 'शब्द' को लखने वाला होता है, वह सदा 'शब्द' में ही रहने वाला होता है। इसलिए देवी–देवता उसके आगे महत्व नहीं रखते। **सद्गुरू आपको सच्चाई बताने के लिए ही इस जगत् में आता है। वह निजधाम से आता है। वह साक्षात् दयाल का रूप है। वह स्वयं दयाल ही होता है। वह हमेशा दया करेगा और प्रेम करेगा। उसके पास आ करके दुनियावी काम पूरे होते हैं।** हफ्ते में कम से कम एक–दो पत्र मेरे पास आते हैं जिसमें लिखा होता है, महाराज जी आप आये और आपने हमारा काम कर दिया।' यह सब क्यों होता है? यह सब प्रेम के कारण होता है। यह सब चमत्कार मैं नहीं करता। करने वाली तो कोई और ही शक्ति है। मुझे तो पता भी नहीं होता कि तुम मेरे मानसिक स्वरूप से क्या काम ले रहे हो। मैं यह नहीं कहता कि गुरू का रूप प्रकट नहीं होता। गुरू का रूप प्रकट होता है, लेकिन गुरू को गुरू को इसका पता नहीं होता कि मेरा रूप प्रकट हो रहा है। मेरे पास कल ही एक व्यक्ति का पत्र आया है, जो जैन है। वह लिखता है, 'महाराज जी आप मेरे स्वप्न में आये, आपने कहा कि 2100 रूपया मानवता मन्दिर को भेजो। मैं स्वप्न को भूल गया क्योंकि इन्सान को भूल जाने की आदत होती है। एक हफ्ते बाद आपने मुझे फिर याद दिलाया। मैं 2100 रूपए का चैक मानवता मन्दिर के लिए भेज रहा हूं।' फिर लिखा, '1956 से मैं परमदयाल जी महाराज के पास आता हाा। वह सदा मेरे अंग–संग रहे। दुनिया के सभी काम मेरे होते थे। उनके चोला छोड़ने के बाद उनका रूप प्रकट हुआ। उन्होंने कहा कि मानव दयाल के रूप में मेरी दुगनी ताकत है। जब से उन्होंने यह कहा है, तब से मेरे साथ आप ही रहते हैं।' अब उसका यह विश्वास है। **जब तुम गुरू के स्थूल रूप को प्यार करके, अपने दुनियावी काम बना लेते हो, अगर उसे परमतत्व मानकर प्यार करोगे, तो तुम भी परमधाम चले जाओगे। तुम गुरू से प्रेम करते चलो, तुम्हारे लोक और परलोक दोनों बन जायेंगे।**

मेरे दाता शीश पर मेरे दया का हाथ रख।
तू है दानी दीनबन्धु, जगत् का दातार है।।

तुम्हें सतगुरू से कुछ भी मांगने की जरूरत नहीं है। सतगुरू से प्रार्थना करो कि वह अपनी दया का हाथ तुम्हारे सिर पर रख दे। दया कब मिलेगी? दया तब मिलेगी, जब तुम झुकोगे। झुकने से तुम्हारा अहंकार चला जाता है। जब आदमी दीन होकर जाता है, तब उसे दया मिलती है। गुरू दीनबन्धु है। जब तुम उसके आगे झुकोगे, तब वह तुम्हारे ऊपर दया करेगा। उसकी दया से तुम्हारे सारे काम बन जायेंगे।

मेरे अन्तर में समाना, मेरे सांसों सांस में।
तू है व्यापक यह समझ दे, सच्चा जो अधिकार है।।

उस मालिक से मांगने का आपको सच्चा अधिकार है। तुम उससे यह मांगो कि वह अपने सर्वव्यापक होने का सच्चा ज्ञान दे दे। उसको प्यार करते–करते आपका ऐसा भाव हो जायेगा कि हर जगह तुम्हें मालिक ही दिखाई देगा। जब आपको यह ज्ञान हो जायेगा कि आपके रूप में उसी का रूप है, तो आप किसी की भी निन्दा नहीं करोगे।

आस रखकर गुरूकृपा की, नित करो अभ्यास तुम।
रात दिन छिन–छिन तुम्हारा, वह सदा रखवार है।।

जिसका तुम नाम पुकार रहे हो, उससे इतना प्रेम करो, कि हर समय उसका ही ध्यान रहे। सन्तमत में कहा जाता हैः–

एक जन्म गुरूभक्ति कर, जन्म दूसरे नाम।
जन्म तीसरे मुक्ति पद, चौथे में निजधाम।।

पहले सत्संग में आकर गुरू के नजदीक बैठो। गुरू से प्रेम करो, तब तुम्हें नाम मिलेगा। नाम मिलने के बाद उसी के रूप का ध्यान करो। नाम को रटते–रटते तुम जीवन्मुक्त हालत में आ जाओगे। तुम्हारे काम बन जायेंगे। सब जगह वही मालिक दिखाई देगा। तुम्हारा अपना आपा नहीं रहेगा। जीवन्मुक्त हालत में दुख–सुख, लाभ–हानि सब समान होता है। जब तुम्हारी यह अवस्था आ जायेगी, तब तुम्हें निजधाम मिलेगा। बाद में आपको ध्यान समाधि की भी जरूरत नही है। आप स्वयं सद्गुरू हो जाओगे। प्रेम करते–करते यह अवस्था आ जाती है जब गुरू –गुरू नहीं रहता, सत्संगी–सत्संगी नहीं रहता। दोनों एक हो जाते हैं।

छोड़ो ममता छल कपट, चतुराई गुरू से नेह जोड़।
भक्ति उसकी कर वह सच्चा, प्रेम का भण्डार है।।

गुरू दया व प्रेम का भण्डार है। दुनिया के सामने भले ही झूठ बोलो, लेकिन गुरू के सामने सदा सच बोलो।

राधास्वामी राधास्वामी, राधास्वामी को सुमिर।
राधास्वामी सर्वरक्षक, सर्वदा हितकार है।

राधास्वामी किसी व्यक्ति का नाम नहीं है। राधास्वामी परमतत्व का नाम है। राधास्वामी हालत है। राधास्वामी न शरीर है, न मन है, न आत्मा है वह कभी नाश न होने वाली परम सत्ता है। वह सबके अन्दर है। सद्गुरू तो राधास्वामी हालत में रहता है। इसलिए जब तुम खाना खाओ, तो राधास्वामी कहो। सांस–सांस में राधास्वामी कहो। जब तुम्हारी यह हालत हो जायेगी, तो तुम्हें अभ्यास करने की भी जरूरत नहीं है। वह मालिक हर समय तुम्हारा रखवाला है। जब तुम्हारा ऐसा भाव हो जायेगा, तुम्हारे तो सब काम मौज करेगी और तुम्हें पता भी नहीं चलेगा। इस पूर्ण भक्ति में आपको सब कुछ मिल जाता है। आपका लोक भी बन जाता है और परलोक भी बन जाता हे। इन शब्दों के साथ मैं आपको सद्भावना देता हूं कि जिस बच्ची की शादी हो रही है, वह मालिक के स्वरूप को, अपने पति के रूप में देखे।

सबको राधास्वामी!

0000

सतसंग परमसंत हुजूर मानव दयाल जी महाराज

(होशियारपुर दिनांक 7 अप्रेल 1987)

संतमत मत की दृष्टि से रामनवमी का महत्व

शब्द

तारने वाले ने तारा, तर गये सब तर गये।
जिनको तरना था तरे, भवनिधि के वो तट पर गये।।
लालची कामी तरे,, क्रोधी तरे मोही तरे।
नीची योनी में जो थे, वह नाम ले ऊपर गये।।
तारने वाले ने तारा, तार तरने का बंधा।
अब हो क्या चिंता किसी को, उसके जो दर पर गये।।
आये शरणागत जो उसके, कर लिया जीवन सफल।
अब नहीं तरने में संशय, काम अपना कर गये।।
राधास्वामी ने दया की, लाये नौका शब्द की।
जो चढ़े वह तर चले, चूके जो वह सब मर गये।।

राधास्वामी!

मेरी अपनी ही आत्मा के बिखरे हुए अंश सत्संगी भाइयों और बहनो! आज के दिन या तिथि को रामनवमी कहते हैं। वास्तव में, जो परमतत्व के अवतार होते हैं, जो संत सद्गुरू होते हैं, उनका न तो जन्म होता है ओर न ही मृत्यु। तिथियां तो केवल इतिहास की दृष्टि से दी जाती हैं। जब–जब भी किसी अवतार का अवतरण होता है वह हमें चेताने के लिए, उस समय के मुताबिक होता है। हर युग में, मालिक किसी न किसी रूप में जन–कल्याण के लिए पैदा होता है, उस तिथि को तिथि माना जाता है। भगवान राम की जन्म तिथि को रामनवमी और कृष्ण की जन्मतिथि को कृष्ण जन्माष्टमी कहते हैं। मालिके कुल का अवतार हर युग में होना यह सिद्ध करता है कि मालिक हमें कभी नहीं भूलता और नाना रूपों में अवतरित हो कर, हमें चेताता है। इस सच्चाई को सन्त तुलसीदास जी ने रामायण में बड़े सुन्दर शब्दों में कहा हैः–

नाना भांति राम अवतारा, रामायण शत कोटि अपारा।

सन्त तुलसीदास न भगवान राम को ऐतिहासिक भी माना है। वह सचमुच ही शरीरधारी दशरथ–पुत्र थे, जो अयोध्या में पैदा हुए, जनकपुरी में जिनका विवाह हुआ, और जो पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए चौदह साल तक बन में रहे। परन्तु ऐतिहासिक राम को उन्होंने परमतत्व का साक्षात् अवतार भी माना है। उन्हें घट–घट में व्यापक और रोम–रोम में रमा हुआ माना।

मैं दाता दयाल जी की पुस्तक पढ़ रहा था, उसमें उन्होंने लिखा है, "मैं राम को ब्रह्म का साक्षात् अवतार मानता हूं। मेरे से कोई सहमत हो या न हो, मैं चुनौती देता हूं।" मैं भी भगवान राम को परमतत्व का साक्षात् अवतार मानता हूं। रामनवमी की ऐतिहासिक महिमा तो है ही, परंतु 'राम' शब्द धुनात्मक है। यदि कोई इसे धुनात्मक नहीं समझता तो न समझे, वह गलती कर रहा है। राधास्वामी में 'रा' है कि नहीं, स्वामी में 'म' है कि नहीं। जो सब जगह रम रहा है, सब जगह मौजूद है, जिसकी सत्ता हरएक वस्तु के भीतर मौजूद है, वह राम है। भारत के जितने भी मत–मतान्तर हैं, सभी में राम का जिक्र आता है। गुरू ग्रंथ साहिब में छत्तीस हजार बार राम का नाम आता है। कबीर साहिब तो राम के परमभक्त थे ही। दाता दयाल जी ने कहा हैः–

जिस को चाह राम की साधो, राम उन्हें मिल जाते हैं।

राम! राम!! राम!!! किन्तु कौन सा राम? क्या दशरथ का पुत्र राम? क्या अयोध्या का राजा राम? अरे दशरथ–पुत्र राम तो कई बार जन्मा। हर युग की अपनी एक रामायण होती है। त्रेतायुग में जो राम पैदा हुआ, वह नारद के शाप के कारण पैदा हुआ। नारद के मन में अहंकार आ गया था। वह परमभक्त नारद, जो हर युग में मालिक के गुण गाता फिरता है, उस नारद के मन में विकार आ गया, अहंकार पैदा हो गया। एक बार नारद ने इतनी घोर तपस्या की कि जिसे देखकर इन्द्र घबरा उठे। उन्होंने सोचा, शायद नारद इन्द्र का आसन लेना चाहते हैं। उन्होंने नारद की तपस्या भंग करने के लिए कामदेव को भेजा। कामदेव ने नारद की तपस्या भंग करने के लिए बहुत जोर लगाया। ऐसा माहौल पैदा कर दिया कि तालाबों के अंदर तक भी काम की भावना पैदा हो गई। न केवल पशु–पक्षियों में ही, बल्कि जड़ वस्तुओं में भी काम उत्पन्न हो गया। पर इतना सब होते हुए भी नारद की समाधि भंग नहीं हुई। जब कामदेव की सारी चालें असफल रहीं, तो वह अपनी सेना लेकर नारद के पास आया और उन्हें नमस्कार करके बोला, "महाराज! मैं तो आप से हार गया। आप धन्य हैं। मैं इन्द्र के पास वापिस जा रहा हूं और उन्हें कह दूंगा कि मैं नारद जी के सामने हार गया।"

पर नारद तो वास्तव में भक्ति के लिए तपस्या कर रहे थे। सच्चा भक्त वही होता है जो अपनी सफलता पर उल्लास नहीं करता। वह न दुख में दुखी, न क्रोध में क्रोधी होता है। इसमें संदेह नहीं कि लोकाचार में कभी–कभी क्रोध तथा शोक भी प्रकट करना जरूरी होता है पर ऐसी स्थिति में भी, मन से किसी का बुरा मत सोचो। यदि किसी स्थिति में क्रोध करना आवश्यक हो, तो क्रोध करो, पर मन से किसी का बुरा मत सोचो, बल्कि उसे आशीर्वाद दो कि वह सुखी रहे। मन से यदि आप बुरा सोचोगे, तो जिसके बारे में आप बुरा सोच रहे हो, उसका बुरा हो या न हो, पर आप का मन तो बुरा हो ही गया। जब मन ही बुरा हो गया, तो आपका कल्याण कहां होगा? असंभव। सारी बात तो मन ही की है। आप सभी परमतत्व के ही अवतार हो। आपके मन में वही शक्ति मौजूद है, जो बड़े से बड़े सन्त या सिद्धपुरूषों में होती है, पर आप अपने मन की शक्ति को पहिचानते नहीं। आप अपने मन को हमेशा दुनियावी चीजों में फंसाये रहते हो। यदि आप ने पैसा चाहा, तो मन की शक्ति से आपके पास पैसा आ गया; पुत्र चाहा, तो पुत्र मिल गया; इज्जत चाही तो इज्जत मिल गयी। आखिर आपकी इच्छाओं का कोई अन्त भी है? इच्छाओं को तो जितना बढ़ाते जाओगे, उतना ही अधिक दुखी होते चले जाओगे। जितना ही इच्छाओं पर नियंत्रण रखोगे, उतने ही सुखी रहोगे। मैंने आपको कहा कि मन में अपार शक्ति है। मन की शक्ति पहाड़ों को हिला देती है। आप यदि बीमार और दुखी हैं, तो इसके जिम्मेवार आप स्वयं ही हैं। क्या आपने कभी जानने की कोशिश की, कि आप कौन हैं? आप शरीर नहीं, मन नहीं, बुद्धि नहीं; बल्कि आप आत्मा हैं। क्या आप जानते हैं कि आत्मा का स्वभाव क्या है? आत्मा का स्वभाव है सदा खुश रहना। आत्मा कभी उदास नहीं रहती। यदि संसार में कोई

पाप है तो वह है उदास रहना। उदास रहने वाला महापापी है। स्वामी रामतीर्थ कहा करते थे, "यदि दुनिया में कोई पाप है तो वह एकमात्र पाप है उदास होना।" जो स्वयं उदास रहता है वह उदासी का वातावरण पैदा करता है और जो स्वयं खुश रहता है वह खुशी पैदा करता है। यदि आप निराशावादी विचार रखोगे, तो आपके जीवन में निराश करने वाली घटनाऐं ही घटेंगी, जो आपकी बरबादी लायेंगी। परम दयाल जी महाराज कहा करते थे कि "जब आप कोई कर्म करते हैं, तो या तो उसमें आपका आशावादी दृष्टि कोण होता है या निराशावादी। यदि आप भूत–प्रेतों में विश्वास रखते हो, तो सचमुच भूत–प्रेत पैदा हो जायेंगे।" अरे तुमने खुद ही भूत–प्रेतो को पैदा किया है।

मैं भौतिक सुख भोगने के विरूद्ध नहीं हूं। हमारी संस्कृति लंगोट धारियों की नहीं है। भगवान राम और भगवान कृष्ण तो आलीशान कपड़े पहनते थे। राधास्वामी शिव दयाल जी महाराज कितने शानदार वस्त्र पहनते थे! तुम सब सुख भोगो, परंतु उसमें फंसो नहीं। अपनी मनोवृत्ति को हमेशा मालिक में लगाये रखो। मनोवृत्ति जब मालिक में लगी रहेगी, तो मालिक की दया से आपके सभी सांसारिक काम भी अपने आप होते चले जायेंगे।

मैं तो बचपन से यही अनुभव करता आ रहा हूं कि मैंने जब–जब सच्चे दिल से जो चाहा, वह मुझे मिलता गया। बचपन में अमीर बाप का इकलौता बेटा होने के कारण, पिता ने मेरी हर मांग को, हर इच्छा को पूरा किया। परंतु हाई स्कूल पास करने से पहले ही पिता जी सीढ़ियों से गिरे गये और सिर में गहरी चोट लगने से उनकी स्मृति जाती रही। हम एकदम गरीब हो गये। घर में मां तथा छोटी पांच बहने थीं। घर का खर्च चलाना भी कठिन हो गया। मेरी आगे की पढ़ाई की तो कोई सोच भी नहीं सकता था। उस समय मैंने भगवान से प्रार्थना की कि मुझे वजीफा मिल जाये, और मुझे वजीफा मिल गया जिससे मैं आगे की पढ़ाई करता चला गया। जिन्दगी में आगे ही बढ़ता चला गया। परम दयाल जी महाराज कहा करते थे कि जब आप समाधि–ध्यान में बैठो, या मालिक से प्रार्थना करो, तो मन में कोई मकसद या इच्छा लेकर बैठा करो। जो आप चाहोगे और मांगोगे मिल जायगा। मैं भी आपको यही कहता हूं कि आप आशावादी रहोए सदा अच्छा सोचो। जैसा आप सोचोगे वैसे ही बन जाओगे। कोई रूकावट नहीं आयेगी। जब एक डाकू भी प्रार्थना करता है तो उसकी प्रार्थना भी सुनी जाती है, उसकी इच्छा भी पूरी होती है तो आपकी क्यों पूरी नहीं होगी? अवश्य पूरी होगी।

मालिक अच्छाई बुराई से परे है। अच्छाई–बुराई हमने स्वयं बनाई हैं। वास्तव में, कोई चीज अपने आप में न बुरी है, न अच्छी। हमारे इर्द–गिर्द जैसा भी माहौल है, वह सब हमने स्वयं ही बनाया है। हे मानव! तुम जो कुछ भी प्राप्त करते हो, अपने ही मन की शक्ति से करते हो। तुम दुनिया के मालिक ही, परंतु अपनी शक्ति को भूल से नहीं पहिचानते। आप का शरीर, मन और आत्मा ही ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शिव इस ब्रह्माण्ड के तीन हिस्से हैं। शरीर ब्रह्मा, मन विष्णु और आत्मा शिव है। जगत् के अंदर ब्रह्मा, विष्णु और शिव दिन के तीन भागों में बंटे हुये हैं। रात के बारह बजे से प्रातः आठ बजे तक ब्रह्मा का भाग है। ब्रह्मा भाग में क्या होता है? प्रातःकाल को जब सूर्योदय होता है, तो उसमें लाली होती है, किरणें निकलती हैं। पहली किरणों को उषा कहते हैं। ब्रह्म स्वयं उन किरणों के पीछे सृष्टि की रचना करता है। यह कथा, कि ब्रह्मा ने अपनी पुत्री के साथ सम्भोग किया, बिलकुल मनगढंत और गलत है। वास्तव में, बात यह है कि ब्रह्मा ने अपने विचार से किरणे निकाली और उसी किरण से सृष्टि की रचना हुई। ब्रह्मा के विचार से पैदा होने के कारण वह उसकी पुत्री कहलाई। हम भी अपने मन से जो विचार पैदा करते हैं, वे हमारी बेटियां ही तो हैं।

मैं कह रहा था कि प्रातःकाल का समय ब्रह्मा के हिस्से का है, इसलिये उसे ब्रह्म–मुहुर्त भी कहा जाता है। उसके बाद प्रातः आठ बजे से सन्धा के चार बजे तक किरणे पूर्ण रूप से फैल जाती हैं, उस समय पालन–पोषण करने वाली शक्ति काम करती है। उस शक्ति को ही विष्णु कहते हैं। चार बजे के बाद सूर्य की किरणें सिमटना शुरू हो जाती हैं और धीरे–धीरे सिमिट जाती हैं। इस सिमटाव की शक्ति को ही शिव कहते हैं।

परम दयाल जी कहते थे कि यदि किसी व्यक्ति में यह तड़फ होती है कि वह इस अपूर्ण जगत् से निकल कर, सच्चे घर चला जाये, तो उसकी यह तड़फ अवश्य पूरी होगी। मन में बड़ी शक्ति है – "मनै की गति कही न जाय।"

यदि मानोगे नहीं, तो दुनिया का कोई भी काम संभव नहीं है। अतःमेरे प्यारो! मान कर चलो। जब मानोगे ही नहीं, विश्वास ही नहीं करोगे तो काम कैसे आरम्भ होगा? जब काम आरम्भ ही नहीं होगा, तो उसमें सफलता कहां से प्राप्त होगी? बड़े–बड़े वैज्ञानिक जब कोई आविष्कार करते हैं, तो किसी न किसी विचार को मन में लेकर, उस पर विश्वास करके आगे चलते हैं। मानना पड़ता है भाई! जब तुम सोचते हो कि तुम अपूर्ण हो और तुम पूर्ण बनना चाहते हो, तो तुम किसी निर्बन्ध पुरूष को पूर्ण मानकर पूर्णता की ओर जाते हो। यदि गुरू को पूर्ण नहीं मानोगे, तो तुम पूर्ण कैसे बनोगे? इसलिए ही तो कहा जाता है कि–

मने की गति कही न जाय

जब आप गुरू को पूर्ण मानते हो, उसको सच्चे दिल से प्यार करते हो, तो गुरू भी तुम्हें बहुत प्यार करता है। मालिक अपने भक्तों को बहुत प्यार करता है, सदा उनकी भलाई चाहता है। हां तो मैं नारद की बात कर रहा था। तो जब कामदेव ने नारद के सामने अपनी हार मान ली, तो नारद को कुछ अहंकार उत्पन्न हो गया। वह सीधा भगवान शंकर के पास गया और अपनी खूब प्रशंसा करके बोला, "देखिए, मैंने कैसे काम पर विजय पाई।" इस पर शंकर भगवान मुस्करा कर बोले, "हां नारद! तुम वास्तव में महान् हो। परंतु नारद, विष्णु भगवान के पास जा कर यह सब मत कहतना, यह अच्छा नहीं लगता।"

परंतु नारद तो अहंकार के नशे में चूर था, वह विष्णु भगवान को यह बताने के लिए आतुर हो गया। अतः विष्णु भगवान के पास जाकर उसने सारी कहानी सुना दी। विष्णु भगवान ने देखा कि उनके परमभक्त के मन में अहंकार का बीज पड़ गया है, तो उन्होंने अपने प्यार शिष्य को बचाने के लिए उस अहंकार–रूपी बीज को नष्ट कर देना उचित समझा। नारद के कल्याण के लिए, विष्णु भगवान ने एक नाटक रचाया। उन्होंने एक माया नगरी की सृष्टि की। जब नारद उस नगरी में पहुंचे तो वह राजा रानी को मिलने चला गया। नारद को देखते ही महारानी बोली, "महाराज! मेरी इस सुंदर कन्या का हाथ देखिये, इसकी भाग्य रेखायें क्या कहती हैं?

नारद ने उस सुन्दर राजकुमारी का हाथ देखते हुये कहा, "यह लड़की तो साक्षात् लक्ष्मी है। इससे जो ब्याह करेगा, वह त्रिलोकी का नाथ बनेगा।"

नारद के मन में एक विचार आया कि क्यों न मैं इस कन्या से विवाह कर लूं। नारद का मन डांवाडोल हो गया, उसकी बुद्धि मति धीर नहीं रही। उसने मन ही मन भगवान विष्णु की सच्चे दिल से प्रार्थना की और भगवान विष्णु प्रकट हुए। नारद हाथ जोड़ कर बोले, "भगवन् यह कन्या बहुत सुन्दर है कल इस कन्या का स्यंबर है। मैं चाहता हूं कि यह बरमाला मेरे गले में डाले। आप हरि हैं, आप मेरे ऊपर कृपा करके मुझे ऐसा रूप प्रदान कीजिए जिससे यह सुन्दर राजकुमारी मेरे रूप पर मोहित होकर मेरे गले में वरमाला डाले।"

विष्णु मुस्करा कर बोले, "हे प्यारे नारद! जिसमें तुम्हारी भलाई हो, वही होगा।" जब नारद स्वयंबर में गया वह समझ रहा था कि राजकुमारी शीघ्र ही उसके गले में माला डालेगी। परंतु राजकुमारी जब उघर से गुजरी तो डर के मारे वह नारद के पास भी नहीं फटकी। थोड़ी देर बाद दो आदमी जोर–जोर से हंसते हुए बोले, "श्रीमान! जरा शीशे में जा कर अपना मुंह तो देख लिया होता, यहां आने से पहले।"

जब नारद ने शीशै में अपना रूप देखा तो बंदर जैसा है, तो उसे बहुत क्रोध आया और विष्णु भगवान के साथ उसी कन्या जो लक्ष्मी ही थी को देखकर बोले, "आप भगवान हैं, सृष्टि का पालन करने वाले हैं, परंतु मेरे साथ आपने यह धोखा किया, मुझे बंदर का रूप दे दिया। यह कहां का न्याय है? मैं आपको शाप देता हूं कि आप त्रेतायुग में मनुष्य के रूप में आओ और अपनी पत्नी के विरह में तड़फो और बंदर ही तुम्हारी सहायता करें।

अहंकार के साथ क्रोध भी मिल जाय तो सत्यानाश हो जाता है। क्रोध में मनुष्य अंधा हो जाता है। तीनों लोकों में जा–जाकर भगवान विष्णु के गुणगान करने वाले परमभक्त नारद क्रोध में अंधे हो

गये कि उन्हें यह भी ज्ञान नहीं रहा कि वह तीन लोक के मालिक को शाप दे रहा है। भक्त के शाप को पूरा करने के लिए मालिके कुल को त्रेतायुग में अवतार लेना पड़ा। तुलसीदास जी ने सत्य ही कहा है–

नाना विधि राम अवतारा, रामायण शत कोटि अपारा।

क्योकि यह सत्संग रामनवमी के दिन हो रहा है, इसलिए इसमें भगवान राम के विषय में ही अधिक प्रसंग आते जा रहे हैं। राम को हम केवल दशरथ का ऐतिहासिक पुत्र ही नहीं मानते, बल्कि परमतत्व का साक्षात् अवतार मानते हैं। राम का मतलब है, जो रम रहा है। राम तो सबके अंदर है। यदि किसी ने आने शिष्य को 'राम' नाम का मंत्र दिया है तो वह इसी मंत्र, इसी शब्द जहाज पर चढ़ कर पार हो सकता है। बिना शब्द के किसी भी धर्म या मत–मतांतर वाला, मालिक को पा नहीं सकता। यह सारा जगत् अनामी शब्द से निकला है।

आकाश शब्दमय है। मैंने शब्द बोला आपने सुना। शब्द के बिना कोई चल ही नहीं सकता। जिन्होंने शब्द को सुना, जो शब्द के अन्दर घुसे और शब्द को समझा, वे तर गये बाकी सब मर गये। मतलब यह है कि जिन्होंने गुरू के शब्द को सुना, समझा तथा उस पर अमल किया वे भवसागर से तर गये, यानि कि आवागमन से छूट गये, जिन्होंने नहीं समझा, वे जन्म–मरण के चक्कर से नहीं निकल सके। जो ज्ञान सद्‌गुरू द्वारा दिया जाता है, या जो शब्द गुरू द्वारा बोला जाता है वह आनन्दमय होता है।

'राम' शब्द धुनात्मक है। पश्चिम में यहूदी धर्म में 'रेमसिस' का जिक्र आता है जो कि राम से निकला हुआ लगता है। रेमसिस का भाई था मोजिज। अफ्रीका के धर्म जिन्हें अंधविश्वासी धर्म कहते हैं, जिनमें पत्थरों की पूजा की जाती है उनके भी एक ऐसा ईश्वर माना गया है जिसमें 'रा' आता है उसे 'रालूबिम्बा' कहते हैं। देखिये तो, रालूबिम्बा में 'रा', रामसिा में 'रा', राम में 'रा' और राधास्वामी में 'रा' क्या यह सब आकस्मिक है? नहीं, इसका गूढ़ अर्थ है।

इसका मतलब है, जो सब में रम रहा है और नवमी शब्द में भी एक भेद छुपा हुआ है। नौ या नव की गिनती अपने आप में पूर्ण है। इस हिस्से को कोई अपूर्ण नहीं कह सकता। नौ का पहाडा ही ले लीजिए–

नौ इकम	9	–	=	9
नौ दूनी	18	1+8	=	9
नौ तीया	27	2+7	=	9
नौ चौका	36	3+6	=	9
नौ पंजा	45	4+5	=	9
नौ छिक	54	5+4	=	9
नौ साता	63	6+4	=	9
नौ आठा	72	7+2	=	9
नौ नाम	81	8+1	=	9
नौ दसा	90	9+0	=	9

सबका जोड़ अन्त में नौ आता है।

तो इस नवमी यानि कि अपने में परिपूर्ण नौ तिथि को राम का जन्म बहुत ही महत्वपूर्ण है। राम परमतत्व के साक्षात् अवतार थे। सदियों से राम नाम से करोड़ों मनुष्यों का उद्धार होता रहा है। महाकवि और भक्त बाल्मीकि को राम का नाम ही मिला था। इस युग के आदि गुरू संत कबीर ने राम नाम पर ही ध्यान लगाया। गुरू द्वारा दिया गया नाम ही शिष्य के लिए सबसे अच्छा है। एक जिज्ञासु ने एक गुरू को अपनाया। उसने गुरू की काफी दिन तक सेवा की। गुरूदक्षिणा भी दी और एक दिन गुरू से प्रार्थना की कि वह उसे नाम दान दें। गुरू ने देखा कि शिष्य बारह साल से उसकी सेवा कर रहा है, उसने शिष्य के कान में कहा "राम" और बोला यही तुम्हारा नाम है। इसी को जपा करो। शिष्य नाम दान पा कर बहुत ही प्रसन्न हुआ। इसी प्रसन्नता की मुद्रा में वह घर की ओर जा रहा था, तो रास्ते में कोई मांगने वाले साधु 'राम भजो', 'राम भजो' गाते हुए चले जा रहे थे। राम का नाम सुन कर वह घर न जाकर, सीधा गुरू के पास वापिस आया और बोला, "गुरू जी, मैंने आपकी बारह साल तक सेवा की धन भी दिया, परंतु आपने तो मुझे ऐसा नाम दिया जिसे मांगने वाले तक जानते हैं। इसमें खासियत तो कुछ भी नहीं।" तब गुरू ने शिष्य को एक गोल सा पत्थर देते हुए कहा–"तुम बाजार जाओ और

फुटकर दुकानदारों से इसका दाम लगवा कर मुझे आकर बताओ, परंतु इसे बेचना नहीं।"

शिष्य सबसे पहले सब्जीमण्डी में गया। वहां उस पत्थर को एक सब्जी बेचने वाले को दिखा कर पूछा– "भाई इसका क्या दाम होगा?" सब्जी वाले के कहा–"अरे छटांक भर का पत्थर है शक्ल–सूरत में गोल है, ठीक है। होगा कोई चार या पांच आने का।" फिर वह चांदी बेचने वाले के पास गया उससे दाम पूछा। उसकी चमक–दमक को देख कर दुकानदार ने उस पत्थर का मूल्य पांच सौ रूपये बताया। अन्त में वह जौहरी के पास गया, जौहरी उसे देखते ही पहचान गया और बोला, "अरे भाई! यह तो असली माणिक है। मैं तुम्हें इसका एक लाख रूपया दे दूंगा।" शिष्य बोला, "मुझे बेचना नहीं है।" वह सीधा गुरू के पास पहुंचा और गुरू को सारी बात सुना दी। गुरू ने कहा, "देखा प्यारे! राम–राम कहते तो सब हैं, परंतु उसका सार कितने लोग जानते हैं। आखिर जौहरी ने ही तो पहचाना उस पत्थर लगने वाले माणिक को।" गुरू जौहरी है। वह शिष्य को पहचान कर उसकी फितरत के मुताबिक ही, उसे नाम देता है। उसी नाम के सहारे शिष्य इस भवसागर से तर जाता है। "तारने वाले ने तारा, तर गये सब तर गये।" तारने वाला गुरू है, जो गुरू के शब्दों को समझता है और उस पर अमल करता है वह तर जाता है, बाकी सब डूब जाते हैं। गुरू की दया के दरवाजे तो सदा खुले रहते हैं–

फैज का दर है खुला, वह बन्द नहीं हरगिज,
शर्त यह है कोई, मांगने सायल तो आये।

मुझे परम दयाल जी महाराज ने कई बार कहा, "मानव! जब कोई दुखी जीव तुम्हारे पास आये, तो उसे निराश मत लौटाना।" मुझे लोगों को सुख पहुंचाने के कई गुप्त तरीके बता गये। ऐसे दयाल थे मेरे परम आराध्य। सबके ऊपर दया करना उनका नित्य का काम था। इस जगत् में और जगत् के बाहर एक काल–देश है, एक दयाल–देश है, हालांकि काल–देश भी दयाल–देश का ही फैलाव है। काल–देश का अपने आप में कोई महत्व नहीं है। सुंदर काल–देश है 'राधा' और दयाल–देश है 'स्वामी'। काल लोक है, राधा लोक है, स्वामी परलोक है। जब तक आपने लोक नहीं बनाया, आपका परलोक कैसे बनेगा? संत मत, सनातन धर्म की अंतिम कड़ी है महाराज जी की आज्ञा के अनुसार, मुझे तो यह प्रमाणित करना है कि लोक और परलोक एक हैं। सद्गुरू का यह फर्ज है कि वह अपने शिष्यों का लोक और परलोक दोनों बनाये। शिष्य की सांसारिक इच्छाओं को भी पूरा करे और आध्यात्मिक उन्नति भी कराये। दयाल सत्य और काल इन्साफ है। जो कर्म आप करते हो, उसका फल आपको भोगना ही पड़ेगा। यह मालिक का नियम है। इससे कोई भी नहीं बच सकता। मालिक के दरबार में रिश्वतखोरी नहीं चल सकती। यदि कोई बचना चाहता है, तो केवल एक तरीका है, वह है झुका जाओ, अपने अहंकार को छोड़कर शरणागत हो जाओ, दयाल के पास चले जाओ, तो काल अपने आप समाप्त हो जायेगा। यह आपके हाथ में है कि आप दयाल को अपनाओ या काल को, आप दयाल–देश में जाओ या काल–देश में। अधिकतर लोग काल के रास्ते पर चल रहे हैं। वे पण्डितों के पास जाते हैं जन्म–कुण्डलियां दिखाते है, दान भी देते हैं। ठीक है यह सब भी, इससे तुम्हें धन प्राप्त हो सकता है, मान मिल सकता है, बच्चों को अच्छे जीवनसाथी मिल सकते है, शानदार मकान मिल सकते हैं, परंतु तुम्हारा जन्म–मरण से छुटकारा तो नहीं हो सकता। परंतु जब गुरू आपको यह ज्ञान देगा कि सुरत अपने आप में पूर्ण है, यह न तो आपको बांधती है और न ही मुक्त करती है, तो आप सीधे दयाल–देश में चले जाओगे, जन्म मरण के बंधन से छूट जाओगे।

गुरू तो आपको तारने के लिए ही आता है। परंतु तरते कितने लोग हैं। केवल वही तरते हैं, जिनकी तरने की इच्छा होती है।

लालची, कामी तरे क्रोधी तरे, मोही तरे,
नीच योनि में जो थे, वह नाम ले ऊपर गये।

जिनकी तरने की तीव्र इच्छा होती है वह लालची, कामी, मोही और क्रोधी होते हुए भी तर जाते हैं। नीच योनी में जन्म लेने वाले भी नाम का सहारा लेकर इस भवसागर से तर जाते हैं। अब नाम क्या चीज है? सद्गुरू के वचन, या शब्द ही नाम है उन वचनों को सुनो और उन पर अमल करो ओर वह नाम, जो चौथे पद पर है, वह गुरू के शरणागत होने से अपने आप मिल जाता है। चौथा पद क्या है?

नाम रहे चौथे पद मांही। वह ढूंढ़े त्रिलोकी माहीं।।

दूसरे मार्ग भी हैं, कर्मकाण्ड का रास्ता है, पूजा का रास्ता है, भक्ति का रास्ता है, कृष्ण भक्ति का रास्ता है, राम भक्ति का रास्ता है। भक्ति मार्ग या रास्ते तीसरे पद में हैं। यह आपको आनन्द तक ले जायेगा, इससे ऊपर नहीं ले जा सकता। ऊपर जाने के लिए तो जीते–जागते सद्गुरू को अपना कर उसके कहने के मुताबिक चलना पड़ता है।

नाम किसको मिलना चाहिए? नाम केवल अधिकारी को ही मिलना चाहिए। अब प्रश्न उठता है कि अधिकारी कौन होता है? अधिकारी वह है, जिसे यह सच्चा ज्ञान हो जाय कि दुनिया के अंदर जो झमेले हैं, वह बेकार हैं, इनमें फंसना नहीं है। लेकिन इस बात का ज्ञान होना बहुत ही कठिन है। शरणागत होना आसान काम नहीं है। जब मनुष्य को कोई बड़ी ठोकर लगती है, तो वह शरणागत होता है। शरणागत होने वाले चार प्रकार के व्यक्ति होते हैं। पहले प्रकार के व्यक्ति वे हैं जो बहुत दुखी होते हैं और उन्हें दुख को दूर करने का कोई उपाय नहीं सूझता, तो वे शरणागत हो जाते हैं। दूसरी प्रकार के व्यक्ति अर्थार्थी होते हैं, यानि कि वे लोग, जो कुछ पाना चाहते हैं। अपनी मांगी को पूरा कराने कि लिए वे शरणागत हो जाते हैं, 'महाराज जी! मेरी यह इच्छा पूरी हो जाय, मेरी संतान हो जाय, मेरा नाम हो जाय इत्यादि।'

तीसरी प्रकार के शरणागत वे व्यक्ति होते हैं, जिन्हे कुछ जिज्ञासा होती है। मनुष्य के मन में विचार उठता है, 'इस सृष्टि को बनाने वाला कौन है? हम इस जगत् में क्यों आये? आत्मा क्या है, परमात्मा क्या है? इत्यादि।' इन प्रश्नों का जब उत्तर नहीं मिलता, तब वे शरणागत हो जाते हैं। आईन्स्टाईन जैसे महा वैज्ञानिक की भी जिज्ञासा बनी रहती है आध्यात्मिक गुत्थियों को सुलझााने में। आइनस्टारइन ने दुनिया की एक बड़ी भारी गुत्थी को तो सुलझा दिया, लेकिन आखिर में यही कहा, 'इससे बाद का मैं कुछ नहीं जानता लेकिन कुछ और है जरूर।'

अब चौथी प्रकार के शरण में आने वाले व्यक्ति ज्ञानी भक्त होते हैं। ज्ञानी भक्त सर्वश्रेष्ठ होता है। ज्ञानी भक्त बह होता है, जिसको यह ज्ञान हो जाता है कि इस जगत् के अंदर कहीं पर शांति नहीं है, सब जगह दुचिता है, दुख है, फरेब है। वह जानता है कि 'नाम' के द्वारा ही इस भव सागर से पार उतरा जा सकता है। नाम का मतलब है भक्ति–पराभक्ति और उस भक्ति का आधार है परमतत्व, जो दिखाई नहीं देता। जो परमतत्व को हर जगह हाजिर–नाजिर समझ कर, लगातार उसी का ध्यान करता है, वह ही इस भवसागर से तर जाता है। भजन का मतलब आन्तरिक शब्द को सुनना है। जो शब्द सुना जाता है, वह सुरत से सुना जाता है। सुरत मालिक का अंश है। इस बात को समझ लेने के बाद कोई दुचिता, कोई संदेह नहीं रहता और आपके सभी काम मौज करती जाती है। आप मस्ती में रहो। महाराज जी कहा करते थे–'चाहे आप समाधि ध्यान लगाओ या न लगाओ, 'राम–राम' का जाप करो या न करो, परंतु अपनी नीयात सदा साफ रखो, जो काम करो उसमें सदा इस बात का ध्यान रखो कि आप मन–वचन और कर्म से किसी को दुख नहीं दे रहे।

जन्म–जन्म में प्राणी कैद में रहने के कारण उसके अंदर रहने के आदी हो गये हैं। यह आदत इतनी पुरानी हो गई है कि वह इस कैद से निकलना ही नहीं चाहते। एक शेर पिंजरे में बहुत अरसे से बंद था। एक दिन अचानक किसी ने उस पिंजरे का दरवाजा खोल दिया। शेर बाहद आया। वह आजाद था, कहीं भी जा सकता था। परंतु पिंजरे में बंद रहने के कारण, उसे बंधन में रहने की आदत पड़ गई थी। बाहर के खुल वातावरण में वह थोड़ी देर घूम–घाम कर वापिस पिंजरे में आ कर बैठ गया, बन्द हो गया, फिर कैदी बन गया।

आप इसको हंसी में या काल्पनिक समझ कर यों ही न नकारो, सोचो आप क्या कर रहे हो, आप को भी तो स्वतंत्र होने का मौका मिला है लेकिन आप स्वतंत्र नहीं होना चाहते और जानबूझ कर पिंजरे में ही बंद रहना चाहते हो। आप दुख से भी इतना प्यार करने लगते हो कि दुख में भी आपको आनन्द आता है। आप इतने कमजोर हो गये हो कि अपने आपे को पहचानने की भी काबिलियत आप में नहीं रही। आप अपने को देखत नहीं, अपने आपको समझते नहीं। खुश रहो, खुशी ही तुम्हारा असली आपा है, दुनिया जाय जहन्नुम में, आप तो बस खुश रहो। परम दयाल जी महाराज कहा करते थे, **'कोई मरे या जिये, सुथरे घोल पताशा पिये।'**

'गहरी नदिया नाव पुरानी' का मतलब है कि हम ने अपने कर्मों से जो नाव बना ली है, बार–बार जन्म लेने से वह इतनी घिस गई है, इतनी पुरानी हो गई है कि हम उसे स्वयं चला ही नहीं सकते। इस अवस्था में, मनुष्य को आखिर क्या करना चाहिये?

केवटिया से मिले रहना।

केवटिया ही तुम्हें गहरी नदी से पार अतार सकता है। वह केवटिया तुम्हारे अंदर भी है और बाहर भी है। आज राम नवमी है और अभी–अभी जो केवट का नाम आया है, तो मुझे उस केवट की याद आ गई, जिसने राम, लक्ष्मण, सीता को नदी के पार कराया था। राम लक्ष्मण, तथा सीता के साथ, जब वन में जा रहे थे, तो केवट ने उन्हें देखा और देखते ही वह पहचान गया कि राम परमतत्व का साक्षात् अवतार हैं। उनको देखते ही केवट का प्यार उमड़ आया और वह परमतत्व के अवतार से लिपट जाना चाहता था। राम को नदी के पार जाना था। परमतत्व के अवतार चाहते तो अपनी सिद्धि–शक्ति से नदी पार कर सकते थे। परंतु परमतत्व का अवतार, जब मनुष्य के चोले में आता है तो वह मनुष्य की तरह ही व्यवहार करता है, मनुष्य की तरह दुखी भी होता है। अतः राम ने नदी को पार करने के लिए नाव का प्रयोग करना चाहा। केवट ने जब देखा कि परमतत्व उसकी नाव में बैठगें तो उसके आनन्द का पारावार ही नहीं रहा। उसने राम के चरण धोने चाहे। राम के निकट जा कर वह हाथ जोड़ कर प्रार्थना करने लगा, "महाराज! मेरे धन्य भाग्य कि आप मेरी नाव में बैठेगें। परंतु मैं डरता हूं आपको नाव में चढ़ाने के लिए। मैंनें सुना है कि आपके पांव लगने से एक पत्थर नारी बन कर आकाश में उड़ गई थी। यदि आपके पांव लगने से कहीं मेरी नाव भी आकाश में उड़ गई, तो मैं बेचारा गरीब आदमी खाऊँगा कहां से, मेरी तो राजी ही चली जायेगी। "भगवन्! मुझे आपके पांव धोने की आज्ञा दीजिये।"

राम मुस्करा दिये। केवट ने बहुत सा पानी लेकर प्रेम से परमतत्व के अवतार के पांव धोये, फिर उन्हें नदी के पार पहुंचा दिया। अब भगवान की इच्छा हुई कि केवट को कुछ इनाम दिया जाये, सीता को भी प्रेरणा हुई। उन्होंने अपने हाथ से अंगूठी उतार कर केवट की ओर बढ़ा दी। राम ने बड़े प्रेम से कहा, "केवट! यह रहा तुम्हारा इनाम।" केवट बड़ी नम्रता से बोला, "महाराज! नाई, नाई से पैसा नहीं लेता, धोबी, धोबी से पैसा नही लेता, एक व्यवसाय के लोग सक–दूसरे से पैसे नहीं लेते। मैं आपसे फीस कैसे लूं? हमारा व्यवसाय भी तो एक ही है।" भगवान बोले, "प्यारे केवट! यह कैसे? हमारा व्यवसाय एक कैसे एक हुआ?" केवट बोला, "महाराज मैं लोगों को नदी से पार उतारता हूं, आप भवसागर से पार उतारते हैं, धन्धा तो एक ही है कि नहीं।"

हां तो मैं कह रहा था कि भवसागर से पार उतरने के लिए केवटिया से, गुरू के चरण से लिपटे रहोगे, तो तर जाओगे सबसे आसान तरीका है कि गुरू के चरणों से लिपटे रहो। सद्गुरू शरीर छोड़ने पर नीचे तो आयेगा नहीं, वह तो ऊपर ही जायेगा। यदि तुम उसके चरणों से लिपटे रहोगे, चिपटे रहोगेए तो तुम भी उसके साथ–साथ ऊपर ही जाओगे। यह है असली बात। सद्गुरू को परमतत्व का साक्षात् अवतार मान कर, उसे सच्चे दिल से प्यार करोगे, तो आपका लोक तथा परलोक दोनों बन जायेंगे। शरणागत हो जाने के बसाद कहीं और भटकने की जरूरत नहीं। दाता दयाल जी ने बहुत ही सुंदर शब्दों में कहा है–

वाद विवाद में राम नहीं, राम न पूछापेखी में,
राम दास ने राम को पाया, सहज ही देखादेखी में।

जहां वाद विवाद हे, वहां संदेह है, जहां संदेह है वहां विश्वास नहीं। सद्गुरू में विश्वास शरणागत की पहली सीढ़ी है। जब आप पहली सीढ़ी में ही भटक गये, तो ऊपर कैसे पहुंचोगे?

शरणागत की सफलता में तनिक मात्र भी संशय नहीं है। उसको दुनियावी सफलताएं तो मिलती ही रहेंगी, परंतु उसके साथ वह भवसागर से भी तर जायेगा। आपको सद्गुरू ने जो शिक्षा दी है, उस पर अमल करते जाओ जो नाम दिया है, उसका जाप निरंतर करते चले जाओ। नाम लेने के बाद, जो नाम नहीं सुमिरता वह अभागा निश्चित रूप से डूबेगा, उसके तरने की कोई आशा नहीं है। जिसका मन एक जगह स्थिर नहीं, उसका बेड़ा पार कैसे होगा? आज महाराज जी के पास आ गये, कल चिन्तपूर्णी चले गये, परसों वैष्णो देवी के दर्शन करने चले गये। इससे जाहिर होता है कि तुम्हारा विश्वास

डगमगाता रहता है, तुम्हारी बंद्धि स्थिर नहीं, तुम पूरी तरह से गुरू की शरण में नहीं आये। अरे भाई! तरन है, तो लगातार सद्गुरू के सत्संगों को सुनते चले जाओ, किसी न किसी दिन जरूर तुम चेत जाओगे। महाराज जी ने सात समुद्र पार से मुझे बुला कर आप लोगों को सत्संग देने के लिए आज्ञा दी। मैं घर–बार, नौकरी तथा बच्चे अमेरिका में छोड़कर यहां चला आया क्यो? केवल परम दयाल जी महाराज की आज्ञा का पालन करने के लिए। महाराज जी का काम कर रहा हूं, मस्ती में रहता हूं। मुझे आप से कुछ लेना नहीं है। न धन की जरूरत है मुझे, मेरी पेंशन आती है अमेरिका से। न मुझे नाम और सम्मान की जरूरत है। महाराज जी की दया से सभी मिल चुका था मुझे बहुत पहले। मैं जो यहां बैठा हूं, गुष कर आज्ञा का पालन करने के लिए। उन्होंने ही मुझे यहां बिठाया है सत्संग का सिलसिला जारी रखने के लिए। आप सत्संग में आओ तो आपकी इच्छा, नहीं आओ तो मेरा क्या जाता है?

बड़े–बड़े लोग तथा मानवता धर्म के कुछ आचार्य कहते हैं कि परम दयाल जी का मेरा चुनाव करना, मुझे अपना उत्तराधिकारी बनाना उचित था, बहुत उत्तम था। परंतु यह सब जबानी जमाखाता ही है। मन में वे ईर्ष्या करते हैं, मेरे से द्वेष रखते हैं। कई लोगों ने यहां तक कह दिया कि हम तो परम दयाल जी महाराज को मानते हैं उनके सत्संग सुन कर हम बहुत जागृत हो चुके हैं, अब हमें मानव दयाल जी के सत्संग सुनने की कोई जरूरत नहीं। अरे भाई! यदि सत्संग की जरूरत नहीं थी, तो परम दयाल जी महाराज मुझे यहां क्यों बिठा गये, मुझे सत्संग देने की आज्ञा क्यों दे गये? जो मानव दयाल को नहीं मानते, वह परम दयाल जी को भी नहीं मानते। मत मानो, मेरी इसमें क्या हानि है। मैं तो जब तक सांस है अपने गुरू का कहना मानता चला जाऊंगा। सारी दुनिया भी यदि मेरी बैरी हो जाय तो भी मैं अपने मिशन से नहीं गिरूंगा। मैं अकेला चलता जाऊंगा।

एक सवाल है कि महाराज जी ने मुझे **'मानव दयाल'** नाम क्यों दिया? हमारे एक सत्संगी हैं श्री हंसराज जी, वह सत्संग दिया करते हैं। उन्होंने एक दिन मुझे एक बात बताई कि मैं (हंसराज जी) मानवता मंदिर आया। परमदयाल जी की तबियत ठीक नहीं थी, वे काफी कमजोर थे। वे बाथरूप जाने के लिए उठे तो उन्हें नारायण दास जी ने तथा गोपाल दास जी ने पकड़ा। लेकिन वह मुझे को देख रहे थे और कहने लगे, "भई हंसराज मैं अभी पूरा मानव नहीं बना। इतना कहकर वे आगे बढ़ गये।" हंसराज जी ने कहा क्योंकि उनका उद्देश्य पूरा नहीं हुआ था, इसलिये उन्होंने अपने शिष्य को मानव दयाल कहा। यह हंसराज जी का विश्वास है।

मेरे प्यारे सत्संगियो! आप मेरे गुरू हो। आप जब मेरे से संबंधित बड़े–बड़े चमत्कारों की घटनाओं के विषय में सुनाते हो, जब आप मुझे परम दयाल जी से अलग नहीं समझते, तो मेरा गुरू में विश्वास और भी बढ़ जाता है। जो सत्संगी यह समझते हैं कि फकीर बाबा कहीं नहीं गये, वह मानव के चोले में हैं, तो मैं आने गुरूदेव को नमस्कार करके कहता हूं, "महाराज जी, मैं' वास्तव में हूं ही नहीं, मैं तो आप ही हूं।"

मैं महाराज जी को परततत्व का साक्षात् अवतार मान कर पूरी तरह से उनकी शरण में था। मेरे सभी काम बनते गये। अब मैं आनंद और मस्ती में रहता हूं। शरणागत का कभी नुमसान नहीं होता, फायदा ही फायद होता है। आप तो शरणागत होकर शब्द का जाप करते रहो।

दाता दयाल ने कहा है–

राधास्वामी ने दया की, लाये नौका शब्द की।
जो चढ़े वह तर गये, चूके जो वे मर गये।।

शब्द का जाप करते चले जाओ, तुम्हारा कल्याण हो जायगा। परंतु 'शब्द' भी अंतिम मंजिल नहीं है, वह तो मंजिल तक पहुंचने का मार्ग है, जरिया हे। नौका अपने आप में मंजिल नहीं, मंजिल तो है नदी के पार जाना। नौका के द्वारा या नौका में बैठ कर हम नदी को पार कर लेते हैं। यहां 'शब्द' का मतलब केवल सुमिरन, ध्यान, भजन वाला शब्द नहीं है यहां 'शब्द' का मतलब है 'शब्द–प्रमाण'।

न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त, ये जो छः दर्शन हैं इनमें तीन प्रमाण माने गये हैं। पहला है प्रत्यक्ष प्रमाण, दूसरा है अनुमान प्रमाण और तीसरा है शब्द प्रमाण। प्रत्यक्ष प्रमाण वह होता है जो आपने आंखों से देखा, उसे सबूत की जरूरत नहीं। यदि किसी

चीज को आंखों से नहीं देखा, तो हम अनुमान प्रमाण का प्रयो करते हैं, अन्दाजा लगाते हैं। अन्दाजा तभी लगाया जाता है या उस चीज का लगाया जाता है, जिसका हम पहले अनुभव कर चुके होते हैं। जब हम कहीं धुआं देखते हैं, तो अन्दाज लगाते हैं कि वहां आग लग रही है। क्योंकि धुआं आग लगने पर ही होता है, यह अनुमान प्रमाण है। तीसरा प्रमाण है 'शब्द प्रमाण'। शब्द दो प्रकार का होता है। एक तो साधारण शब्द या आम लोगों के प्रयोग में आने वाला शब्द। जैसे यदि आपने कभी ताजमहल नहीं देखा, और कोई आपको कहता है कि ताजमहल आगरा में है, वह बहुत ही सुंदर है, पूर्णिमा की रात्री को तो वह बहुत ही सुंदर लगता है, वह संगमरमर का बना हुआ है, उसकी चार मीनारें हैं। आप कहने वाले व्यक्ति के शब्द प्रमाण को मान कर, ताजमहल की तस्वीर अपने दिमाग में बना लोगे। दूसरे प्रकार के शब्द वे हैं, जो सद्गुरू अपने अन्दरूनी अनुभव के आधार पर लोगों को भवसागर से तारने के लिए कहे जाते हैं। इस प्रकार के शब्द का अनुभव करने वाला निश्चित रूप से तर जाता है। दाता दयाल जी महाराज ने कहा है–

शब्द मिले, अनुमान मिले,
अनुमान के साथ प्रमाण मिले।

गुरू के शब्द को भगवान के शब्द मानने वाला निश्चित रूप से ही तरेगा उसके तरने में तनिकमात्र भी संदेह नहीं है। आप ध्यान समाधि लगाओ या न लगाओ, कानों में अंगुलियां डालकर बैठो या न बैठो, गुरू की शरण में आने से तथा उसकी शिक्षा पर चलने से आप तर जाओगे। बाकी सब तो मरे हुए ही हैं, उन्हें बार–बार जन्म लेना पड़ेगा। रामनवमी के इस शुभ अवसर पर मैं एक बार फिर आपको सच्चे दिल से आशीर्वाद देता हूं।

सबको राधास्वामी।

ड़0 राधाकृष्णन का मानववाद

हुजूर मानव दयाल ड़ा0 ईश्वर चन्द्र शर्मा जी महाराज

पांच सितम्बर 1888 को सर्वपल्ली ड़ा0 राधाकृष्णन का जन्म हुआ था। ड़ा0 राधाकृष्णन न केवल विश्व के विख्यात दार्शनिक, एक महान लेखक, दर्शन–शास्त्र के उच्चतम प्राध्यापक, सर्वप्रिय राजनीतिज्ञ थे अपितु सर्वोपरि वह एक ऋषि और अपने समय के सतगुरू थे। उनका सारा जीवन प्रेम और आध्यामिकता से ओत–प्रोत था और वह विश्व के पहिले दार्शनिक हैं, जिन्होंने महान भारत देश का राष्ट्रपति पद सम्भाला। वह न ही केवल मेरे विद्यागुरू के रूप मे, मेरे निकटतम थे, बल्कि वास्तव में उनका मेरा आपस में आध्यात्मिक पिता–पुत्र का सम्बन्ध था। उनके सतगुरू होने का प्रमाण मुझे 1969 में अमेरिका में प्राप्त हुआ था। इसके सम्बन्ध में मैं फिर कभी निवेदन करूंगा। मैं यह लेख उनके जन्मदिन के उपलक्ष्य में इसलिये लिख रहा हूं, क्योंकि उनकी शिक्षा से प्रभावित होकर और परम दयाल जी महाराज से आन्तरिक जीवन्मुक्त अवस्था का व्यावहारिक अनुभव करके, मैंने भारतीय परम्परा को वैदिक काल से लेकर आज तक समझ–बूझ कर, जो आध्यात्मिक मानववाद का नाम दिया है, उसकी पूरी झलक ड़ा0 राधाकृष्णन के जीवन तथा लेखों में दिखाई देती है। इसी कारण मैंने उनके दर्शन को अध्यात्मिक मानववाद का नाम दिया और उन्होंने इसे स्वीकार किया।

ड़ा0 राधाकृष्णन का आध्यात्मिक मानववाद

सर्वपल्ली ड़ा0 राधाकृष्णन का जीवन तथा उनकी कृतियां, भारतीय संस्कृति और दर्शन की यथार्थ अभिव्यक्ति हैं। उन्होंने मानववाद को संदेह और निराशा की नींद से जागृत करने के लिए शंखनाद किया। उनके विचारों की स्पष्टता और व्यापक सिद्धांतों की मौलिक अभिव्यक्ति एक विश्वसंस्कृति की द्योतक है, उसमें कुछ ऐसे गुण हैं, जिनके कारण ड़ा0 राधाकृष्णन को पूर्व तथा पश्चिम में उच्चतम विचारक माना जाता है। उन्होंने पूर्व तथा पश्चिम की संस्कृतियों एवं दर्शन को समीप लाकर एक ऐसा समन्वयात्मक दर्शन पेश किया है, जिसने भारत की महत्ता को बढ़ा दिया है। उनका दर्शन एक राष्ट्र एवं देश का न होकर विश्वव्यापी है। उन्होंने अनेक बार

कहा है कि संस्कृति भौगोलिक सीमा से परे होती है। उनके दर्शन में संकीर्णता तथा रूढ़ीवाद का स्थान है ही नहीं। हमारी पीढ़ी के आगे मुख्य कार्य यह है कि वह विकासशील चेतना को एक आत्मा प्रदान करे।

राधाकृष्णन कहते हैं, "यदि मानववादी विचारधारा को विकसित न किया गया, तो विश्व का सर्वनाश हो जायेगा।" मानववाद यह संकेत करता है कि विज्ञान, दर्शन, कला, साहित्य तथा प्रत्येक ऐसा ज्ञान, जो मनुष्य के तर्कात्मक चिन्तन के द्वारा प्राप्त किया गया है उसे मानव ही के कल्याण की ओर लक्ष्य करना चाहिए।

मानव में आत्मा

मानव में उपस्थित आत्मा, वह केन्द्रस्य सत्ता है, जो कि उसके भौतिक अस्तित्व, जीवन तथा मन के विकास तथा बौद्धिक प्रगति का आधार है। आत्मा की परिभाषा देते हुए ड़ा0 राधाकृष्णन कहते हैं, "आत्मा भौतिक शरीर, अथवा प्राण अथवा मन अथवा संकल्प नहीं है, किन्तु वह एक ऐसा तत्त्व है, जो इन सभी वस्तुओं के अन्दर रहता है और उनका आधार है। वह एक ऐसा व्यापक तत्त्व है, जिसे किसी विशेष सूत्र में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता।"

राधाकृष्णन के अनुसार, मनुष्यमात्र के लिए मानसिक शांति प्राप्त करना उस समय तक संभव नहीं जब तक कि मानव भौतिकता में लिपटा रहता है और आत्मा के रहस्य को जानने की कोशिश नहीं करता। उनके अनुसार जीवन की गहन वस्तुओं का ज्ञान केवल अन्तर में जाने के बाद ही होता है। उसके बगैर आत्मानुभूति हो ही नहीं सकती।

ड़ा0 राधाकृष्णन के अनुसार, आध्यात्मिक जीवन ही उच्चतम जीवन है। आज उस आध्यात्मिक शक्ति में निष्ठा न होने के कारण (जो कि वास्तव में हर मनुष्य के अंदर है) पूरे संसार में धर्म के प्रति निराशा और संदेह का बोल बाला है। करोड़ों व्यक्ति जो न तो धर्म को अपनाने का साहस करते हैं और न ही उसे छोड़ने का, अन्धकार में गोते लगा रहे हैं, भटक रहे हैं। ड़ा0 राधाकृष्णन कहते हैं, "विश्व एक अनिश्चित और सारशून्य उत्कण्ठा के युग से गुजर रहा है। परंतु हमें निराश नहीं होना चाहिए दुख की चरम सीमा सुख की द्योतक है।" इन सब समस्याओं का समाधान आध्यात्मिक मानववाद है। यह मानववाद न ही मानव के विकास का ऐसा आदर्श प्रस्तुत करता है जो उसे नैतिक शिखर पर पहुंचा दे, बल्कि समस्त मानवजाति के समन्वित और एकीकृत विकास को भी सम्भव बना सकता है।

भौतिक प्रगति पश्चिमीय संस्कृति का प्रतीक है और आध्यात्मिक विकास, पूर्व का प्रतीक है। ड़ा0 राधाकृष्णन ने पश्चिमीय और पूर्वीय दृष्टि कोणों के समन्वय पर बल दिया है। वह कहते हैं, "आत्मा का बल हमारे जीवन को वह उद्देश्य प्रदान करेगा, जो किसी प्रकार की घृणा अथवा अस्पष्टता के विरूद्ध है, जो आदर्श तथा यथार्थ तथा दुख और सुख का सामंजस्य करता है।"

आज कोई भी व्यक्ति जीवन से संतुष्ट नहीं। क्यों? क्योंकि लोगों का जीवन का कोई उद्देश्य नहीं रहा। उद्देश्यरहित जीवन में नीरसता,शुष्कता तथा निराशा का साम्राज्य तो होगा ही। ड़ा0 राधाकृ ष्णन के अनुसार मानव को नया जीवन देने के लिए, उसके जीवन से नीरसता को दूर करने के लिए आध्यात्मिक शक्ति का विकास करना बहुत ही जरूरी है। विज्ञान में रूक्षता है, शुष्कता है। उसमें नैतिक प्रेरणा तथा आध्यात्मिक निष्ठा का अभाव है। धर्म का उसमें स्थान ही नहीं। विज्ञान केवल प्रकृति में ही विश्वास करता है और प्रकृ तिवाद की धारणा यह है कि प्रकृति ही एक मात्र सत्ता है, प्रकृति के पीछे, प्रकृति के परे और प्रकृति के अतिरिक्त किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं है।

प्रकृतिवाद न तो ईश्वर के अस्तित्व को मानता है और न ही आत्मा में विश्वास रखता है। वह संकल्प की स्वतंत्रता का भी विरोध करता है और मनुष्य को केवल विचारशील यंत्रमात्र ही समझता है। इस प्रकार का उग्र निराशावाद और निषेधात्मक प्रवृत्ति का परिणाम है और इसी के कारण आज मानव का इतना नैतिक और आध्यात्मिक पतन हुआ है। और पूरे विश्व में दुख तथा निराशा का वातावरण बना हुआ है। पूंजीवाद पर आधारित आसुरी आर्थिक व्यवस्था का, तकनीकी सफलताओं का, भौतिक सुखों की बढ़ती हुई लालसाओं का, विषय–भोग आदि में आसक्ति का तथा राजनैतिक जीवन में, लोभ,

एकतंत्रवाद, विश्व को मानवीय एक से रंग देने की प्रवृत्ति पर आधारित, उस निर्दयता का युग है, जिसने मनुष्य की आत्मा के प्रति घृणा उत्पन्न कर दी है। जिसने विश्व को एक ऐसा स्थान बना दिया है, जहां पर कुछ भी निश्चित नहीं है। जहां पर मनुष्यों ने अपने विश्वास को खो दिया है।

अन्तर्दृष्ट्यात्मक विधि (अन्तर में जाने का तरीका)

ड़ा0 राधाकृष्णन के अनुसार, "मानव के लिए मानसिक शांति प्राप्त करना तब तक संभव नहीं, जब तक कि वह भैतिक उन्नति को ही सब कुछ समझता है तथा आत्मा के रहस्य को जानने की कोशिश नहीं करता। विश्व में तथा घरों में तथा मनुष्य के मन में तभी शांति हो सकती है, जब वह अपने अंदर जाने की विधि को अपनाये। बुद्धि मानवीय ज्ञान का उच्चतम स्तर नहीं है और एकत्व का ज्ञान बुद्धि नहीं बल्कि अन्तर्दृष्ट्यात्मक विधि से ही हो सकता है।" ड़ा0 राधाकृष्णन कहते हैं कि अंदर जाने की विधि कल्पनामात्र नहीं बल्कि एक असलियत है। जीवन की गहन वस्तुओं का ज्ञान अन्तर्मुखी होने, यानी कि अंतर में जाने से ही होता है। केवल अंतर्दृष्टि ही हमें सत् और असत्, सुंदर और असुंदर तथा यथार्थ और अयथार्थ का अपरोक्ष ज्ञान देती है।

मूल्यों (Values) से शून्य मानववाद कदापि मानववाद नहीं कहा जा सकता। साम्यवादी (Communist) मानववाद मूल्यों की संतोषजनक व्याख्या इसलिये नहीं दे सकता,क्योंकि वह मानव के उस आध्यात्मिक अंग की अवहेलना करता है, जिसके ज्ञान के बिना, न तो मानव का और न ही समाज का समन्वित विकास हो सकता है। केवल भैतिक मनुष्य को ही 'सभी वस्तुओं का माप दण्ड' समझना बड़ी भूल है। अध्यात्मिक तत्व मनुष्य की भौतिक प्रगति तथा उसके आध्यात्मिक विकास दोनों का समन्वय कर सकता है।

आध्यात्मिक मानववाद में धर्म, तर्क, श्रद्धा, व्यक्तिगत स्वतंत्रता, सामाजिक कल्याण, अनुशासन, इच्छा, आत्मत्याग तथा आत्मानभूति का समावेश है। ऐसा मानववाद मनुष्य को एक ऐसे संतुलित जीवन बिताने की प्रेरणा देता है, जो समाज तथा व्यक्ति के स्वास्थ्य, सुख, शुचि तथा एकरूपता को उत्पन्न करता है।

राधाकृष्णन ने धर्म को आचारशास्त्र का अनिवार्य अंग माना है और कहा है, "धर्म मूलतया आधारभूत सत्ता का अनुभव करता है। धार्मिक अनुभव में आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में होती है।" विषय–भोग आदि से सम्पन्न अनुभवात्मक जगत् का हमें तिरस्कार नहीं करना, इसे त्यागना नहीं है, परंतु उससे ऊपर उठना है। मोक्ष की धारणा या मोक्ष का आदर्श सामाजिक कल्याण का विरोध नहीं करता। वह तो सामाजिक कल्याण का आधार है।

धर्म और भौतिक प्रगति में अध्यात्मवाद तथा सांसारिक उन्नति में विरोध उसी समय समाप्त हो जाते हैं, जब व्यक्ति यह अनुभव कर लेता है, कि जीवन्मुक्त व्यक्ति विश्व के कल्याण की अवहेलना नहीं करता। महात्माबुद्ध के विषय में कहा जाता है कि जब वह स्वर्ग के द्वार पर पहुंचे, तो उन्होंने अपना मुंह मोड़ लिया और यह प्रण किया कि वह स्वर्ग में उस समय तक नहीं जायेंगे जब तक कि एक भी जीव दुखी है।" इससे ऊँचा मानववाद क्या हो सकता है? अतः यह कहना कि जीवन्मुक्त व्यक्ति विश्व के कल्याण की परवाह नहीं करता गलत है।

ड़ा0 राधाकृष्णन कहते हैं कि मानव में आध्यात्मिक निष्ठा का होना इसलिये जरूरी है, क्योंकि इस निष्ठा के बिना न तो मानव के व्यक्तिव का आध्यात्मिक विकास संभव है और न ही उसकी सांसारिक प्रगति संभव है। विज्ञान का संदेहवाद दृष्टिकोण उस निष्ठा और श्रद्धा का विरोधी है, जो आध्यात्मिक जीवन के लिए अनिवार्य है।

00000

परमसन्त सतगुरू हजूर मानव दयाल
ड़ा0 आई0 सी0 शर्मा जी महाराज

के 66वें जन्म–दिवसोत्सव के शुभावसर पर
स्व0 आचार्य कमलेश्वर राव जी
(संस्थापक–अहेरी केन्द्र, महाराष्ट्र) के उद्गार

मेरे प्यारे सद्गुरू स्वरूप प्रेमी सत्संगी भाईयों और बहनो!
राधास्वामी!

गुरूब्रह्मा, गुरूर्विष्णुः, गुरूर्देवो महेश्वरः।
गुरूः साक्षात् परब्रह्मः, तस्मै श्री गुरूवे नमः।।
मानवधर्मस्य धातारम्, दाता दयालस्य प्रियतमम्।
सन्तधर्मस्य गोप्तारम्, फकीरं वन्दे जगद्गुरूम।।
मानवीय–दया धर्म–गुणोपेतं च पंडितम्।
सम्पूर्ण–प्रेम–स्वरूपम्, ईश्वरचन्द्रमहम् भजे।।

आज हजूर मानव दयाल जी महाराज, जो हजूर परम दयाल जी पं0 फकीर चन्द जी महाराज के आध्यात्मिक उत्तराधिकारी हैं, उनके जन्म–दिवोत्सव पर मैंने उनके कमल–चरणों में स्तुतिगान किया है। सन्त वाणी हैः–

गुरू गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूं पाय।
बलिहारी गुरू आपनो, जिन गोविन्द दियो लखाय।।

शास्त्रों में गुरू की बहुत महिमा गाई गई है और सन्तों ने भी गुरू की अपार महिमा बताते हुए कहा हैः–

तीरथ गये तो एक फल, साधू मिले फल चार।
सतगुरू मिले अनन्त फल, कहें कबीर विचार।।

हजूर मानव दयाल जी महाराज महापड़ित, समर्थ पुरूष सात वर्ष की आयु से ही प्राणायाम साधन अभ्यास करते रहे हैं। गायत्री मंत्र की सिद्धि और भगवान शंकर का इष्ट बचपन से ही आपको सिद्ध हो रहा है। बाद में परम दयाल जी महाराज के सम्पर्क में आकर सुरत–शब्द–योग की साधना में भी पारंगत हुए। मुझे पिछले कई वर्षों से उनके निकट सम्पर्क में रहने का सुअवसर प्राप्त हुआ है। इस दरमयान मैंने यही पाया है कि आप पूर्ण परम सन्त अवस्था में रहते हुए, सम्पूर्ण रूप से साक्षात् परम दयाल स्वरूप हैं।

आप कथनी और करनी से ऊपर उठकर रहनी की अवस्था में रहते हुए भी अपने सद्गुरू की सेवा और हुक्म के पालन में अथक रूप से मानव धर्म के प्रचार के काम में संलग्न रहते हैं। आपकी कार्यक्षमता वर्णनातीत है। अगर स्पष्ट शब्दों में कहूं तो कह सकता हूं कि आपकी कार्यक्षमता परम दयाल जी महाराज से कहीं अधिक है। और यही कारण है कि परम दयाल जी महाराज ने अपने जीवन के अन्तिम समय अमेरिका जाकर स्वयं उनको फरमाया "मानव दयाल शर्मा, मैं यहां अमेरिका वालों को सतसंग देने नहीं आया। मैं तो तुम्हें यहां से भारत ले जाने के लिए आया हूं। मैं तुम्हें यह कहने आया हूं कि सन्तों के मिशन के काम को आगे बढ़ाने और विश्व में फैलाने की विशेष जिम्मेदारी तुम्हारे कन्धों पर है, जिसे तुम्हें पूरा करना है।"

यही कारण है कि हजूर मानव दयाल जी महाराज देश–विदेश में सन्तमत व मानव धर्म की शिक्षा का प्रचार करते हुए, नित नये–नये केन्द्र स्थापित करते जा रहे हैं। सच पूछिये तो सन्त सद्गुरू को भावी सन्त सद्गुरू की तलाश रहती है, और वह ऐसे ही समर्थ पुरूष को पाकर निश्चिन्त और प्रसन्न हो जाता है जो हजूरी मिशन को उससे भी अधिक कुशलता के साथ आगे ले जाता है और विश्व में उसे रोशन करता है। मुझे तो आश्चर्यपूर्ण आनन्द इस बात को देख कर होता है कि जो–जो बातें परम दयाल जी महाराज ने पहिले ही लिखीं या कहीं थीं और उनके शरीर में रहते हुए जो पूरी न हो सकीं, वह सब कुछ आज हजूर मानव दयाल जी महाराज एक–एक करके पूरी करते जा रहे हैं। मैं जो कुछ भी कह रहा हूं, अपने प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर कह रहा हूं। परम दयाल जी महाराज कहा करते थे कि जब दाता दयाल जी महाराज का चोला छूटा तो एक महाप्रकाश का दरिया आकर परम दयाल जी महाराज के अन्दर समा गया। और ठीक वैसे ही जब परम दयाल जी महाराज का चोला छूटा तो एक महान विद्युतधारा आकर हजूर मानव दयाल जी महाराज में समा गई। जैसे परम दयाल जी महाराज का जीवन आप ही अपनी मिसाल था, वैसे ही हजूर मानव दयाल जी महाराज का जीवन भी हजूरी मिशन को

आगे बढ़ाने तथा जगत्–कल्याण का कार्य करने में अपने आप में ही मिशाल है।

कोई बात कहना तो आसान है, लेकिन कर दिखाना बड़ा कठिन होता है। कहने के लिए कोई भी क्यों न आचार्य या गुरू बन जाये लेकिन गुरू बनकर परम दयाल जी महाराज के मिशन को आगे चलाना महाकठिन है। यह हर किसी के बस का काम नहीं है। और यही कारण है कि परम दयाल जी महाराज ने हजूर मानव दयाल जी महाराज को अमेरिका से लाकर अपना आध्यात्मिक उत्तराधिकारी घोषित किया क्योंकि उन्होंने स्वयं अमेरिका जाकर देखा था कि हजूर मानव दयाल जी महाराज जगत्–कल्याण के कार्य को आने प्रेक्टिकल (व्यावहारिक) जीवन के द्वारा बड़ी खूबी के साथ वहां सम्पन्न कर रहे हैं, और इस काम की योग्यता उनमें ही है। परम दयाल जी महाराज ने अपने सतसंगों में बारम्बार यह बात कही कि अमेरिका और विदेशों में मानव दयाल शर्मा जी की जाते पाक के जरिये जबरदस्त काम हो रहा है। तुम लोगों को पता नहीं है। बाद में मालूम होगा।"

हैदराबाद में गुरूपूर्णिमा के अवसर पर बोलने के लिए मेरे गुरूभाई आचार्य श्री श्याम राव जी ने मुझे बुलाया था। लेकिन मेरी आंख का आपरेशन हुआ था और ड़ाक्टर ने मुझे बाहर जाने या बोलने के लिए मना किया था। इस कारण मैंने अपना उपरोक्त भाव–विचार उन्हें लिखकर भेजा था जिसे वहां संगत में पढ़कर सुनाया गया और टेपरिकाड़ भी किया गया। जिन सतसंगियों ने सुना उनमें से कई मुझे देखने के लिए मेरे यहां आये। प्रसाद भी अपने साथ लाये थे। उन्होंने मेरे कथन की यर्थाथता को स्वीकार किया और अपना समर्थन दिया। उस अवसर पर परम दयाल जी महाराज व हजूर मानव दयाल जी महाराज के बारे में उनसे बातें हुईं उनमें से एक बात कहना यहां मैं आवश्यक समझता हूं। संत सद्‌गुरू वक्त हजूर मानव दयाल जी महाराज ने मुझे अपने साहित्य का प्रचार करने का काम सौंपा था। मैं तो हलफिया बयान करता हूं कि मुझे आचार्य बनने की तनिक भी इच्छा नहीं थी। मैं तो उस मालिके कुल से मिलने की खातिर सद्‌गुरू के दरबार में गया था। सद्‌गुरू हजूर मानव दयाल जी महाराज ने मुझे अहेरी में सेंटर बनाने की आज्ञा दी। अहेरी के निवासियों में स्वयं परिवर्तन आया, उनके दिलों में भावना जगी और अनतर्राष्ट्रीय मानवता केन्द्र बन गया। मुझे तनिक भी कष्ट या श्रम नहीं करना पड़ा।

गुरू संग लागा रह रे भाई, तेरी बनत बनत बन जाई।

मेरे प्यारे गुरूभाई श्री नरसय्या जी ने मुझे अहेरी बुलाया। भाई वेंकटेश्वर जी ने अध्यक्ष की जिम्मेदारी सम्भाली और सेंटर बनने में अपना सहयोग देकर बहुत उपकार और सेवाकार्य करते रहे हैं। मालिक उन्हें और उनके परिवारों को सुखी और सम्पन्न रखे।

उनसे मेरी प्राथर्ना है कि अभी मेरे सर्विस से रिटायर होने में कुछ देर है। तब तक आप लोग व श्री गोपाल राव जोशी जी हर रविवार को हजूर परम दयाल जी महाराज और हजूर मानव दयाल जी महाराज के सतसंग देप या पुस्तक से वचन अवश्य सुनाते रहना। सतसंग के बाद सारे सतसंगी भाई कम से कम पन्द्रह मिनट समाधि ध्यान में बैठा करें।

राधास्वामी नाम, जो गावे सोई तरे।
कलि कलेश सब नाश, सुख पावे सब दुख हरे।।

नाम गाने की चीज है, राग है जिसे हर मजहब, हर पंथ, हर राष्ट्र के स्त्री, पुरूष, बूढ़े, बच्चे, जवान गा सकते हैं। इस नाम को जो कोई भी गावेगा, वह तर जायेगा और उसका जीवन सुफल हो जायेगा। जो इस नाम को गाता है, अर्थात् व्यावहारिक जीवन में उतार लेता है, वह संसार सागर में डूबता नहीं, बल्कि तर जाता है। उसे काल–कर्म नहीं व्यापते। वह फूल की खुशबू की तरह इस जगत् में रहता हुआ अपने आधार से मिल जाता है। फिर वह जन्म–मरण के चक्र से मुक्त होकर सदा के लिए पूर्ण आजाद होकर मालिक राधास्वामी दयाल की जात में मिलकर एक हो रहता है।

परम दयाल जी महाराज की तालीम है मानवता। हर मनुष्य आपस में सबसे प्रेमभाव रखे, घरों में शांति रखे, अपने पारिवारिक व सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन करे, समझ–विवेक के साथ जीवन गुजारे, मानसिक व शारीरिक ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ सुमिरन–ध्यान–भजन के साधन से मन को असली नाम की तरफ ले जाये। यही सनातन धर्म है, यही राधास्वामी मत है और यही मानवताधर्म है। राधास्वामी!

गायत्री मन्त्र का छन्दोबद्ध रूपान्तर

परमसन्त हजूर मानव दयाल जी महाराज

(हजूर मानव दयाल जी महाराज का कहना है कि 'राधास्वामी मत' कोई एक अलग धर्म या सम्प्रदाय नहीं है, बल्कि वह सनातन धर्म की ही अन्तिम कड़ी है। अतः गायत्री मन्त्र भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि सन्तमत या राधास्वामी मत)।

हे प्रणव! तू ब्रह्मा, विष्णु ज्योति का आधार है।
तू है शिव ज्योति, जो भवसागर से करती पार है।।
बिन्दु तीनों ज्योतियों का, केन्द्र शब्द आधार है।
अतः काम और मोक्ष दोनों का तू भण्डार है।।
भू है तू, पृथ्वी है तू, तू गणेश की दिव्यता।
तू भुवः है, तू ही मन है और चन्द्रमा की आत्मा।।
स्वः है तू और तू ही सौरमण्डल का प्राणाधार है।
महः में ज्योति है तेरी, सब मण्डलों का सार है।।
जनः ज्योति आकाश गंगाओ से रहती पार है।
तपः शक्ति कोटि ब्रह्माण्डों का सर्वाधार है।।
सत्य स्तर पर तू है, सब कुछ सत्ता और प्राण है।
तेरी इस अनन्ता से, होता सब का त्राण है।।
तू है सब कुछ आदि अन्त, और मध्य भी तू है प्रभो।
तेरी आदि ज्योति सबके, रहती पार है विभो।।
हे प्रभो उन ज्योतियों की ज्योति का संचार कर।
सद्बुद्धि देकर सबको, सब ही को भव से पार कर।।
यह हमारी प्रार्थना है, तेरे चरणों में सदा।
माया मोह से मुक्त कर दे, दे के भक्ति सम्पदा।।

0000

उपनिषदों के समय की वर्णव्यवस्था

हजूर मानव दयाल ड़ा0 ईश्वर चन्द्र शर्मा जी महाराज

उपनिषदों में प्रस्तुत व्यापक दृष्टिकोण स्पष्टरूप से यह संकेत करता है कि उस समय वर्णव्यवस्था में संकीर्णता (तंगदिली) नहीं आई थी और ब्रह्म की खोज में प्रवेश करने की योग्यता सत्यपरायणता थी, न कि जन्मजात जाति। छान्दोग्य उपनिषद् में कई उदाहरण देकर यह प्रमाणित किया गया है कि यथार्थ ब्राह्मणत्व जन्म पर नहीं अपितु सत्य के अनुशीलन पर ही आधारित था। इसी उपनिषद् में लिखा है, जाबाला के पुत्र सत्यकाम ने अपनी माता जाबाला से कहा, "माता मैं ब्रह्मचर्य में दीक्षा लेना चाहता हूं, बताओ तो मैं किस वंश से हूं, मेरे पिता कौन थे?"

इस पर जाबाला ने उत्तर दिया "हे पुत्र! मैं यह नहीं जानती कि तू किस वंश से है। युवावस्था में जब मैं दासी थी, तो मैंने अनेक वंश के घरों में काम किया और तू उस समय मेरे पेट में आ गया। मैं नहीं जानती तेरे पिता कौन हैं और तू किस वंश का है। हां मेरा नाम जाबाला है और तू है सत्यकाम। तुम गुरू से कह सकते हो कि तुम सत्यकाम जाबाला हो।"

सत्यकाम हरिद्रुमत के पुत्र ऋषि गौतम के पास जा कर बोला, "श्रीमान्! मैं आपके आश्रम में प्रविष्ट होना चाहता हूं। गौतम ऋषि ने पूछा, हे मित्र! तुम कौन से वंश से हो? उस पर सत्यकाम ने उत्तर दिया, "श्रीमान् मैं यह नहीं जानता कि मैं किस वंश से हूं। मैंने जब अपनी माता से पूछा कि मैं किस वंश से हूं तो उन्होंने उत्तर दिया, "युवावस्था में जब मैं दासी थी, उस समय मैंने अनेक स्थानों पर काम किया और तू मेरे गर्भ में आ गया। मैं नहीं जानती कि तू किस वंश से है। मेरा नाम जाबाला है और तू सत्यकाम है इसलिए श्रीमान्! मैं सत्यकाम जाबाला हूं।" गौतम ने कहा, "केवल एक सच्चा ब्राह्मण ही ऐसा सच्चा तथा स्पष्ट उत्तर दे सकता है, तुम वास्तव में ही ब्राह्मण हो। जाओ समिधा ले आओ, मैं तुम्हें दीक्षा दूंगा।"

उपनिषद् युग में वंश की अपेक्षा व्यक्ति की योग्यता आध्यात्मिक रूचि को श्रेष्ठ माना जाता था। सनत् कुमार जैसे क्षत्रिय, नारद मुनि जैसे ब्राह्मण को शिक्षा देने के अधिकारी माने जाते थे।

अर्थ, काम, धर्म तथा मोक्ष—चार पुरूषार्थ

हजूर मानव दयाल डा0 ईश्वर चन्द्र शर्मा जी महाराज

वेद व्यक्ति, समाज तथा आत्मा के समन्वित कल्याण का समर्थन करते हैं। मानव तथा विश्व के शरीर विषयक स्वरूप पर बल देते हुए अर्थ, काम, धर्म तथा मोक्ष ऐसे चार पुरूषार्थों की विधि बताई गई है, जिसका सम्बन्ध मन, बुद्धि तथा आत्मा से है। मैं अब इन चार पुरूषार्थों की संक्षिप्त व्याख्या करना चाहूंगा।

अर्थ (धन)

प्रायः सभी लोग इन चार पुरूषार्थों में सबसे पहिला स्थान धर्म को देते हैं परंतु अर्थ का स्थान पहिला है क्योंकि आज की वाणिज्य—सभ्यता में व्यक्ति तथा समाज के लिए अर्थ ही सबसे अधिक आवश्यक माना जाता है। हालांकि पश्चिम ने अर्थ को केवल काम की तृप्ति का ही साधन माना है, परंतु भारत में अर्थ को केवल काम की तृप्ति का ही साधन नहीं माना, अपितु नैतिकता एवं धर्म प्राप्ति के लिए भी समान रूप से आवश्यक माना है, फिर भी आर्थिक अंग का महत्व पूरे विश्व में चरम सीमा तक पहुंच गया है।

अर्थ सांसारिक सुख तथा आध्यात्मिक आनन्द दोनों के लिए ही जरूरी है। ब्रह्मचर्य आश्रम को विद्याध्ययन के लिए जरूरी इसलिए माना गया है, क्योंकि विद्या प्राप्त करने के बाद ही मनुष्य धन प्राप्त कर सकता है। अर्थ के संबंध में संस्कृत के एक श्लोक में कहा गया है—"धन मानव को निम्न सामाजिक स्थिति से, उच्च सामाजिक स्थिति तक पहुंचाता है। मानव धन के माध्यम से, सब कठिनाइयों को पार कर सकता है। घन से श्रेष्ठ कोई बन्धु या साथी नहीं है। अतः धन का संचय करो।" अनेक भारतीय कवियों ने आर्थिक स्थिति को दृढ़ बनाने की प्रेरण देने के लिए धन की प्रशंसा की है। कहा जाता है, "जिस व्यक्ति के पास धन है, वही कुलीन माना जाता है, वही विद्वान है, वही शास्त्र का जानने वाला है, वही सर्वगुणसम्पन्न है, वही वक्ता है, वही सुंदर है। सभी गुण स्वर्ण पर आधारित हैं।"

अर्थ का प्राथमिक उद्देश्य शरीर का विकास करना है। परंतु पौष्टिक अन्न किसको प्राप्त हो सकता है? उसी को ही न, जिसके पास पर्याप्त धन हो। शरीर को स्वस्थ बनाये रखना बहुत ही आवश्यक है, क्योंकि ईश्वर का यथार्थ मन्दिर मानव का शरीर है और व्यक्ति के सामाजिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक व्यक्तित्व का वाहन (सवारी) है। महाकवि कालिदास ने अपनी अमर कृति **'कुमारसम्भव'** में अति सुन्दर शब्दों में कहा है, "शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्" अर्थात् "हर प्रकार के धर्म की साधना में शरीर मुख्य है।"

इसमें संदेह है ही नहीं कि धन अथवा अर्थ बहुत ही आवश्यक पुरूषार्थ है, परंतु इस अर्थ को केवल निमित्त रूप ही मानना चाहिए। जब घन को निमित्त न मान कर उसे स्वलक्ष्य मान लिया जाता है और धन को भोग—विलास में ही प्रयोग किया जाता है, उस समय ही व्यक्ति सुख—दुख तथा पुनर्जन्म के चक्कर में आ जाता है। अतः अर्थ जो कि पुरूषार्थ है, उसकी न तो केवल अवहेलना करनी चाहिए और न ही उसे स्वलक्ष्य मानना चाहिए।

काम अथवा प्रेम

काम का अर्थ अधिकतर लोग भोग—विलास ही समझते हैं। काम अथवा प्रेम का पुरूषार्थ मानसिक तुष्टि है, जिसका संबंध मन से है। हमारे धर्म में काम की मूल प्रवृत्ति की तृप्ति को आवश्यक माना गया है। प्राचीन ऋषियों ने बहुत पहिले ही इस सच्चाई को मान लिया था कि कामतृप्ति के दमन से मानसिक असंतुलन के कारण व्यक्ति के व्यक्तित्व का नाश हो जाता है। यही कारण है कि विवाह के द्वारा कामवृत्ति की तृप्ति को न ही केवल उचित माना गया है, अपितु व्यक्ति और समाज की प्रगति के लिए अनिवार्य भी माना गया है। कहा गया है कि जो व्यक्ति विवाह नहीं करता उसमें मानसिक त्रुटि होती है। मनु ने कहा है, कि जब तक मनुष्य विवाह नहीं करता, वह आधा मनुष्य होता है।

भारतीय दर्शन या धर्म में संसार के बहुत से धर्मों की भांति काम को पाप नहीं माना जाता, बल्कि पवित्र माना जाता है। कोई कारण नहीं कि कामवृत्ति की जो क्रिया एक नये शिशु के जीवन का सृजन करती है, जो कि ईश्वर का प्रतिबिम्ब है, एक पवित्र कर्म नहीं माना जाय। इस दृष्टिकोण को डा0 राधाकृष्णन ने आपनी पुस्तक **'धर्म**

और समाज' में कहा है, "इसके अतिरिक्त जब काम का अर्थ प्रेम है, स्त्री और पुरूष का
परस्पर पवित्र शारीरिक स्थायीभाव है, तो जीवन से सम्बन्धित काम से पुरूषार्थ का मूल्य और भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है।" सामान्यतया भारतीय दर्शन में दाम्पत्य रति का विशेष महत्व है। प्रेम निसंदेह मन की सामग्री है, परंतु यह मन से उत्पन्न होकर बुद्धि और आत्मा से भी संबंधित है। यहां पर प्रेम को समझने के लिए उसकी थोड़ी व्याख्या करना जरूरी है।

यदि मन को एक पात्र मान लिया जाय और प्रेम को उस पात्र में भरा तरल पदार्थ, तो उस पात्र में तीन प्रकार की तरंगें उठ सकती हैं। एक तरंग नीचे से ऊपर की ओर जाती है, दूसरी ऊपर से नीचे की ओर जाती है और तीसरी तरंग ऊपर या नीचे नहीं जाती और तरल एक ही स्तर पर रहता है। जैसे वायु की तरंग ऊपर से नीचे की ओर जाती है, इस प्रकार के प्रेम की अवस्था वात्सल्य कहलाती है। माता–पिता का अपनी सन्तान के प्रति तथा गुरू का अपने शिष्य के प्रति अर्थात् बड़ों का छोटों के प्रति प्रेम वात्सल्य कहलाता है। किन्तु जब वायु की गति नीचे से ऊपर की ओर जाती है, ऐसी अवस्था में प्रेम श्रद्धा का रूप ले लेता है जैसे कि शिशु का मात–पिता के प्रति प्रेम या शिष्य का गुरू के प्रति प्रेम। तीसरी तरंग में जब तरल एक ही स्तर पर रहता है, तो ऐसा प्रेम स्नेह कहलाता है। ऐसा प्रेम बराबर वालों यानि की मित्रों में होता है।

भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार, विवाह केवल भागीदारी नहीं है और न ही वह दो मित्रों के बीच एक समझौता है। वह पति–पत्नी के बीच केवल शारीरिक सम्भोग तक ही सीमित नहीं है। इसके विपरीत विवाह का अर्थ दो आत्माओं का एक ऐसा आत्मिक तथा आध्यात्मिक संबंध है, जो कुछ वर्षों या जीवनभर के लिए ही नहीं, बल्कि जन्म–जन्मान्तरों तक बना रहता है। पति–पत्नी के प्रेम को दाम्पत्य रति कहते हैं, जिसका स्वरूप न ही केवल श्रद्धा है, न ही केवल वात्सल्य है और न ही केवल स्नेह, अपितु तीनों प्रकार के प्रेम का समन्वय है। दोनों का प्रेम कभी तो एक–दूसरे के प्रति वात्सल्य का होता है, कभी श्रद्धा का और कभी स्नेह का। जब पति–पत्नी में से कोई बीमार पड़ जाता है, तो वह एक–दूसरे की परिचर्या बड़े ही प्रेम से करते हैं, बीमारी के समय प्रेम वात्सल्य में ही बदल जाता है और श्रद्धा में भी और वे मित्रों की भांति एक–दूसरे से स्नेह भी करते हैं। मनु कहते हैं कि पति को भी पत्नी का आदर करना चाहिए और वैसी ही श्रद्धा रखनी चाहिए जैसे कि उसकी पत्नी उसके प्रति रखती है। पति–पत्नी का प्रेम दाम्पत्य रति कहलाता है, जिसमें प्रेम, श्रद्धा, विश्वास, निष्ठा, आत्मसमर्पण तथा आत्मानुभूति सम्मलित होते हैं।

विवाहित पति–पत्नी को शिव तथा शक्ति अथवा ईश्वर तथा उसकी रचनात्मक शक्ति के अनन्त जोड़े का प्रतीक माना जाता है। विवाहित जीवन में अनुभव किया गया प्रेम अथवा काम व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद होने के साथ–साथ ईश्वर के प्रति दिव्य प्रेम का भी प्रदर्शन है। यदि यह कथन, "ईश्वर प्रेम है और प्रेम ईश्वर है " सत्य है, तो यह भी सत्य है कि मानव से प्रेम करना ईश्वर से प्रेम करना है। जिसने मानवीय प्रेम का अनुभव नहीं किया, उस मानव से प्रेम नहीं किया, जिसको वह प्रत्यक्ष देखता है अपने स्वार्थ का अपने साथी के लिए त्याग नहीं किया वह अनदेखे ईश्वर को कैसे प्रेम कर सकता है? नहीं, कभी नहीं! वह न तो ईश्वर के दर्शन कर सकता है और न ही मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। इस दृष्टिकोण से काम अथवा प्रेम का पुरूषार्थ मानवीय व्यक्तित्व के मानसिक अंग के लिए तुष्टि का साधन होने के साथ–साथ जीवन के परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति का भी साधन है।

धर्म अथवा नैतिक कर्त्तव्य

यदि अर्थ और काम मुख्यतया शरीर और मन के विकास से सम्बन्धित हैं, तो धर्म अथवा नैतिक कर्त्तव्य व्यक्ति तथा समाज के बौद्धिक विकास से सम्बन्ध रखता है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भारतीय दर्शन में धर्म की धरणा प्राचीनतम है। धर्म न ही केवल वेदों में प्रतिपादित सत्कर्म है, अपितु इसका अर्थ वह शक्ति भी है, जिसमें सत्कर्म का फल निहित है और जिसे अपूर्व कहा गया है।

धर्म अथवा शुभ कर्म न ही केवल वेदों द्वारा निर्दिष्ट किया गया है, अपितु स्मृतिग्रन्थ भी धर्म का विधान करते हैं। धर्म की धारणा

हिन्दू दर्शन में आधारभूत धारणा है, जिसका पालन आज भी करोड़ों हिन्दू करते हैं। डाक्टर राधाकृष्णन कहते हैं, "हिन्दुओं का जीवन वेदों के नियमों द्वारा इस प्रकार प्रभावित है कि मीमांसा के नियम हिन्दू–धर्मशास्त्र की व्याख्या के लिए बहुत महत्व रखते हैं।

मीमांसा दर्शन धर्म को 'कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य' मानता है, परंतु मीमांसा का 'कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य' कांट के निरपेक्ष आदेशवाद की भांति अमूर्त नहीं है। वह प्रेरिकहीन नहीं, क्योंकि वह इस बात को अभिव्यक्त करता है कि यद्यपि नैतिक दृष्टिकोण निरपेक्षरूप से स्वीकार करने योग्य है, तथापि उसका उद्देश्य मानवीय मानव के व्यक्तित्व का समन्वित विकास है तथा अन्ततोग्त्वा मोक्ष की ओर अग्रसर करता है।

मोक्ष

मोक्ष अथवा अपवर्ग को मानवीय व्यक्तित्व का परम लक्ष्य स्वीकार किया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से, मोक्ष की धारणा निश्चित रूप से प्रभाकर तथा कुमारिल द्वारा स्वीकार की गई थी। ये दोनों विचारक मीमांसा के प्रभाकर तथा भट्ट मतों के प्रवर्त्तक थे। कुछ व्याख्याकारों का विश्वास है कि मीमांसा के अनुसार, मोक्ष एक ऐसी निषेधात्मक अवस्था है, जिसका अर्थ है सुख तथा दुख दोनों का लुप्त हो जाना। किन्तु अन्य आलाचकों के अनुसार, मोक्ष निःसंदेह अस्तित्व की ऐसी अवस्था है, जहां पर धर्म तथा अधर्म का अन्त हो जाता है। फिर भी ये दोनों अवस्थाऐं एक बात से सहमत हैं और वह यह है कि दोनों मोक्ष को दुख से पूर्ण निवृत्ति स्वीकार करते हैं। मोक्ष के स्तर पर व्यक्ति सुख–दुख, शीत–उष्ण और सत्–असत् की सापेक्षताओं से ऊपर उठ जाता है। सांसारिक सुख क्षणिक और सापेक्ष होने के कारण, उस समय निरर्थक प्रमाणित हो जाते हैं, जब उसकी तुलना मोक्ष की उस शाश्वत और दुखहीन अवस्था से की जाती है, जिसमें सभी कर्मों का क्षय हो जाता है। जब व्यक्ति यह अनुभूत करता है कि संसार सुख–दुख से मिश्रित है, तब उसका ध्यान मोक्ष की ओर जाता है। धर्म व्यक्ति को वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने का आदेश देता है, जबकि मोक्ष की धारणा उस स्वाभाविक स्वरूप को प्राप्त करने की प्रेरणा देती है, जिसमें सापेक्ष सुख–दुख के अनुभवों का अन्त हो जाता है। ऐसी उच्चतम अवस्था को मनुष्य केवल विज्ञान के द्वारा नहीं अपितु अपने अन्तस् में स्थित उच्चतम सत्ता के ज्ञान के द्वारा ही प्राप्त कर सकता है। सापेक्ष कर्म नहीं, अपितु परम ज्ञान ही व्यक्ति को मोक्ष की ओर अग्रसर कर सकता है।

जिस प्रकार ज्ञान तथा विज्ञान एक दूसरे पर आश्रित तथा एक दूसरे के पूरक हैं, उसी प्रकार आत्मा के स्वरूप का दर्शन तथा जीवन के विविध क्षेत्रों में धर्माचरण एक दूसरे के पूरक हैं। केवल सैद्धान्तिक ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, अपितु, परमसत्ता का वह व्यावहारिक तथा अन्तर्दृष्ट्यात्मक ज्ञान, जो कि धीरे–धीरे "धर्म के लिए धर्म" के अभ्यास द्वारा प्राप्त होता है, मोक्षप्राप्ति का कारण बनता है।

जब किसी भी कर्म को ब्रह्मज्ञान की दृष्टि से किया या अपनाया जाता है, तो वह मोक्ष का साधन बनता है। आत्म–संयम, उदारता तथा दया आदि ऐसे गुण हैं, जो यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति का साधन बनते हैं। ऐसे गुण धर्म, उपासना और समाधि में सहायक होने के साथ–साथ अभ्युदय में भी सहायक होते हैं। नैतिक नियम, जो कि बुद्धि ही की उत्पत्ति है, न ही केवल सांसारिक समृद्धि के लिए उपयोगी हैं, अपितु उस यथार्थ ज्ञान का भी साधन हैं, जो अन्त में मोक्ष में परिवर्तित हो जाता है।

मानव एक ही सत्ता के भौतिक तथा आध्यात्मिक अंगों का एक विचित्र मिश्रण है। बुद्धि के द्वारा ही वह यह ज्ञान प्राप्त कर लेता है कि सामाजिक प्रगति के साधन के रूप के साथ–साथ आत्मानुभूति के साधन के रूप का भी बहुत महत्व है। बुद्धि के द्वारा ही मनुष्य निष्काम कर्मयोग करने तथा मानसिक सन्तुलन को बनाये रखने में सफल होता है। मनुष्य ईश्वर के प्रति पूर्ण आत्म–समर्पण के सिद्धांत को तभी अपना सकता है, जब वह आत्मा तथा ब्रह्म के तादात्म्य का ज्ञान रखता है।

जीव अनेक योनियों में जन्म लेने के पश्चात् धीरे–धीरे मोक्ष की अन्तिम अवस्था को प्राप्त करता है। इसलिए उन कर्मों को निभाना, जो कि विशेष जन्म में उसके हिस्से में आये हैं अच्छी तरह से निभाना मोक्ष का साधन माने गये हैं। जीवन की किसी भी अवस्था में, किसी भी क्षण व्यक्ति को अकर्मण्य नहीं होना चाहिए। यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति,

मोक्ष की अवस्था को निकट लाने में सहायता देती है। कर्म तो सभी को ही करना पड़ता है यहां तक कि संन्यासी के लिए भी निष्क्रियता का विधान कभी नहीं किया गया। यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के बाद भी उसे कर्मों को त्यागना नहीं पड़ता।

धर्म व्यक्ति को वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने का आदेश देता है और मोक्ष की धारणा व्यक्ति को आत्मा के उस स्वाभाविक स्वरूप को प्राप्त करने की प्रेरणा देती है, जिसमें क्षणिक तथा सापेक्ष सुख–दुख के अनुभवों का अन्त हो जाता है।

000000 000000 00000

मानवता धर्म

परम सन्त हुजूर श्री मानव दयाल जी महाराज
(डा0 ईश्वर चन्द्र शर्मा)

मानवता धर्म किसी विशेष सम्प्रदाय, सामाजिक संस्था या किसी महापुरूष द्वारा प्रतिपादित किसी विशेष दर्शन व दृष्टिकोण का काम नहीं है। यह तो मनुष्य की पूर्णता पर आधारित, उस सत्य का नाम है, जिसकी खोज में तथा परमतत्व, विश्व और मानव के परस्पर संबंधों की व्याख्या करने के लिए मनुष्य युगों से प्रयास कर रहा है। प्राचीन ऋषियों ने योग साधना के द्वारा ब्रह्माण्ड, ईश्वर और मनुष्य को ठीक–ठीक समझने की कोशिश की। उन्होंने यह बताया कि मनुष्य अपने असली घर परमधाम से अलग हो गया है, इसलिए वह भटक रहा है किन्तु उसे जाना है वापिस उस परमधाम में ही, जहां से वह आया है।

समय परिवर्तनशील है। समय के साथ–साथ दुनियां की हर चीज बदलती है। समय के साथ–साथ एक ही सत्य की परिभाषाएं बदल गईं और धर्म शब्द को ठीक तरह से न समझ सकने के कारण ही दुनियां में बड़ी–बड़ी गलत फहमियां फैली हुई हैं और दुनिया में कई छोटे और बड़े युद्ध हो चुके हैं और हो रहे हैं। 'धर्म' शब्द संस्कृत भाषा के 'ध्री' धातु से निकला है, जिसका अर्थ है धारण करना या सहारा देना। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि धर्म का अर्थ वह आधार है, जो वस्तुओं को सहारा देता है। तत्व की दृष्टि से धर्म वस्तुओं और जीवों का परमधाम है। देश काल और कारण सभी इसी आधार से निकले हैं, जिसे अलग–अलग धर्मों और दर्शनों ने अलग–अलग नाम दिये हैं।

मानव समाज की वर्तमान दुर्दशा का कारण धर्म स्वयं नहीं है और न ही विभिन्न धर्मों के संस्थापक या प्रवर्त्तक हैं, जैसा कि बहुत से लोग समझते हैं। अधिकतर लोग अपने–अपने धर्म के ग्रन्थ पढ़ते हैं, परन्तु उन्हें सच्चे धर्म का ज्ञान नहीं होता वे ग्रन्थों में बताए गए सार को अपने जीवन में नहीं उतारते और मानवता का मतलब तो बिलकुल ही नहीं समझते।

सच्चे 'मानवता धर्म' को समझने के बाद ही असली धर्म समझ में आता है और सच्चे ईश्वर के रूप की पहचान होती है। मानवता धर्म को अपनाने के बाद मनुष्य झूठे धार्मिक झगड़ों से बच सकता है। जितने भी धर्म, दर्शन और विज्ञान हैं आखिर किस के लिए हैं। मानव के लिए ही तो हैं, जिन्हें मानव ने ही मानव के लिए निर्धारित किए हैं। मनुष्य और पशु में अन्तर यही है कि मनुष्य में विवेक की शक्ति है जो पशु में नहीं है। इस विवेक के कारण ही मनुष्य हर नयी परिस्थिति में उलझी हुई बातों को सुलझाने के लिए वैज्ञानिक सिद्धान्त प्रस्तुत करता है और अपनी आध्यात्मिक जिज्ञासा को तृप्त करने के लिए ईश्वर, परमात्मा, ब्रह्म, अथवा परम तत्व को प्राप्त करने के अनेक उपाय और मार्ग ढूंढ़ निकालता है। यही कारण है कि आज तक मनुष्य के अतिरिक्त किसी प्राणी ने भी विज्ञान, समाज, धर्म तथा राजनीति आदि की स्थापना नहीं की। सभी विज्ञान, सभी सामाजिक और राजनैतिक संस्थाएं मानवीय संस्थाएं हैं और सभी धर्म वास्तव में, मानव धर्म हैं।

असल में, यदि गौर से देखा जाय तो दुनिया के तमाम धर्मों ने मानवता को किसी न किसी रूप में माना है। कोई भी धर्म यह नहीं कहता कि आपस में बैर रखो और दूसरे धर्मों की निन्दा करो। सभी धर्म ईश्वर के एक होने तथा उसके हर जगह हाजिर–नाजिर होने में विश्वास रखते हैं। अलग–अलग धर्मों के चलाने वालों, पैगम्बरों तथा अवतारों की शक्ति के बाहरी रूप को ईश्वर के बराबर नहीं मानना चाहिए। किन्तु प्रायः सभी धर्मों के अनुयाइयों ने धार को ही हमेशा आधार मान लिया और ब्रह्माण्ड को अनन्त ईश्वर मान कर, बड़ी भूल

की। जरा सोचने की बात है क्या सूर्य पृथ्वी पर रहता है? अगर सूर्य स्वयं पृथ्वी पर आ जाय तो क्या हम सब जल नहीं जायेंगे? सूर्य स्वयं पृथ्वी पर नहीं आता, किन्तु उसकी किरणें ही आती हैं। ठीक इसी प्रकार ईश्वर भी पूर्ण रूप से पृथ्वी पर नीचे नहीं आता, वह अपना अंश सन्तों, महात्माओं, पैगम्बरों तथा अवतारों के रूप में पृथ्वी पर जरूरत के मुताबिक भेजता रहता है। जब ईश्वर पूर्ण रूप से पृथ्वी पर नहीं आता, तो हम उसकी पूर्णता को कैसे जान सकते हैं? और यह भी कैसे कहा जा सकता है कि किसी खास धर्म या मत में ही पूरे–पूरे सत्य को जाना जा सकता है। भिन्न–भिन्न धर्मों पर चलने वाले अन्धविश्वासी भक्त अज्ञानता के कारण अपने धर्म को सर्व श्रेष्ठ मान कर, दूसरे धर्मों या मतों की निन्दा करते हैं। मानवता धर्म किसी भी धर्म की निन्दा नहीं करता। और एक सच्चा मानव दूसरे मानव की शरीरिक, मानसिक और भैतिक विभिन्नताओं, के होते हुए भी, उनके पीछे एकत्व को देखता है। उसमें विवेक होता है। 'मानव' को मानव कहा ही इसलिए जाता है कि उसमें विचार करने की शक्ति है। वह सत्–असत् में, शुभ–अशुभ में, उचित अनुचित में विवेक कर सकता है।

कबीर साहब ने मानव की इस विशेषता की व्याख्या करते हुए कहा है–

गुरू पशु, नर पशु, तिरिया पशु, वेद पशु संसार।
मानूष वाको जानिए, जा में विवेक विचार।।

कबीर साहब का यह कथन न ही केवल मनुष्य के उस विशेष लक्षण की ओर इशारा करता है, जिसके कारण वह अपने असली रूप को पहचान कर मालिक से मिल सकता है, अपितु वह अलग–अलग धर्मों की कट्टरता के कारण फैली हुई गलत–फहमियों को भी दूर कर सकता है। यदि मानव अपने अन्दर तथा दूसरों के अन्दर, उस अविनाशी परम तत्व, विशुद्ध आत्मा को न पहचान कर, अपने तथा दूसरों के बाहरी आवरणों को असली समझ कर, अपने आपको किसी विशेष धर्म, मत मतान्तर या सम्प्रदाय का कट्टर सदस्य समझ बैठता है, तो वह फंस जाता है। परंतु यदि वह विवेक या ज्ञान का प्रयोग करके, अपने अन्दर और दूसरे के अन्दर एकात्मकता का अनुभव करता है और अविनाशी 'सुरत' को पहचान लेता है, तो वह सभी द्वन्दों से बच जाता है। वह ऐसा समन्वयात्मक जीवन व्यतीत कर सकता है जिससे उसका लोक और परलोक दोनों बन सकते हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं कि विवेक मानवता का विशेष लक्षण है, परंतु यह विवेक अथवा ज्ञान भी अपने आप में केवल जरिया या साधन है, मंजिल या साध्य नहीं। भिन्न–भिन्न धर्मों के अनुयाइयों ने अपने–अपने धर्म गुरूओं के असली रूप को न पहचान कर, अज्ञान के कारण उनको अलग–अलग ईश्वर मान लिया है। यदि ऐसे व्यक्तियों को मनुष्य के असली रूप का ज्ञान हो जाय, तो वे अपने–अपने गुरूओं की पूजा करने और अलग–अलग मत मतान्तरों में बंट जाने की जगह आने गुरूओं के आदर्श जीवन का अनुसरण करेंगे। असल में, धर्मिक बनने का मतलब है सच्चा मनुष्य बनना। मनुष्य अपने आप में पूर्ण है और उस पूर्णता को प्राप्त करने का पहला कदम है सच्चा मानव बनना। वेद तथा उपनिषद् भी मनुष्य को पूर्ण मानते हैं। उनमें लिखा है कि ब्रह्माण्ड में सबसे ऊँची सत्ता मानव की ही है। इशोपनिषद् के आरम्भ में लिखा है–

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमदुच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

अर्थात् वह परम सत्ता, ईश्वर, ब्रह्म या राधास्वामी आदि अपने आप में पूर्ण है। यह मनुष्य जो उस पूर्ण आधार से पैदा हुआ है अपने आप में पूर्ण है। जब मनुष्य अपने असली रूप को पहचान जाता है, तो उसे परम सत्ता का ज्ञान स्वयं ही हो जाता है।

मनुष्य का सच्चा रूप क्या है? ईश्वर क्या है! और मनुष्य का ईश्वर से क्या सम्बन्ध है? यह कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न हैं। अनेक ऋषियों, विचारकों तथा वैज्ञानिकों ने इन सवालों पर बहुत विचार किया है और आखिर में इस नतीजे पर पहुंचे हैं कि मनुष्य ईश्वर का ही रूप है। वेदों में लिखा है कि जो पिण्ड यानि कि छोटी से छोटी चीज में मौजूद है, वह ब्रह्माण्ड में भी मौजूद है। यहूदियों और ईशा मसीह के धर्म में भी इस बात को माना गया है।

मेरे परम पूज्य गुरू परम दयाल जी महाराज ऐसे सम्प्रदायों का विरोध करते थे जो किसी एक खास व्यक्ति पर केन्द्रित हो। वह मानवमात्र को धर्म के नाम पर टुकड़े–टुकड़े होने से बचाना चाहते थे।

यही कारण है कि उन्होंने अपने आश्रम का नाम किसी खास व्यक्ति या धर्म पर न रख कर "मानवता मंदिर" ही रखा। इस मानवता मन्दिर में किसी प्रकार के रीति–रिवाज, धर्म, जाति, मत या राष्ट्र पर आधारित किसी तरह का पक्षपाती दृष्टिकोण मौजूद नहीं है। सभी धर्मों का साथ–साथ पनपना मानवता को धर्म के नाम पर लडने–झगडने से बचा सकता है।

मनुष्य अपने आप में पूर्ण होने के कारण तथा ईश्वर का अंश होने के कारण स्वभाव से बुरा नहीं, अच्छा है। उसमें उलझने, दुखः, ईर्षा, लोभ, मोह, क्रोध तथा अहंकार आदि अवगुण उसके अज्ञान के कारण ही आ गये हैं। इसलिए मानवता धर्म ही सबसे ऊँचा तथा श्रेष्ठ धर्म है। कोई भी धर्म, चाहे वह कितना भी बड़ा क्यों नहीं माना जाता हो, जो मानवता को नहीं मानता, जो भगवान को इन्सान के अन्दर नहीं देखता, वह धर्म नहीं एक अभिशाप है।

विश्व में, जगत् में विज्ञान की इतनी तरक्की क्यों हुई और धर्म पिछड़ता क्यों चला गया? उसका कारण यह है कि भिन्न–भिन्न देशों के वैज्ञानिक बिना किसी भेद भाव के अपने परीक्षण करते रहते हैं और उनकी तुलना दूसरे वैज्ञानिकों के प्रयोगों से करत रहते हैं। किन्तु धर्म के भिन्न– भिन्न ठेकेदार केवल अपने ही धर्म को सर्वश्रेष्ठ मान कर दूसरे धर्मों की निन्दा करते हैं, उनका मजाक उड़ाते हैं। वे न तो दूसरे धर्मों के विषय में जानना चाहते हैं और न अपने धर्म की तुलना उनसे करना चाहते हैं। अतः विज्ञान हर रोज तरक्की कर रहा है और धर्म पतन की ओर जा रहा है।

धर्म के नाम पर चमत्कारी घटनाओं ने भी मानव जाति पर बहुत अत्याचार किए हैं। यदि सच्चे मानवता धर्म को आज भी अपनाया जाय तो मानव जाति को बंटवारे, धार्मिक युद्धों, धर्म के नाम पर हत्याओं और ईश्वर के नाम पर मनुष्यों को जिन्दा जला देने इत्यादि के रोगों से बचाया जा सकता है। यह बहुत बड़े दुःख की बात है कि आज भी आयरलैण्ड में ईसाई–ईसाईयों के ही शान्ति दूत ईसा मसीह के नाम की दुहाई दे कर खतरनाक हत्याऐं कर रहे हैं और फिर भी वह अपने आपको ईसा मसीह के अनुयायी कहते हैं। मध्य पूर्व में, मुसलमान, ईसाई तथा यहूदी धर्म के नाम पर लगातार युद्ध कर रहे हैं और फिर भी वे अपने आप को धार्मिक कहते हैं। ईरान में, अल्लाह के नाम पर हजारों व्यक्तियों को गोली से उड़ाया जा रहा है और फिर भी ऐसे मुसलमान अपने आप को दयालु मोहम्मद के अनुयायी तथा इस्लाम के ठेकेदार होने का दावा करते हैं। 1947 में भारत में धर्म के नाम पर देश का बंटवारा हो गया और हिन्दु तथा मुसलमान दोनों ने अपने–अपने धर्म की दुहाई दे कर लाखों व्यक्तियों को जिन्दा जला दिया; उन्होंने मासूम बच्चों, असहाय स्त्रियों और बूढ़ों का खून करके अपनी बेरहमी, बेशर्मी तथा जंगलीपन का सबूत दिया। मन की पवित्रता नाम की वस्तु तो संसार से लुप्त ही हो रही है। विश्व में शान्ति ,घरों मे शान्ति, परिवारों में शान्ति, मनुष्य के अन्दर शान्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक लोगों के मन साफ नहीं होंगे।

नैतिकता पर चलने वाले संसारी लोग और रूहानियत में तरक्की की इच्छा रखने वाले सत्संगी लोग, दोनों के लिए मन की पवित्रता का होना बहुत जरूरी है। मन की पवित्रता तथा सच्चाई मानवीय गुण है और मानवता धर्म को अपनाने ही ही समाज, देश और विश्व का कल्याण हो सकता है। कोई भी सन्त, महात्मा या गुरू, जो अपने अनुयायियों की तरक्की चाहता है, उसे चाहिए कि वह पहले खुद मन को साफ रखे और पूरी तरह से मनुष्य बने–पूर्ण मनुष्य। सच्चे मानव ही संसार को बर्बादी से बचा सकते हैं।

मानव शब्द "मनु " तत्व से निकला है, जिसका अर्थ केन्द्र अथवा स्थिर बिन्दु है। "मनु" तत्व के कारण ही मानव, मानव कहलाता है। यहां "मनु" का अर्थ वह मन नहीं है जिसे ऋषि और सन्त त्रिगुणात्मक जगत् या भव कहते हैं। इसका वास्तविक अर्थ इस त्रिगुणात्मक जगत् में शरीर, मन और आत्मा में सत्, चित् ओर आनन्द में उपस्थित और इन तीनों के अनुभव का आधार और कारण, वह सुरत, वह विशुद्ध आत्मा एवं वह मनुतत्व है, जो इन तीनों में रमता हुआ भी, इन तीनों से न्यारा है। इन तीनों में रहने वाला, इन तीनों का अनुभव करने वाला, इन तीनों को समन्वित करने वाला वह मनुतत्व ही, मानव का सार है। इतना ही नहीं, बल्कि सार का सार है, जो इन तीनों में रहते हुए ही मनुष्यत्व को प्राप्त होता है। यदि यह मनु तत्व शरीर, मन और आत्मा के तीन रूपों से अलग हो जाय और अव्यय

अविनाशी,अलख, अगम, अनामी, दयालपुरूष में पुनः विलीन हो जाये तो वह मानवता के स्तर से उठकर, अपने निज स्वरूप में विलीन हो सकता है। वास्तव में परमपुरूष में विलीन हो जाना ही राधास्वामी अवस्था है।

मानव के अतिरिक्त देवता और दानव भी अस्तित्व रखते हैं। देवताओं में चेतनता है, ज्ञान है, किन्तु उनमें भौतिक अभिव्यक्ति न होने के कारण वह ठोस भाव सत् अथवा शरीर नहीं है, जो मानव में है। इसलिए दैवी अवस्था को ईश्वर संस्था एवं आधिदैवत कहा जाता है। इसके विपरीत, दानवों में एवं जड़ जगत् में ठोस भाव है, भौतिकता है सत् की अभिव्यक्ति है किन्तु वह चेतनता नहीं है, जिससे मानवीय विवेक पैदा होता है। इसलिए मालिक की इस अभिव्यक्ति को भौतिक संस्था एवं आधिभौतिक कहा जाता है। जगत् में इस प्रकार आधिदैविक ईश्वर संस्था है, जिसमें सभी देवी–देवता समाविष्ट हो जाते हैं। भौतिक संस्था एवं आधिभौतिक पहलू वह है जिसमें जड़ जगत् ओर दानव आदि सम्मिलित हैं और मानव संस्था एवं आध्यात्मिक वह पक्ष है जो केवल मानव संस्था है। इस दृष्टि से, मानव में आधि–देवत और आधि–भौतिक भाव होते हुए भी अपने आप में विवेक की वह विषेशता है, जो उसके अन्तर में स्थित सद्गुरू, सत्पुरूष, परमतत्व दयाल से उत्पन्न हुआ है और जो उसे इन तीनों संस्थाओं से ऊपर उठाकर चौथे पद पर पहुंचाने में सहायता दे सकता है।

दूसरे शब्दों में,आध्यात्मिकता या रूहानियत जिसका सभी धर्म ढ़िढ़ोरा पीटते हैं और जिसकी शिक्षा देने का गुरूओं ने, पण्डितों ने, मठाधिकारियों ने और सम्प्रदायिक आचार्यों ने ठेका ले रखा है, न तो देवता बनने या देवताओं के पूजने में है और न ही इन गुरूओं, मठाधीशों के डेरों, मन्दिरों और विशाल भवनों की जड़ता को पनपाने में है, बल्कि पूर्णरूप से मानव बनने में है। देवता को भी निजधाम लौटने के लिए मनुष्य बनना पड़ता है और मानवीय गुरू धारण करना पड़ता है। इसलिए मानव की मानवता का आधार मनुतत्व एवं सुरत, उसके शरीर, मन और आत्मा का भी केन्द्र है और उन तीनों की सत्यता का आधारभूत सत्य है। इसी मनुतत्व को एवं सुरत को, वेदों में 'सत्यस्य सत्यं, केन्द्रस्य केन्द्रं' अर्थात् "सत्यों का सत्य ओर केन्द्रों का केन्द्र", यानि कि शरीर, मन, आत्मा रूपी भौतिक, मानसिक और आत्मिक आधारों का आधार माना गया है।

सद्गुरू महर्षि शिवब्रत लाल जी बर्मन जो सन्तमत के व्यास हुए हैं, हर स्थान पर इस तथ्य पर जोर देते हैं कि केवल मानव ही पूर्णता प्राप्त करने एवं परमधाम या चौथे पद पर पहुंचने का अधिकारी है। सुरत का मनुष्य योनी में पेदा होना अभिशाप नहीं, बल्कि उसका परम सौभाग्य है। दाता दयाल जी महाराज ने इसी तथ्य की ओर इशारा करते हुए लिखा हैः–

नरदेही भव सागर तरनी, दया से हाथ में आई।
जो कोई इसका सार न जाने, बिरथा जनम गंवाई।।

नरदेही एवं मानव अथवा आध्यात्मिक संस्था का महत्व पहले ही बताया जा चुका है और वह यह है कि केवल मानव ही इस त्रिगुणात्मक जगत् में, परमतत्व, परमपुरूष, दयालपुरूष की पूर्ण अभिव्यक्ति और उसका साक्षात् स्वरूप है। इस सच्चाई को दूसरे धर्मों ने टेढे–मेढे और परोक्ष रूप में तो स्वीकार किया है, किन्तु उसके सार को नहीं समझा। हिन्दु धर्म, जैन धर्म, बौद्ध धर्म और सिक्ख धर्म सभी सत् सनातन धर्म से उत्पन्न हुए हैं जिसे ऋषियों ने आदि धर्म या आर्ष धर्म कहा है और मध्यकालीन और समकालीन सन्तों ने इसे सन्तमत, गुरूमत, राधास्वामी एवं मानवता धर्म कहा है। यहूदी धर्म, ईसाई धर्म, इस्लाम धर्म और तथाकथित पश्चिमीय धर्म की, जो इस सच्चाई को परोक्षरूप में स्वीकार करते हैं। ये तीनों धर्म मानते है कि सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर ने आदम जिसे अंग्रजी भाषा में ऐडम लिखा जाता है, मौलिक रूप से आदम नहीं, अपितु 'आदिमनु' है। इस सच्चाई को यहां पर इसलिए व्यक्त किया जा रहा है ताकि विश्व के सभी धर्म और उनकी परम्पराएं उसी सत् सनातन धर्म, आर्ष धर्म, सन्तमत एवं मानवता धर्म से उत्पन्न हुई हैं और इसी मानवता धर्म के आधार पर ही मनुष्य पूर्णता के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

मनुष्य एवं मानव इस जगत् में अव्यय आदिकर्त्ता, देवी–देवताओं और आधि भौतिक अभिव्यक्ति की तुलना में सर्वश्रेष्ठ है, इस सच्चाई को बताने के लिए हमें वेद व्यास द्वारा रचित

श्रीमद्भागवद् से उदाहरण देना होगा। एक बार ऋषियों की एक बहुत बड़ी सभा हुई, जिसके अध्यक्ष श्री वेद व्यास ऋषि थे। उस सभा में जगत् और सृष्टि के बारे में विचार विमर्श हुआ, जिसमें यह बताया गया कि परात्पर ब्रह्म के तीन पाद–अव्यय ब्रह्म, अक्षर ब्रह्म और आत्मक्षर ब्रह्म सृष्टि से बाहर हैं और उसका चौथा पाद, विश्वसृट ब्रह्म ही जगत में व्याप्त है। अव्यय ब्रह्म सर्वाधार अनामी निर्पेक्ष है, अक्षर ब्रह्म जगत् से परे, सूक्ष्म कारण रूप अविनाशी एकात्मक तत्व है। आत्मक्षर ब्रह्म पुरूषोत्तम है, जिसमें सृष्टि के उत्पत्ति, विकास और प्रलय के तीनों गुण निहित रूप में हैं और प्रकृति पुरूष से अलग नहीं है। इसी परमपुरूष एवं पुरूषोत्तम की एक धारा ने त्रिगुणात्मक जगत् की साकार रचना की और उस रचना में अव्यय, अक्षर और आत्मक्षर के तत्व आंशिक रूप में जगत् में प्रविष्ट हो गये। यही विश्वसृट जगत् है जिसमें कोटि–कोटि ब्रह्माण्ड हैं, देवी–देवता हैं, पंच महाभूत और सूक्ष्म तत्व भी हैं तथा चित्त, मन, बुद्धि, अहंकार भी हैं। इसी जगत् में पुरूषोत्तम का साक्षात् रूप मानव भी है, जिसका शरीर विश्वसृट है, जिसका मन आत्मक्षर पुरूषोत्तम है, जिसकी आत्मा अक्षर ब्रह्म और जिसकी विशुद्ध आत्मा यानि सुरत परात्पर अव्यय ब्रह्म का अंश है।

इसी सृष्टि की व्याख्या के बाद यह प्रश्न खड़ा किया गया कि जगत् में सर्वश्रेष्ठ वस्तु क्या है? महर्षि व्यास ने सभा से यह प्रश्न पूछा। एक ऋषि ने खड़े होकर यह उत्तर दिया, "मेरे विचार से सर्वाधार परात्पर ब्रह्म ही सर्वश्रेष्ठ वस्तु है।" इस प्रश्न का उत्तर सुनकर सभा में सन्नाटा छा गया, जिसका अभिप्राय यह था कि यह उत्तर सभा को स्वीकार नहीं था। वास्तव में, जैसा कि ऊपर बताया गया है, अव्यय ब्रह्म, अषर ब्रह्म और आत्मअक्षर ब्रह्म के तीन पाद इस जगत से बाहर हैं। जगत् में उनकी आंशिक उपस्थिति अवश्य है। इसी प्रकार दूसरे ऋषियों के वे उत्तर भी जिनमें उन्होंने अक्षर ब्रह्म और आत्मक्षर ब्रह्म को श्रेष्ठतम सत्ता बताया था, उस सभा द्वारा अस्वीकार किये गये। यह उत्तर भी स्वीकार नहीं किया गया कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव, देवी–देवता आदि जगत् में सर्वश्रेष्ठ अस्तित्व रखते हैं क्योंकि ये सभी कल्पान्तर तक परमतत्व में विलीन नहीं हो सकते और न ही वे सद्गुरू धारण करके, परमधाम जा सकते हैं। जब सभी उत्तर अस्वीकार कर दिये गये, तो महर्षि वेदव्यास ने कहा–

"गुह्यतरं इदं ब्रवीमि नहि मानुषात् श्रेष्ठतरहिं किंचित।"

अर्थात् "मैं आपको एक रहस्य, भेद बता रहा हूं, वह यह है कि जगत् में मनुष्य से श्रेष्ठतर कोई भी वस्तु नहीं है।"

वास्तव में यही सत्य वैदिक ऋषियों के अनुभव और उपनिषदों की खोज का भी सार है। मनुष्य अपने आप में पूर्ण है और वह इस अव्यक्त पूर्णता को स्वयं ही व्यक्त कर सकता है। मानव पूर्ण मानव होकर ही परमतत्व में लीन हो सकता है और अपनी परात्पर अवयय अवस्था को प्राप्त कर सकता है। इसी अवस्था को परमधाम, निजधाम, ब्राह्मीस्थिति एवं राधास्वामी अवस्था आदि नामों से पुकारा जाता है। यही कारण है कि सभी धर्म और मालिक को मिलने की सभी विधियां वास्तव में मानवीय हैं और मानवता धर्म ही ऐसा पूर्णात्मक धर्म है, जिसमें सभी धर्म, मत मतान्तर और सम्प्रदाय एक दूसरे से अलग होते हुए भी, समन्वित रूप में समाविष्ट हैं। मानव का स्वरूप इस बात को स्पष्ट कर देता है कि मानवता धर्म ही मानव जाति को खण्ड–खण्डित होने के अभिशाप से बचा सकता है।

मानव की श्रेष्ठता सत् सनातन धर्म में और उसकी अन्तिम कड़ी राधास्वामी मत एवं सन्तमत में निर्पेक्ष रूप से स्वीकार की गई है। यही गुरूमत, जो वैदिक काल से आरम्भ होकर आज तक मानव जाति का मार्ग दर्शन करता चला आ रहा है, परमतत्व के उसी अवतार को श्रेष्ठतम मानता है, जो नर के रूप में, सद्गुरू बनकर जगत् में प्रगट होता है। तुलसी दास जी ने बहुत ही सुंदर ढंग से इस विचार को नीचे दिये गये दोहे में अभिव्यक्त किया है–

बन्दहों गुरूपद कंज कृपा सिन्धु नर रूप हरि।
महामोह तम पुन्ज जासु वचन रविकर निकर।।

अर्थात् "मैं उस गुरू (परमतत्व) के कमल रूपी चरणों को नमस्कार करता हूं, जो नारायण होते हुए भी नर के रूप में कृपा के सागर बनकर प्रगट हुए हैं और जिनकी वाणी से जीवों का महामोह रूपी अंधकार उस घने बादल की भांति नष्ट–भ्रष्ट हो जाता है जिस पर सूर्य रूपी प्रकाश पड़ता है।"

वास्तव में, इस पद्य में मानवता धर्म का रहस्य छुपा हुआ हैं। युग युगान्तर से अवतार होते चले आ रहे हैं। हर युग में जगत् की परिस्थितियों के अनुसार अवतार हुए। मच्छ, कच्छ, वराह, नरसिंह अवतार पूर्ण नहीं थे। वामन अवतार भी पूर्ण मानव का आदर्श नहीं था। परशुराम ब्रह्मचर्य के अवतार होने के कारण और अविवाहित होने के कारण पूर्ण अवतार नहीं कहे जा सकते। यद्यपि परशुराम, राम, कृष्ण और बुद्ध क्रमशः सनातन धर्म के चार आश्रम धर्मों के अनुसार ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास के प्रतीक थे फिर भी इनमें से भगवान कृष्ण को इसलिए पूर्णेश्वर माना गया है, क्योंकि उन्होंने लोक और परलोक दोनों को साधने का उपदेश दिया और बताया कि ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों के समन्वय से स्थितप्रज्ञता प्राप्त की जा सकती है और साधारण मनुष्य जीते जी ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त कर सकता है। भगवद्गीता की मानवता निसंदेह वेदों और उपनिषदों पर आधारित पूरी मानवता है। इसमें बुद्धियोग पूर्णात्मक योग है और वास्तव में यही बुद्धियोग आगे चलकर मध्यकाल में कबीर साहब के प्रगट होने के बाद, सुरत–शब्द–योग के रूप में मानव कल्याण के लिए जनसाधारण को उपलब्ध हुआ। भगवान कृष्ण ने स्वयं भगवद्गीता के चौथे अध्याय में अर्जुन को कहा है कि उन्होंने यह रहस्यमय योग आदि में सूर्य को दिया था। सूर्य ने मनु को दिया, मनु ने इक्ष्वाकु को दिया और आगे चलकर राजऋषियों को यही योग उपलब्ध हुआ। किन्तु बहुत समय गुजर जाने पर यह सहज योग लुप्त हो गया। इसी वार्तालाप में भगवान ने अर्जुन को यह भी कहा कि वही योग अपनी दया के कारण उसे फिर से बतलाया। न ही केवल इतना बल्कि उसी अध्याय में यह भी कहा गया है कि हर युग में मनुष्य की पूर्णता को पनपाने वाले इस रहस्यमय योग को सिखाने के लिए परमतत्व स्वयं अवतार लेता है और लेता रहेगा।

क्योंकि सभी योग मनुष्य को परमतत्व से मिला देते हैं, उसके सीमित व्यक्तित्व को असीम बना देते हैं और उसकी पूर्णता की क्षमता को वास्तविकता में बदल देते हैं, इसलिए उन सबको मानवता योग कहा जा सकता है। इसी दृष्टि से हम न ही केवल हिन्दू धर्म या सनातन धर्म को मानववाद कहते हैं, बल्कि यहूदी धर्म, ईसाई धर्म, और इस्लाम धर्म भी पूर्ण रूप से मानववादी हैं। हर एक धर्म मानव को ईश्वर का बेटा या उससे बिछुडा हुआ अंश मानता है और इस बात का दावा करता है कि वह इस बिछुड़े हुए मनुष्य को अपने पिता से या मालिक से मिला सकता है और उसे इस नश्वर जगत् से अविनाशी धाम पर पहुंचा सकता है। वास्तव में सभी धर्मों के प्रवृत्तक मानव थे, उन्होंने समन्वित जीवन व्यतीत करके अपनी पूर्णता को वास्तविकता में बदल कर, न ही केवल जन साधारण के लिए पूर्णात्मक जीवन का नमूना प्रस्तुत किया, बल्कि इस बात पर भी जोर दिया कि इस पूर्णता के प्राप्त करने का एकमात्र साधन निर्पेक्ष प्रेम है। मालिक ने इस जगत् को केवल प्रेम के अनुभव करने के लिए ही रचा और सभी आत्माएं प्रेम का अनुभव करने के लिए ही अनन्त और अविनाशी धाम से, इस नाशवान जगत् में अपने प्रियतम से बिछुड़ कर ठोस शरीर में प्रेम का अनुभव करने के लिए आयीं। व्यक्ति को अपने प्रेमी से बिछुड़ कर ही उसको मिलने की तड़फ होती है। जब तक वह अपने प्रेमी से पुनः मिल नहीं लेता, तब तक उसे अशान्ति और दुख का अनुभव होता है। मानव की इस तड़फ को देखकर मालिक स्वयं मनुष्य का चोला धारण करके दुखी जीवों को प्रेम के मार्ग पर लगाने के लिए सन्तों का अवतार धारण करके आता है।

प्राचीन काल में ऋषियों ने मानव के सर्वांङ्गीन विकास के लिए सौ वर्षीय जीवन को चार आश्रमों में विभक्त किया था, ताकि वह ब्रह्मचर्य आश्रम में गुरू से प्रेम करे, गृहस्थ आश्रम में परिवार से प्रेम करे, वानप्रस्थ आश्रम में, मानव मात्र से प्रेम करे और सन्यास आश्रम में सर्वाधार परमतत्व परमात्मा से प्रेम करे और अन्त में स्वयं उनमें विलीन होकर परमतत्व ही बन जाये।

यही शिक्षा जो वेदों, उपनिषदों में दी गयी है वही सन्तमत, राधास्वामीमत, एवं मानवता धर्म की शिक्षा है। जीवन को सफल बनाने और पूर्णता प्राप्त करने के लिए सन्तमत ने भी चार दर्जे बताये हैं जो इस प्रकार हैं–

एक जन्म गुरू भक्ति कर, जन्म दूसरे नाम।
जन्म तीसरे मुक्तिपद, चौथे में निजधाम।।

इसका भावार्थ ये है कि कुछ समय के लिए मनुष्य को सत्पुरूष का संग करके उसकी भक्ति और सेवा करनी चाहिए, ताकि सत्पुरूष दया से द्रवित होकर उसे नामदान की दीक्षा दे और उसे भक्ति मार्ग का सहज रास्ता बताये। उसके बाद कुछ समय उस नाम का सुमिरन किया जाये, जो सद्गुरू ने दिया है अर्थात् जो रास्ता उसने बताया है, उस पर लगातार चले और हर जगह पर उसे गुरू ही गुरू दिखाई देने लगे। इस प्रकार नाम को साधने से व्यक्ति को वास्तव में सारा जगत ब्रह्ममय या ईश्वरमय दिखाई देने लगता है। यही ब्रह्म दृष्टि जीवनमुक्ति कहलाती है। जीवनमुक्त व्यक्ति हर वस्तु में और हर घटना में मालिक की झलक देखता है वह अपना आपा खोकर गुरूमुख ही जाता है और इस सच्चाई को अनुभव करता है कि–

जब मैं था तब तू नहीं, जब तू है मैं नाहिं।
प्रेम गली अति सांकरी, वा में दो न समाहि।।

यह तीसरी अवस्था प्रेम की पराकाष्ठा है। इस अवस्था पर पहुंचकर व्यक्ति द्वन्दान्मक जगत् में रहते हुए भी सुख–दुख, लाभ–हानि, जय–पराजय का अनुभव करते हुए भी घबराता नहीं है। किन्तु यह अवस्था भी अन्तिम अवस्था नहीं है। चौथी अवस्था को विदेह मुक्ति कहा जाता है। इसमें पहुंचकर न गुरू रहता है न शिष्य रहता है न भक्त रहता है, न भगवान। भक्त को भक्ति करने की भी आवश्यकता नहीं रहती। किसी प्रकार की साधना की भी जरूरत नहीं रहती और ऐसा विदेहमुक्त शरीर की चेतना से, मन की चेतनता से और आत्मा की चेतना से ऊपर उठ जाता है। दूसरे शब्दों में वह सत चित और आनन्द के अनुभवों से ऊपर उठकर एक ऐसी हालत में पहुंच जाता है, जिसकी व्याख्या नहीं की जा सकती, इस अवस्था में निश्चितता, स्थिरता और अविनाशी भाव का अनुभव होता है। इसमें भक्त भगवान का सुमिरन नहीं करता, बल्कि भगवान स्वयं भक्त का सुमिरन करता है। इसी भाव को नीचे दिए गये पद्य में अभिव्यक्त किया गया है–

माला फेरूं न हर भजूं, मुख से कहूं न राम।
मेरा राम मुझको भजे, तब पाऊँ विश्राम।।

इसका भावार्थ यह है कि जब भक्त हर समय भगवान को याद करते–करते अपने आपको भूल जाता है और जब उसे शरीर, मन और आत्मा का भी आभास नहीं रहता, उस समय वह अपने आराध्य में इतना विलीन हो जाता है, उसमें इतना खो जाता है कि उसे आराध्य का ध्यान भी नहीं रहता। जब वह स्वयं अपने इष्ट में समाविष्ट हो गया, अर्थात् जब उसका इष्ट उसी में समाविष्ट हो गया, दोनों मिलकर एक हो गए, तो वह किसके नाम की माला फेरे, किसका सुमिरन, ध्यान और भजन करे? इसतिए इस उच्चतम अवस्था पर पहुंचकर सभी साधक, सभी सन्त चुप हो जाते हैं। दाता दयाल जी महाराज ने इसी अनुभव की व्याख्या करते हुए कहा है–

बूंद पानी में मिला, दरिया बना क्या जुस्तजू।
जात में जब मिल गया, फिर वह करे क्यों गुफ्तगू।।

यहां पर बातचीत करने का सवाल ही नहीं उठता। जो वास्तव में ब्रह्मलीन ब्रह्ममय हो जाता है, जो सभी उपधियों से मुक्त होकर अपने निज रूप में ठहर जाता है, उसे न बोलने की आवश्यकता हे न और कुछ करने की। इसलिए प्राचीन ऋषियों ने इस अवस्था को अनिर्वचनीय अवस्था कहा है। इसमें कोई शक नहीं कि प्राचीन काल के ऋषियों ने जीवन मुक्ति और विदेह मुक्ति का अनुभव किया और अपने शिष्यों को भी उसका अनुभव कराया, किन्तु इस अन्तिम अवस्था तक पहुंचने के लिए ऋषियों ने हजारों वर्षों तक अभ्यास किया। इस अवस्था तक पहुंचने की अनेक विधियां अपनाई गयी और अनेक प्रकार के योगों का प्रयोग किया गया। राजयोग विशेषकर योगी को इसी अवस्था पर पहुंचाने के लिए प्रतिपादित किया गया था–किन्तु यह योग बहुत ही जटिल और कठिन है। इसमें अनेक नियमों और यमों का पालन करना पड़ता है। आसन प्राणायाम आदि का भी अनुसरण करना पड़ता है।

प्राचीन काल में तो राजयोग का पालन करना सम्भव था, किन्तु कलियुग के अन्दर अनेक कठिनाइयों और समस्याओं के कारण साधारण जीव राजयोग का पालन नहीं कर सकते। इसलिए कलियुग के करोड़ों जीवों को सहज में इसी राधास्वामी अवस्था एवं निजधाम की अवस्था पर पहुंचाने के लिए सर्वाधार परततत्व ने सन्त अवतार

धारण किया और सुरत–शब्द–योग की सहज विधि को जन साधारण तक पहुंचाने की कोशिश की। यह रीति इतनी सरल और सहज है, जिसे हर एक व्यक्ति चाहे वह बालक हो, युवा हो, बृद्ध हो, चाहे वह किसी भी जाति या धर्म से सम्बन्ध क्यों न रखता हो, सहज में योग की उच्चतम अवस्था को पा सकता है। इसमें केवल सद्‌गुरू की देखरेख में अपने ध्यान को बाहर से हटाकर अन्तरमुखी करना होता है।

कबीर साहब से लेकर समकालीन राधास्वामी मत के सन्तों ने उस शब्दयोग को प्रकट किया, उसका अनुभव किया और प्रचार किया जो पिछले युगों में जन साधारण को उपलब्ध नहीं था। इस जगत में पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश पांच तत्वों का प्रसार है और इनमें से आकाश ही सबसे अधिक सूक्ष्म और व्यापक है। पृथ्वी तत्व का गुण गन्ध, जल का गुण रस, वायु का गुण स्पर्श और आकाश का गुण शब्द है। जिस प्रकार आकाश अपने आप में सभी चार तत्वों को गर्भ में लिए हुए है, उसी प्रकार शब्द में भी बाकी चार तत्वों के गुण निहित रहते हैं। आकाश से ही प्रकाश पैदा होता है। शब्द से ही ज्योति पैदा होती है। यही पांच तत्व सूक्ष्म रूप से मानसिक जगत् को निर्मित करते हैं। यदि स्थूल शब्द को अन्तर में, मानसिक जगत् में पकड़ लिया जाए तो मनुष्य की सुरत ब्रह्माण्ड को पार पराब्रह्माण्ड से गुजरती हुई, स्थूल, सूक्ष्म और आत्मिक जगत् के सर्वाधार अलख, अगम, अनामी पुरूष तक पहुंच सकती है। अन्तर में इस शब्द को पकड़ने के लिए सद्‌गुरू शिष्य को ऐसे ध्चानात्मक मन्त्र का नाम देता है, जिसका सुमिरन करते हुए और उसके साथ आंखों को बन्द करके भौवों के बीच तीसरे नेत्र पर ध्यान लागाकर प्रकाश का अनुभव करते हुए साधक अन्तर के अनहद शब्द को सुनता है।

इस शब्द को सुनते–सुनते वह अन्त में उस पराशब्द में विलीन हो जाता है, जिसमें वह शरीर, मन, आत्मा के दर्जों से ऊपर उठ जाता है और अपने अविनाशी तत्व को एवं निजरूप को अनुभूत कर लेता है। सन्तों ने इस शब्द के चार दर्जे बताए हैं जिन्हें 1. बैखड़ी, 2. मध्यमा, 3. पश्यिन्ती और 4. पराशब्द कहा जाता है। बैखड़ी शब्द ठोस होता है उसे शारीरिक कान से सुना जाता है। मध्यमा शब्द सूक्ष्म होता है, उसे केवल अन्तर में मानसिक रूप से अनुभूत किया जाता है। पश्यिंती शब्द का अनुभव प्रकाशमय कारण शरीर आत्मा द्वारा किया जाता है, जिसमें प्रकाश और शब्द दोनों उपस्थित होते हैं। पराशब्द जो प्रकाश और शब्द से परे सूक्ष्मतम तत्व है केवल विशुद्ध आत्मा एवं सुरत के द्वारा अनुभूत किया जाता है। सन्त सद्‌गुरू के मार्गदर्शन में व्यक्ति इस पराशब्द से भी ऊपर उठकर, अपनी उस उच्चमत विशुद्ध निज अवस्था, साक्षी भाव को प्राप्त हो जाता है, जिसके अनुभव से वह स्वयं परमतत्व सर्वाधार और स्वामीपन का वास्तविक अनुभव कर लेता है। वह इस पूर्णता को समाधि की अवस्था में पाने के बाद जागृत अवस्था में भी समता और विदेहमुक्ति की हालत में रहता है। यही पूर्णता ही मानव की पराकाष्ठा है। इसलिए मानवता धर्म मानव को सहज में उच्चतम शिखर पर पहुंचा देता है।

शब्द योग को अपनाने और उसके द्वारा पूर्णता प्राप्त करने के तीन सोपान हैं। 1. सत्संग 2. सद्‌गुरू 3. सतनाम। संतमत की सबसे बड़ी देन सत्संग है जिसे उपनिषद काल में श्रवण कहा जाता था। प्राचीन समय के ऋषि अपने अनुभव के आधार पर श्रवण के द्वारा शिष्यों को सत्संग देकर परमतत्व आत्मा और जगत् के बारे में सच्चा ज्ञान देते थे। संतमत में सत्संग की विशेष महिमा है। जबकि प्राचीन काल में राजयोग, हठयोग, प्राणायाम आदि कठिन विधियों पर चलना पड़ता था, शब्दयोग की सहज शैली में सद्‌गुरू के सत्संगमात्र से, उसके पास बैठने मात्र से और सुनने मात्र से सभी विधियां और सिद्धियां अपने आप ही प्राप्त हो जाती हें। तुलसीदास जी ने इस सत्यता का इस प्रकार वर्णन किया है–

सतसंगत मुदमंगल मूला।
सोई फल सिद्धि सब साधन फूला।।

इसका भावार्थ यह है कि सत्संग एक प्रकार का वृक्ष है। उस वृक्ष की जड़ मुदिता और मंगल है। अर्थात् सद्‌गुरू के सत्संग में आने से मनुष्य को सहज में ही प्रसन्नता मिलती है और उसके घर में सभी मगलकार्य घटित होते हैं। इस सत्संग रूपी वृक्ष का फल यह है कि सत्संगी हर प्रकार की सिद्धि प्राप्त कर लेता है और उसकी सभी

मनोकामनाएं पूरी हो जाती हैं। यहां पर यह बताना आवश्यक है कि ये सिद्धि सत्संगी के अपने विश्वास के कारण होती हैं। यदि वह नम्रता और विश्वास से सद्‌गुरू के सत्संग की ओर ध्यान देता है तो उसको उसकी आवश्यकता के समय गुरू का रूप प्रकट होकर हर प्रकार की सहायता देता है, किन्तु सच्चा सद्‌गुरू सत्संगी को यह रहस्य बता देता है कि इस सिद्धि की प्राप्ति का कारण सदृगुरू की कोई विशेषता नहीं है, बल्कि सत्संगी के अपने मन की प्रबल इच्छा शक्ति है। हां यदि सद्‌गुरू सत्संगी को यह सच्चाई बता देता है और उसको धोखा नहीं देता, तो सद्‌गुरू की सद्‌भावना सत्संगी की इस सिद्धि को शिव संकल्प के कारण और भी बढ़ा देती है।

सत्संग रूपी वृक्ष के फूल हर प्रकार के कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, राजयोग, कुण्डलिनी योग इत्यादि विधियां हैं, जो सहज में ही सत्संगी को उपलब्ध हो जाती हैं। उसे इन योगों की क्रियाओं को करना ही नहीं पड़ता, क्योंकि वह सहज में शब्दयोग के अभ्यास से उस पराकाष्ठा पर पहुंच जाता है जिसकी उपलब्धियों के लिए इन सभी योगो को अपनाया जाता है। यह सत्संग की महिमा है।

शब्दयोग का दूसरा सोपान सद्‌गुरू है। ऊपर बताया गया है कि सत्संग सद्‌गुरू का ही होना चाहिए। उपनिषद् काल में इस सोपान को मनन कहा जाता था। सद्‌गुरू के अनुभव पर आधारित सत्संग सुनने के बाद शिष्य अपनी शंका निवारण के लिए प्रश्न किया करते थे और ऋषि लगातार शंका समाधान करते रहते थे। शब्दयोग में भी सत्संग सें तभी लाभ हो सकता है, जब सत्संगी की सभी शंकाओं को दूर कर दिया जाये। इसलिए शब्द योग में सफलता प्राप्त करने के लिए जीवित सद्‌गुरू का सत्संग सुनना आवश्यक है। यदि मीराबाई पत्थर की मूर्ति को इष्ट मानकर अविनाशी परमतत्व में विलीन हो सकती है, तो क्या सत्संगी जीते जागते सद्‌गुरू को मालिके कुल मानकर और उसके सत्संग में शंका समाधान होने के बाद गुरू की आज्ञा के अनुसार चलकर तीसरे सोपान सतनाम यानि कि शब्द योग में ध्वनात्मक मन्त्र का सुमिरन करते हुए अपने सद्‌गुरू की भांति पूर्णता को प्राप्त क्यों नहीं हो सकता है। जैसे कि ऊपर बताया गया है कि सतनाम या नामदान का मतलब सद्‌गुरू के मार्गदर्शन में शब्द योग का आभ्यास करके अनुभव करना है, जिसे सद्‌गुरू ने सत्संग में बताया हो। उपनिषद् काल में इसी सतनाम के तीसरे सोपान को निद्धिध्यासन कहा जाता था।

इस विवेचन से यह साबित होता है कि परमतत्व के अवतार संतों ने कठिन मार्ग को सरल बना दिया और सहज में ही मनुष्य को मानवता की पराकाष्ठा पर पहुंचाने का प्रयास किया है। इससे न पूजापाठ की आवश्यकता है, न बाहरी धर्म–कर्म की, न किताबी ज्ञान की और न किसी प्रकार की शारीरिक व्यायाम की। यहां केवल शरणगत होने की आवश्यकता है। सत्संग की रीति से सब प्रकार के क्लेश सहज में दूर हो जाते हैं और मनुष्य की पूर्णता प्राप्त करने के रास्ते में रूकावट नहीं डालते।

मानवता धर्म अर्थात् शब्दयोग की इस विशेषता को बताते हुए गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है–

सब ही सुलभ, सब दिन सब देसा।
सेवत सादर समन क्लेशा।।

यह सत्संग, सद्‌गुरू और सतनाम की विधि जो वास्तव में मानवता धर्म की विधि है, हर एक व्यक्ति को समान रूप से उपलब्ध है। इसमें मानव को अधिकारी बनने के लिए विशेष जाति, विशेष धर्म और विशेष सम्प्रदाय से संबंध रखने की आवश्यकता नहीं है। सत्संग रूपी मानवता धर्म की यह रीति और उसका आयोजन हर प्रकार की तिथि,वार या उत्सव आादि की सीमाओं से भी मुक्त है। लोग सत्यनारायण का व्रत पूर्णमासी को रखते हैं और अन्य देवी देवताओं को विशेष समय पर, विशेष स्थान आदि पर पूजते हैं किन्तु सत्संग के लिए किसी ऐसी विशेषता या शर्त की जरूरत नहीं है। सत्संग हर दिन, हर समय और हर स्थान पर हो सकता है। शर्त केवल इतनी है कि इस सत्संग को सुनने वाला व्यक्ति आदर और सत्कार के साथ अपने अहंकार को मिटाकर सद्‌गुरू के चरणों में बैठे। ऐसा करने से उसके सभी क्लेश, राग, द्वेष, अविद्या, अस्मिता और मृत्यु का भय आदि दूर हो जाते हैं।

दाता दयाल जी महाराज ने और परमदयाल जी महाराज ने इस व्यापक शब्द योग एवं राधास्वामी विधि को, जो मनुष्य को

राधास्वामी की पूर्ण अवस्था पर पहुंचा देती है, मानवता धर्म कहा है। यहां पर मानवता शब्द का अर्थ व्यापक है। यदि उसे मानवता के स्थान पर 'पूर्णता' कह दिया जाये, तो इनकी असलियत सहज में समझ आ जायेगी। इसी मानवता का प्रचार करने के लिए ही संतमत के व्यास महर्षि शिवब्रत लाल जी ने सभी धर्मों की व्याख्या करते हुए चार हजार के लगभग पुस्तकें लिखीं। उन्होंने इसी मानवता धर्म को व्यावहारिक रूप में अपने परम शिष्य परमसंत परम दयाल पण्डित फकीरचन्द जी महाराज को पूर्णता का अनुभव कराकर आज्ञा दी कि वह इस सच्चाई का अनुभव करने के बाद अन्ध विश्वास पर आधारित परस्पर विरोधी धर्मों की विभिन्नता को दूर करके जन साधारण तक पहुंचाकर दुखी जीवों को निजधाम पहुंचाने के लिए सत्संग कराया करें।

परमदयाल जी महाराज ने 95 वर्ष की आयु तक इस सच्चाई का अनुभव किया और उन्होंने 70 वर्ष लगातार जन साधारण को सच्चा और सीधा मार्ग दिखाया जिसके फलस्वरूप लाखों व्यक्ति अन्धविश्वास को त्याग कर मानवता धर्म को अपना रहे हैं। इसी दृष्टि से उन्होंने होशियार पुर पंजाब में मानवता मंदिर स्थापित किया और अपने शरीर त्यागने से पहले मुझे आदेश दिया कि मैं इसी सहज सच्चे और सीधे सादे मानवता धर्म का वास्तविक रूप अपने अनुभव के आधार पर सत्संगों, लेखों और पुस्तकों द्वारा प्रस्तुत करूं।

00000

परम सन्त हुजूर मानव दयाल डा0 ईश्वर चन्द्र शर्मा जी महाराज होशियारपुर (पंजाब) का अखिल भारतीय दर्शन परिषद् 1986 ई0 के वार्षिक अधिवेशन पर

गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार में अध्यक्षीय भाषण

ओम पूर्णमदः पूर्णमिदम् पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

मेरी अपनी ही आत्मा के स्वरूप मुख्य अतिथि महोदय, परिषद प्रधान डा0 रामजी सिंह एवं उपस्थित प्रतिनिधि मण्डल!

यह अत्यन्त हर्ष का विषय है कि भारत के समकालीन दार्शनिक विश्वव्यापी समकालीन संकट बेला में हरिद्वार के पावन स्थल पर विचार विमर्ष के लिए एकत्रित हुए हैं। जगत् में कोई भी घटना आकस्मिक या निरूद्देश्य नहीं होती। पिछले दो वर्षों से दर्शन–परिषद का यह अधिवेशन स्थगित होता चला आ रहा है। संभवतया यह विलंब इसी लिए हुआ है कि यह सत्र परिषद् इतिहास में, हरिद्वार में भागीरथी के तट पर आयोजित होने के कारण, भविष्य में एक नई दिशा दिखाने वाला और अत्यन्त प्रेरणदायक अधिवेशन प्रमाणित हो। इस संबंध में यह बात भी विचित्र और उल्लेखनीय है कि इसी वर्ष के 'आल इण्डिया फिलासोफिकल कांग्रेस की हीरक जयन्ती के अवसर पर भी मेरे देशवासी और आदरणीय दार्शनिक विद्वानों ने मुझे ही अध्यक्षता का अवसर दिया। मैं समझता हूं कि यह सब कुछ उस अनन्त, अकाल, परात्पर परमतत्व सर्वाधार पुरूष की अनुकम्पा से हो रहा है और होता रहेगा। प्रत्येक युग में, विशेषकर भारत भूमि पर जब कभी राष्ट्रीय, राजनैतिक, दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक संकट उत्पन्न हुआ है, उस समय उस दैविक, अव्यक्त, परात्पर पुरूष की प्रेरणा से किसी महान् व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह को ऐसी प्रेरणा प्राप्त हुई कि वह इस ऋषि प्रज्ञा के देश को सहज ही संकट से उबार करके पहले से भी अधिक उच्च स्तर पर पहुंचा दे। यही कारण है कि यह विश्व भर में परस्पर भय, आतंक, अविश्वास, और हिंसा का साम्राज्य मानव

मात्र को अभिभूत कर रहा है, और अब अहिंसा, सत्य और मानवता के प्रतीक भारत–भूमि में भी धर्म, जाति और राजनैतिक भेद–भावों के प्रभाव से इस अखण्ड मातृ–भूमि को खण्डित होने का भय दृश्यमान हो रहा है। इस भूमि की आर्ष प्रज्ञा, अखिल भारतीय दर्शन परिषद के रूप में गंगा के पावन तट पर आध्यात्मिक प्रेरणा प्राप्त करने के लिए यह सम्मेलन आयोजित कर रही है।

आज से लगभग छत्तीस वर्ष पूर्व इन्डिया फिलोसोफीकल काग्रेंस के रजत जयन्ती अधिवेशन के पश्चात् उस स्थान की परिस्थितियों, विशेषकर कोरिया युद्ध से प्रभावित होकर मैंने कुछ पंक्तियां लिखी थीं–"कवि से अनुरोध" करते हुए, क्योंकि वैदिक काल से ही इस राष्ट्र की ऋषि–प्रज्ञा ने दार्शनिक अथवा युग दृष्टा को कवि ही माना है।

कवि से अनुरोध

कवि निज अनुपम गीत सुनाओ;
विश्व–शान्ति की ज्योति जलाओ।
अन्धकारमय जगत् हो रहा;
तुम प्रदीप बन पथ दर्शाओ।
मानवता दानवता बन कर;
आज हो रही किधर अग्रसर!
हिंसा अपना प्रचण्ड रूप धर।
ज्वाला–सी जल रही निरन्तर।
तुम निज कविता की वर्षा कर
जलती मानवता को बचाओ।
कवि निज अनुपम गीत सुनाओ।
मानव पर अत्याचार हो रहा;
मानव ही का शिकार हो रहा।
आज नाम पर मानवता के
मानव का संहार हो रहा।
कवि तुम इस मदान्ध मानव को
सच्ची मानवता सिखलाओ।
कवि निज अनुपम गीत सुनाओ।
कब तक यह दुर्दश रहेगी,
कब तक यह संघर्ष रहेगा?
कब तक हिंसा और दानवता,
मानव का आदर्श रहेगा?
कवि तुम निज प्रतिभा के बल पर,,
विकट समस्या को सुलझाओ।
कवि निज अनुपम गीत सुनाओ।
कवि उच्च आदर्शों पर ही
जग का नव निर्माण करो तुम।
अपनी आत्म–शक्ति के द्वारा
मानव का कल्याण करो तुम।
तुम जग के कोने–कोने में
प्रेम और भ्रातृत्व जगाओ।
कवि निज अनुपम गीत सुनाओ।
भेद मिटें सानव–मानव के
ऐसा स्नेह संचार करो तुम।
फिर से राम–राज्य स्थापित हो
ऐसा कुछ उपचार करो तुम
कवि उठो अब दृढ़ प्रतिज्ञ हो
अपना यह कर्त्तव्य निभाओ।
कवि निज अनुपम गीत सुनाओ।

इन्हीं हृदयोद्गारों से प्रेरित होकर तथा समकालीन विश्वव्यापी विषमताओं, संघर्षों और हिंसात्मक गतिविधियों से प्रभावित होकर मैंने भारतीय दर्शन एवं विश्व दर्शन के समकालीन महत्व के संबंध में जो चिंतन किया है वह आपके समक्ष प्रस्तुत है।

समकालीन विश्व संकट– भारतीय दर्शन को चुनौती

परम सन्त हुजूर श्री मानव दयाल जी महाराज
(डा0 ईश्वर चन्द्र शर्मा)

क्या समकालीन विज्ञान, तर्क और तकनीकी युग में दर्शन शास्त्र का कोई स्थान नहीं है। क्या हमारे समय में मानव के स्वरूप, ईश्वर, आत्मा और प्रकृति के संबंध में किसी प्रकार के तत्वात्मक चिंतन की आवश्यकता है? क्या यह सत्य है कि उस अनुभववाद की उपस्थिति में, जो विधेयात्मक और विश्लेषणात्मक अनुसंधान पर बल देता है, धर्म तथा रहस्यवाद का युग समाप्त नहीं हो गया? दर्शन शास्त्र इस दृष्टि से भाषा में प्रयुक्त विश्लेषणात्मक विधि को अपना रहा है कि संभवतया इससे एक नई क्रांति उत्पन्न हो जाएगी। तकनीकी विद्या ने अनेक प्रकार से रोगों से मुक्त किया है। वह आणविक शक्ति वैज्ञानिक अनुसंधान की देन है जो एक छोटे से कल को दबाने मात्र से कुछ ही मिनटों में इस पृथ्वी से जीवन मात्र को नष्ट कर सकती है। क्या दर्शन शास्त्र इन सफलताओं की बराबरी कर सकता है? ये कुछ ऐसे प्रष्न है जो दार्शनिकों के सम्मुख उपस्थित हैं। दार्शनिक स्वभाव से प्रश्न खड़े करता है और फिर उन्हीं प्रश्नों के अनेक प्रकार के उत्तर ढूंढ़ने में जीवन व्यतीत कर देता है।

हाल ही में विशेष कर पश्चिम के दार्शनिकों का ध्यान आधुनिक मानव की व्यावहारिक समस्याओं और परिस्थितियों से हटकर उस भाषा के विष्लेषण में जुड़ गया है जो दार्शनिक प्रश्नों, नैतिक समस्याओं और धार्मिक अनुभवों में प्रयुक्त की जाती है। भारतीय दार्शनिकों समेत पूर्वीय दार्शनिकों ने भी न केवल मुख्यतया पश्चिमी दार्शनिकों का अनुकरण किया है, बल्कि उन्होंने यह भ्रांत धारधा भी प्रस्तुत की है कि जो दर्शन विश्लेषणात्मक नहीं है उसे दर्शन नहीं कहा जा सकता। उसे इतिहास, धर्म और अंधविश्वास आदि नाम इसलिए दिया जा सकता है क्योंकि तत्व विज्ञान कल्पना मात्र है, धर्म रूढ़िवाद है, "झूठ मत बोलो, हिंसा मत करो" आदि नैतिक वाक्य वैज्ञानिक दृष्टि से भावुकतापूर्ण कथन मात्र हैं।

यह सत्य है कि भाषात्मक विश्लेषण ने इतिहास, कला, साहित्य और धार्मिक अनुभवों के क्षेत्र में भी आलोचनात्मक दृष्टि को जन्म दिया है। किन्तु विश्लेणात्मक दृष्टि और आलोचनात्मक मूल्यांकन को दर्शन का सर्वेसर्वा मान लेना तर्क संगत नहीं होगा।

विश्लेषणात्मक दार्शनिकों के इस दृष्टिकोण ने मानव के स्वरूप में संबंध में अनेक भ्रातियां उत्पन्न कर दी है क्योंकि मानव केवल मात्र एक यंत्र नहीं है। इसके विपरीत वह तर्क, भाव, संकल्प और इन तीनों के आधार उस अविनाशी तत्व का समन्वय है जो मानवीय जीवन का विशैष लक्ष्य है। केवल तर्क, भाव, अथवा केवल संकल्प को ही मानव की आत्मा की एक मात्र अभिव्यक्ति मान लेना एक पक्षपाती दृष्टिकोण को प्रश्रय देना है। इसका कारण यह है कि मनुष्य की आत्मा उसके सभी जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्थाओं का मूलाधार है।

दर्शन शास्त्र का संबंध मानव तथा जगत् के स्वरूप और उस परम तत्व को जानना है जो प्रकृति, पुरूष तथा विश्वव्यापी मन का परम आधार है। और ऐसा होना भी चाहिए। इस प्रकार दर्शन का विषय पूर्ण सत्य है। मेरी दृष्टि में पश्चिमीय दर्शन ने आरम्भ से आज तक भौतिक प्रकृति के क्षेत्र में, मानव स्वरूप के संबंध में और परम तत्व के जानने में सदैव पूर्णत्मक दृष्टिाकोण की अवहेलना की है, अपितु मानव के आंतरिक स्वभाव के विकास और उसकी प्रकृति का दमन भी किया है। मैं यह बात निर्भीकता से कह सकता हूं क्योंकि यह सच्चाई मेरे 17 वर्ष के उस अनुभव पर आधारित है जो मैंने अमेरिका के विश्वविद्यालयों में पढ़ा कर प्राप्त किया है। मुझे खेद से यह कहना पड़ रहा है कि अधिकतर भारतीय दार्शनिक और विद्वान, जिन्हें अमरीकी विश्वविद्यालयों में पढ़ाने के लिए नियुक्त किया जाता है, न केवल इस सच्चाई को अभिव्यक्त करने में संकोच करते हैं, अपितु भारतीय दर्शन की विशेषता और उसके सच्चे स्चरूप को पश्चिमीय विश्चविद्यालयों में प्रस्तुत करने का भी साहस नहीं रखते। मानव का यह आंतरिक स्वरूप वह तत्व है जो भौतिक प्रकृति में निहित है और जो आधिभैतिक जगत् से सर्वथा श्रेष्ठ है। प्रकृति और चेतन्य विश्वव्यापी मन के इस अविनाशी आधार को स्वीकार करने और

अनुभूत करने से ही मानव का कल्याण हो सकता है और इसके फलस्वरूप इस पृथ्वी पर आणविक युद्ध की सम्भावना से प्राणीमात्र के सर्वनाश को रोका जा सकता है।

मानव में प्रतिष्ठित इसी अन्तर्तम तत्व को भारतीय दर्शन में आत्मा कहा गया हे। सभी मानवेतर प्राणियों में प्रारंभिक रूप से चेतना, भाव और चेष्टा की क्रियायें उपस्थित होती हैं, किन्तु उसका व्यवहार तर्क शून्य होने के कारण आत्म तत्व अविकसित रह ताता है। यही कारण है कि मानवेतर प्राणियों ने न तो विज्ञान का आविष्कार किया है, न धर्म को अपनाया है, और न किसी दर्शन को प्रतिपादित किया है। सत्य तो यह है कि मनुष्य की तर्कात्मक प्रवृत्ति आत्म तत्व पर आधारित होने के कारण उसको प्रेम और संकल्प का अनुभव प्रदान करती है। और ये दोनों अनुभव विवेक से ही उत्पन्न होते हैं। वास्तव में ये उस आत्मा एवं ज्ञाता की उपज हें जो मनुष्य का अन्तर्तम तत्व है। वह सभी ज्ञान जिसमें एकत्व और व्यवस्था है, सभी भाव जो मानव को घृणा से हटा कर प्रेम की ओर प्ररित करते हैं, और वे सभी कर्म जो उसे शिव संकल्प अभिव्यक्त करने पर प्रेरित करते हैं, मानव के आत्म तत्व की ही अभिव्यक्ति हैं। आत्मा और ज्ञाता की शक्तियां अनन्त हैं और वे दिक्–काल–देश से परे हैं। इस तत्य को ऋषियों, दार्शनिकों और संतों ने भारत में प्राचीन काल से लेकर आज तक अभिव्यक्त और प्रमाणित किया है। विख्यात् पश्चिमीय मनोविश्लेषण के विशेषज्ञ श्री सी0 जी0 युग ने इन्हीं क्षमताओं के समूह को अचेतन कहा है। अचेतन शब्द निषेधात्मक है किन्तु इसका अभिप्रायः यह है कि इस अचेतन मन में चेतन तत्व की वे असीम शक्तिया इस प्रकार मौजूद हैं कि चेतना उस गहराई का एक अंश मात्र है। उपनिषदों में भी 'चित् और अचित्' शब्दों का प्रयोग किया गया है। यहां पर अचित् का अर्थ चित् शून्य नहीं है, अपितु चित्घन है। भवद्गीता में जब योगेश्वर भगवान कृष्ण ने यह कहा है कि –'सद् असद् चाहं अर्जुन', वहां पर यह संकेत दिया जा रहा है कि मानव का अविनाशी साक्षी तत्व शून्य नहीं है, अपितु अनन्त रूप से परिपूर्ण है। हमें निःसंदेह चेतना तत्व की सराहना करनी चाहिए क्योंकि इसके क्रिया कलाप से ही हम ज्ञान, भाव और संकल्प का अनुभव करते हैं। अपितु हमें स्मरण रखना चाहिए कि चेतना तत्व आत्मा की मानसिक अभिव्यक्तियों से अधिक व्यापक है।

सत्य की तर्कसंगत और पूर्ण धारण को स्वीकार किये बिना मनुष्य केवल एक अपूर्ण व्यक्ति ही रह जाता है। वैज्ञानिक कहता है कि प्रयोगशाला का सत्य धर्म के सत्य से विभिन्न है। गिरजाधर का पुजारी इस बात पर बल देता है कि ईश्वर वैज्ञानिक खोज से कोई संबंध नहीं रखता और वैज्ञानिक ज्ञान, धर्म ग्रंथ के ज्ञान से सर्वथा विभिन्न है। यह एक विचित्र बात है कि पश्चिम में साहित्य की द्विमुखी धारणा को स्वीकार करके उसे अध्यात्मिक और लौकिक सत्य के भागों में विभक्त कर दिया है। मानव की ये दोनों धारणाएं एक दूसरे से कोई संबंध ही नहीं रखती। हालांकि विज्ञान की अन्तिम खोज ने इस बात को स्वीकार किया है कि जीवन के विकास में, मानसिक प्रगति में और बौद्धिक उन्नति में विश्व में सर्वत्र एक ऐसी शक्ति काम कर रही है जो समरूप और व्यवस्थित हैं फिर भी बहुत से पश्चिमीय बुद्धिजीवी सत्य की द्विमुखी धारणा से चिपके हुए हैं।

उदाहरण के तौर पर हम सब जानते हैं कि सूर्य अपने सभी ग्रहों के साथ एक ऐसा व्यवस्थात्मक केन्द्र है जिसके चारों ओर पृथ्वी, मंगल, बृहस्पति, शनि आदि ग्रह परिक्रमा कर रहे हैं। हमारे मंडल में यह सबसे बड़ा दृश्यमान मंडल (पेटर्न) है। भौतिक जगत् में द्रव्य का सबसे छोटा नमूना परमाणु है जो हू–ब–हू सौर मंडल का प्रतीक है और सौर मंडल से मिलता–जुलता है। सूर्य और परमाणु दोनों में आकर्षणात्मक केन्द्र होता है और परमाणु में उस केन्द्र के चारों ओर इलेक्ट्रान और प्रोट्रान परिक्रमा करते हैं। परमाणु मंडल में सौर मंडल का सूक्ष्म रूप में उपस्थित होना इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि जगत् में सर्वत्र व्यवस्था और समरूपता से सभी तत्वों को सतरूप और व्यवस्थित ढ़ंग से गतिमान करने वाली शक्ति पूर्णतया चैतन्य और बुद्धि से ओत–प्रोत है।

इसी प्रकार जीव शास्त्र में अनुसंधान ने यह प्रमाणित कर दिया है कि मानवीय शरीर के पृथक–पृथक अंग संपूर्ण शरीर को बनाए रखने का कार्य करते हैं। शरीर के किसी भी भाग में साधारण क्षति पहुंचने पर शरीर प्रत्येक अंग से उसको स्वस्थ करने की प्रक्रिया

आरम्भ कर देता है। हेनरी बर्गसोन ने जीव–विज्ञान के क्षेत्र में अनेक ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये हैं जो इस बात का प्रमाण है कि प्रत्येक जीवित प्राणी के शरीर का प्रत्येक अंग, एक उद्देश्यात्मक व्यवस्था बनाए रखने में सहयोग देता है। इन सब बातों से हम यह स्वीकार करने को बाध्य हो जाते हैं कि जीव– जगत् में एक रचनात्मक चेतन तत्व क्रियाशील और विकासशील है। इन प्राकृतिक घटनाओं पर नियन्त्रण किया जाना इस बात का साक्षी है कि कार्य–कारणता में समरूपता है और रचनात्मक ब्रह्माण्ड में आकस्मिकता नहीं है, अपितु उद्देश्यात्मक चैतन्य ही उसका आधार है।

उच्च कोटि के वैज्ञानिक और विज्ञान के इतिहासकार कहते है कि धर्म अंधविश्वास, रूढ़िवाद और कल्पनात्मक धारणाओं से आरंभ होता है। उनकी यह धारणा है कि धर्म का आरंभ भय से, भूत– प्रेत आदि में विश्वास रखने और प्रकृति में प्राणी भाव को स्वीकार करने और पितरों की पूजा करने आदि से हुआ है। उनका कहना है कि आदिम मानव सूर्य, चद्रं, सर्प और शेरों आदि की पूजा करता था और उसे पृथ्वी के गोलाकार होने और उसकी परिक्रमा आदि के संबंध में ज्ञान नहीं था। वे इस बात को बड़े गौरव से दुहराते हैं कि धार्मिक अन्धविश्वास में जो रूढ़िवाद फैला हुआ था उसे कापरनिकस, ग़ैलिलियो और न्यूटन जैसे पश्चिमीय वैज्ञानिकों ने ही दूर किया। ये पश्चिमीय आलोचक यूनानी दर्शन के पूर्व के समय के सभी प्राचीन धर्मों को भ्रमात्मक और असत्य मानते हैं। उन्हें इस बात का ज्ञान नहीं कि वर्तमान विज्ञान के सिद्धांत वैदिक धर्म में प्रतिपादित सहस्त्रों वर्ष पूर्व के वैज्ञानिक सत्यों से मेल खाते हैं। वैदिक ऋषियों ने इन सत्यों को कम से कम चार हजार वर्ष पूर्व ही प्रतिपादित कर दिया था।सत्य तो यह है कि वैदिक विचारधारा प्राचीनतम होते हुए भी न केवल पृथ्वी की गति और परिक्रमा का उल्लेख करती है, अपितु उसने सौर मंडल, आकाश गंगा और अनेक आकाशगंगाओं की गति के वृत्तों (ओट्सि) का भी उल्लेख किया है।

भारतीय दर्शन में प्रतिपादित मानव की पूर्णत्मक परिभाषा को न जानते हुए, पश्चिम में जो मानव की धारण प्रतिपादित हुई है, वह केवल बाह्यात्मक, एकांगी और पक्षपातपूर्ण है। इसके फलस्वरूप मानव को अधिकतर पश्यिमीय दार्शनिकों ने साध्य न मानकर साधन ही माना है। यह बात धर्म, समाज और राजनीति के क्षेत्रों में मानव अधिकारों के दमन से प्रमाणित होती है।

पश्चिम के एक विख्यात समकालीन दार्शनिक मार्टिन बूबर ने इस बात को स्वीकार किया है कि मानव–स्वरूप को बाहरी सृष्टि से प्रतिपादित करने के फलस्वरूप, उसे केवल भैतिक वस्तु ही माना जा रहा है। उसने इस दृष्टिकोण को "मानव का वस्तुकरण"कहा है जिसके कारण मानव को कर्त्ता–व्यक्ति न मानकर, उसे वस्तुमात्र ही समझा गया है। उसने इस दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए, मानव के व्यवहार में वस्तु जगत् और समाज में दो प्रकार के संबंधों को स्वीकार किया है। उसके विचार में मानव के व्यावहारिक क्षेत्र में केवल दो प्रकार के दृष्टिकोण एवं संबंध होते हैं। प्रथम, हमारे अहं एवं मैं का वस्तु एवं विषय से संबंध, और दूसरा, हमारे अहं एवं मैं का दूसरे व्यक्ति से संबंध जिसे, मैं–तू' का संबंध कहा जाता है। पहले संबंध को हम 'मैं–जड़ वस्तु' (आई–इट) और दूसरे संबंध को हम 'मैं–तू' का संबंध (आई दाउ) का संबंध कहते हैं।

मार्टिन बुबर के अनुसार पहले संबंध में मानव का व्यवहार बाहरी प्राकृतिक जगत् से होता है। इस संबंध में मानव उद्देश्य एवं साध्य है, जैसे भौतिक विषय एवं वस्तुएं मानव के भोगने के लिये समाधान मात्र हैं। यहां पर कर्त्ता एवं अनुभव कर्त्ता मानव भौतिक पदार्थ की अपेक्षा श्रेष्ठ है। भौतिक पदार्थ एवं वस्तुएं सदैव साधन एवं निमित्त ही स्वीकार की जानी चाहिये।

"मैं–तू" के संबंध में मानव मानव का सामना करता है। एक अनुभवकर्त्ता दूसरे अनुभवकर्त्ता के समक्ष होता है। यह संबंध समानता एवं समकक्षता का ही है। मानव को चाहिये कि किसी दूसरे मानव को निमित्त या साधन न मानकर, उसे साध्य और स्वलक्ष्य ही माने। "मैं और वस्तु" के संबंध में मुकाबले में "मैं–तू" के संबंध में आदान–प्रदान होता है, जबकि "मैं–जड़ वस्तु" के संबंध में एक कर्त्ता दूसरे कर्त्ता से एवं व्यक्ति व्यक्ति से सामना करता है, न कि व्यक्ति जड़ वस्तु से। ऐसा प्रतीत होता है कि बूबर ने कांट की भांति यह बताने की चेष्टा की है कि मानव बाह्यात्मक प्रकृति की अपेक्षा अधिक गौरवशाली है,

क्योंकि वह अपना लक्ष्य आप है, एवं स्वलक्ष्य है। संभवतया बूबर ने कांट के सिद्धातों में से निम्नलिखित सिद्धांत की पुनरूक्ति की है—

'आप अपने व्यक्तित्व को, या किसी दूसरे के व्यक्तित्व को कभी भी निमित्त न मान कर स्वलक्ष्य ही मानो।' मानव का यह गौरव एवं सम्मान अथवा प्राचीन काल से भारतीय ऋषि पज्ञा से स्वीकृत मानव की पूर्णता को मानो बूबर और कांट ने फिर से दुहराया है। हमारे कहने का अभिप्रायः यह है कि व्यावहारिक जीवन में मानव को समझने की पश्चिमीय और कुछ पूर्वीय दृष्टियों में त्रुटि यह है कि हम मानव को स्वलक्ष्य न मानकर उसे निर्जीव वस्तु मात्र और साधन ही स्वीकार कर रहे हैं। जहां भी धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक अथवा राजनैतिक क्षेत्रों में मानव का शोषण किया जा रहा है वहां मार्टिन बूबर का यह कहना उचित होगा कि मानव का वस्तुकरण (थिंगीफिकेशन) किया जा रहा है।

समकालीन पश्चिमीय दर्शन की उस भूल को सुधारने की भारतीय दार्शनिक को चुनौती दी जा रही हे, जिसके कारण मानव के द्रष्टा भाव, उसके आन्तरिक सम्मान, उसके चैतन्य कर्त्ता, एवं आत्म भाव की अवहेलना की जा रही है। भारतीय दर्शन, मानव के स्वरूप की व्याख्या के संबंध में मानवता के एक नये युग के आरंभ करने के लिए मार्टिन बूबर के मानवता की धारणा को कहां तक पुष्ट कर सकता है, ताकि सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और धार्मिक क्षेत्रों में मानव के शोषण को समाप्त किया जा सके? यह एक ऐसा अवसर है जिसका उपयोग करके पश्चिमीय दार्शनिकों के द्वारा की गई मानव संबंधी एकांगी धारणा को प्रस्तुत करने की उस भूल को सुधारा जा सकता है, जिससे कि मार्टिन बूबर भी नहीं बचा, क्योंकि उसने मानव के पूर्णात्मक रूप को नहीं समझा। भारतीय दार्शनिक इस सुनहरे अवसर को हाथ से न जाने देकर दार्शनिकों को और मानव जाति को सर्वदा के लिए नष्ट होने से बचा सकते हैं। मैं कोई कल्पनामात्र नहीं प्रस्तुत कर रहा, अपितु एक ऐसे सत्य का अनावरण कर रहा हूं जिसकी पश्चिमीय दार्शनिकों ने सहस्त्रों वर्षों से अवहेलना की है। इस भूल के फलस्वरूप मानवमात्र की आणविक आत्महत्या की संभावना में शान्ति की संभावना का विरोधाभास आज हमारे समक्ष है।

इसमें संदेह नहीं कि मार्टिन बूबर ने मानव के सम्मान को और मानव को स्वलक्ष्य स्वीकार करने की ओर इसलिए इशारा किया है कि सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक विषमताओं को न पनपने दिया जाय और मनुष्य के असली स्वरूप को विकृत न किया जाएं दूसरे शब्दो में उसका यह अभिप्रायः है कि मनुष्य को केवल वस्तु न मान कर, स्वतंत्र व्यक्ति ही माना जाए भौतिक द्रव्य को एक बाह्यात्मक मत्ता मान कर तथा उसे मन से आन्तरात्मिक सत्ता के रूप में पृथक सत्ता मान कर एक ऐसा द्वैतवाद खड़ा कर दिया गया है जिसमें मन को भौतिक सत्ता से अधिक श्रेष्ठ माना गया है। इस दृष्टिकोण के अनुसार, भौतिक द्रव्य अथवा प्रकृति मन का एवं व्यक्ति का साधनमात्र है, जबकि व्यक्ति स्वलक्ष्य है। बूबर का यह कथन ध्यान देने योग्य है कि मानव को वस्तु मान कर, एवं उसका वस्तुकरण करने से, सामाजिक, राजनैतिक और नैतिक जीवन में विकार उत्पन्न हो गए हें। बूबर ने इन विषमताओं का सुझाव यह दिया है कि हमें प्रत्येक मानव को अपने समान व्यक्ति मान कर उसके साथ समानता का व्यवहार करना चाहिए। और वह व्यवहार "मैं और तू" के संबंध को अपनाने से किया जा सकता है। इस व्यवहार में हृदय का हृदय से और व्यक्ति का व्यक्ति से आदान—प्रदान होता है। ऐसा व्यवहार व्यक्ति का वस्तु से आदान—प्रदान के विपरीत होता है। बूबर ने पश्चिमीय दर्शन के ध्यान को भौतिक दृश्य एवं बाह्यात्मक सत्ता पर अधिक बल दने से हटा कर मन, चेतना एवं अन्तरात्मक अनुभवकर्त्ता एवं आत्मा की ओर लगा कर एक सराहनीय प्रयास किया है।

इस बात से सभी परिचित हैं कि पश्चिम ने सत्ता के अन्वेषण में द्वैतवादी दृष्टिकोण को अपना कर मन तथा दृश्य चेतना तथा प्रसार से परे उन दोनों को मिलाने वाले तत्व की ओर ध्यान नहीं दिया। अधिकतर पश्चिमीय दार्शनिकों ने इसी द्वैतवादी शैली को अपनाया है। यद्यपि इस संबंध में प्लोटेनिस, स्पेनोजा हीगल तथा बेडले जैसे दार्शनिक द्वैतवाद को स्वीकार नहीं करते। आधुनिक दर्शन का प्रवर्त्तक दर्शन शास्त्र में स्वतः सिद्ध तर्क वाकयों को सीमित करने की दृष्टि से, गणित शास्त्र की विधि का समर्थक देकार्त अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल न हो सका। वह न केवल मध्यकालीन द्वैतवाद और सत्य के

द्विमुखी सिद्धांत की उलझन से निकलने में, अपितु शरीर और मन के परस्पर संबंध की समस्या को सुलझाने में भी, असफल रहा। ह्यूम के उस संशयवाद के वावजूद, जिसने कांट को अपनी रूढ़िवादी निद्रा से जागृत किया था और जिसके फलस्वरूप अनुभवातीत कांटवादी शैली का प्रचार हुआ, दार्शनिक संघर्षों और प्रत्ययवाद और अनेक प्रकार के भौतिकवादों के उत्पन्न होने से, जिसमें माकर्सवाद भी शामिल है, और दूसरी ओर ह्यूम के संशयवादी दुष्टिकोण के पनपने से आज तक मन और शरीर के संबंध की समस्या पश्चिमीय दर्शन में ज्यों की त्यों उलझी हुई है। आज भी यदि विश्लेषणवादी अनुभवात्मक दृष्टि से जागरूक और तर्कात्मक विधेयवादी पश्चिमीय समकालीन दार्शनिक से यह प्रश्न किया जाए कि 'मन क्या है?' तो वह उत्तर देगा–"नो मैटर" "वास्तकवक नहीं"। यदि उससे यह सवाल किया जाए कि भौतिक द्रव्य कया हे? तो उसका उत्तर होगा (नैवर माइण्ड) "सोचने का विषय नहीं।"

बूबर ने निःसन्देह मन तथा चेतना को उत्कृष्ट बनाया है। और उसे मानव के अनुभवात्मक आत्म तत्व से जोड़ कर द्रव्य से श्रेष्ठ बतलाया है। किन्तु उसका यह मानववाद (यदि मन के जड़ीकरण एवं वस्तुकरण को किसी प्रकार के मानववाद का आधार माना जा सकता है) अधूरा और अपरिपक्व रह जाता है। सत्य तो यह है कि मार्टिन बूबर का चिन्तन उस सत्ता की धारणा तक नहीं पहुंचा, जो मन तथा द्रव्य दोनों से परे है और दोनों का आधार है। यही कारण है कि वह "मैं –वस्तु जगत्" और "मैं–तू" के दो प्रकार के संबंधों से ऊपर नहीं उठ सका। इससे यह स्पष्ट होता है कि वह सत्ता के संबंध में द्वैतवादी दृष्टि से मुक्त नहीं हो सका। दूसरे शब्दों में, बूबर अधिकतर पश्चिमीय दार्शनिकों की इस संबंध में तर्क के कुचक्र से बच नहीं सका, उसने मन और द्रव्य के द्वैतवाद को "मैं और वस्तु जगत् " का नाम दे कर उसकी पुनरूक्ति की है। वह ऊपर से प्रत्ययवादी और यथार्थवादी दिखाई देता है, यद्यपि यह सत्य है कि वह न प्रत्ययवादी है, न यथार्थवादी ।

मान लो कि हम व्यवहारिक जीवन में "मैं–तू" के संबंध को स्वीकार कर लेते हैं, तो प्रश्न यह उठता है कि क्या हम ऐसा करने से मन और द्रव्य एवं मानव और उसके वातावरण के परस्पर विरोध का अंत कर सकते हैं? विज्ञान और तकनीकी शास्त्र बलपूर्वक यह घोषणा कर रहे हैं कि मानव प्रकृति से श्रेष्ठ है। न ही केवल इतना, अपितु वह तथाकथित बाह्यात्मक सत्ता, प्रकृति पर आधिपत्य रखता है। क्या उसकी यह श्रेष्ठता और उसका यह आधिपत्य आणविक शक्ति को अपने अधीन करने के नाते वर्तमान विश्वव्यापी संकट का कारण नहीं बना? मानव आज अपनी ही खोजों और अविष्कारों से आतंकित है। संभव है कि वह प्रकृति को विरोधी सौतेली मां मान कर उस पर विजयी होने की चेष्टा करे और मानव को सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और धार्मिक क्षेत्रों में जड़ वस्तु मान कर ही सर्वनाश कर बैठे।

प्रगतिशील देशों में वातावरण के शुद्धिकरण के समर्थक उद्योग के विकास के क्षेत्र में और शांति अथवा युद्ध के लिए आणविक शक्ति के अविवेकपूर्ण प्रयोग से क्षुब्ध हैं। श्ह अनुमान लगाया जा रहा है कि यदि उद्योगों द्वारा जहरीली गैसें उगलने से जल और वायु का प्रदूषण निरंकुश रूप से होता रहा, और यदि आणविक बिजली घरों और आणविक विस्फोटों पर कोई प्रतिबन्ध न लगाया गया तो यह निश्चित है कि पृथ्वी पर मनुष्य दस–बीस वर्षों में घुट कर मर जाएगा। यदि हम प्रकृति माता के संबंध में उसे मानव के लोभ और उसकी शक्ति की लालसा का माध्यम मान कर "मैं और वस्तु–जगत्" से संबंध पर बल देते रहेंगे तो इसमें संदेह नहीं कि मानव जाति अपनी ही मूर्खता के कारण सदा सर्वदा के लिए नष्ट हो जाएगी।

मार्टिन बूबर के सिद्धांत में यह त्रुटि है कि उसने "मैं–तू" के संबंध में तो मानव–मानव के बीच समानता और आदान–प्रदान को स्वीकार किया है, जबकि प्रकृति और मानव के संबंध में उसने इस समानता और आदान–प्रदान की अवहेलना की है। पश्चिमीय विचारधारा की इस त्रुटि की किस प्रकार पूर्ति की जा सकती है? क्या कोई ऐसा सुझाव है जो मार्टिन बूबर के मानववाद का पूरक बनकर मानव और प्रकृति के बीच उत्पन्न की गई खाई पर सेतु का निर्माण कर सके? इसका उत्तर हां में दिया जा सकता है। बूबर इस बात को भूल गया कि मानव–मानव का विरोधी इसलिये नहीं है कि उसके परस्पर भेदों के बावजूद भी कोई आन्तरिक तत्व मिला रहा है। उसी

प्रकार प्रकृति और मानव के परस्पर विरोध के बावजूद भी मिलाने वाला तत्व "अनेकत्व में एकत्व" का आधार बन सकता है। दूसरे शब्दों में, यदि मानव अनुभवकर्त्ता और भोक्ता होने के नाते, स्वलक्ष्य माना जाकर श्रेष्ठ घोषित किया जा सकता है तो प्रकृति और मानव के संबंध में प्रकृति को उसी प्रकार श्रेष्ठ और स्वलक्ष्य क्यों नहीं माना जा सकता? सत्य तो यह है कि मानव–मानव को एक करने वाला तत्व वही सार तत्व है जो प्रकृति और मानव दोनों का आधार होते हुए अनेकत्व में एकत्व उत्पन्न" करता है। क्या प्रकृति और मानव के बीच कोई ऐसी समानता नहीं जैसी मानव और मानव के बीच में है? मानव मानव के बीच समानता और आदान–प्रदान को मानवीय द्रष्टा भाव एवं अनुभव कर्त्ता भाव पर आधारित किया जाता है और उसे कर्त्ता–भोक्ता आदि ऐसा प्राणी माना जाता है, जो अपने जैसे दूसरे मानवों से आदान–प्रदान कर सकता है, और उनके प्रति "हां या ना" का दृष्टिकोण अपना सकता है। क्या प्रकृति और मानव के बीच तथा भौतिक प्रकृति और मानवीय प्रकृति के बीच कोई ऐसा आदान–प्रदान नहीं है? यह बात ध्यान देने योग्य है कि समकालीन प्रकृतिवाद एवं भौतिकवाद, मन एवं चेतना के अस्तित्व मात्र को भी स्वीकार नहीं करता, और उसे एक ऐसी क्षण–भंगुर अभिव्यक्ति का स्तर प्रदान करता है जो जड़ और अचेतन द्रव्य का आभास मात्र है।

पश्चिम में 19वीं शताब्दी में जिस भौतिकवाद का प्रभुत्व था, उसका सर्वाधिक कुतर्क मूर्खतापूर्ण जो निष्कर्ष निकाला गया, यहां उसका उल्लेख करना वांछनीय है। इस दृष्टिकोण के अनुसार "प्रकृति के अतिरिक्त उसके पीछे सिवा प्रकृति के और कुछ भी नहीं है।" इसका अभिप्राय यह है कि चेतना और बुद्धि आकस्मिक अभिव्यतियां होने के कारण पुनः ब्रह्माण्डी जड़ चक्की में पिस जायेंगे और सदा–सर्वदा के लिए समाप्त हो जायेंगे। यह कहना कि प्रकृति एकमात्र अन्तिम आधारभूत सत्ता है, आपत्तिजनक नहीं है। किन्तु इस दृष्टिकोण का निहित अर्थ यह है कि तथाकथित भौतिक द्रव्य एकमात्र, जड़ प्राणहीन सत्ता ही वास्तविकता है, और चेतना तथा उसके सभी प्रकार मानव की कल्पना मात्र है स्वीकार नहीं किया जा सकता।

मन और चेतना का इस प्रकार भौतकीकरण ही पश्चिमीय आत्मा एवं ज्ञाता की धारणा को एकांगी बना देता है और जल–अव्यवस्थित भौतिक द्रव्य को परम सत्ता मान लेता है। प्रश्न यह उठता है कि पश्चिमीय दर्शन ने यह दिशा क्यों अपना ली? ऐसा लगता है कि वस्तु की अचेतन द्रव्य की एवं अचेतन गति की व्यापकता की एसी धारणा जिसमें मन को "यन्त्र में स्थित प्रेत" की उपस्थिति स्वीकार किये बिना, एवं मन को कर्त्ता, द्रष्टा, ज्ञाता स्वीकार किये बिना तर्कसंगत दृष्टि से काफी सीमा तक स्वीकार किया जा सकता है। आप ऐसी कल्पना कर सकते हैं कि देश और भौतिक द्रव्य एक वस्तु के रूप में लोक–लोकान्तरों के परे कहीं न कहीं मौजूद हो सकता है जहां पर कोई मन, द्रष्टा या चेतन्य ज्ञाता न हो। इसलिये ऐसा लगता है कि भौतिक द्रव्य की वास्तविकता मन या उस ज्ञाता की वास्तविकता से अधिक यथार्थ है जिस मन की कल्पना पूर्णतया बाह्यात्मक और ऐसी व्यापक नहीं हो सकती जैसी कि द्रव्य की हो सकती है। संभभ्वतया पश्चिमीय भौतिकवादी हठवाद की यह व्याख्या की जा सकती है और कहा जा सकता है कि इसी कारण से ह्यूम के संशयवाद ने भौतिक द्रव्य की व्यापकता को तो एक संभावना को किसी हालत में उचित नहीं माना। इस परिस्थिति में ही भारतीय दर्शन विशेष योगदान दे सकता है, जो उपनिषदों के उस ज्ञान पर आधारित है जिससे ज्ञाता एवं आत्मा को आत्म–निर्भर, स्वतः प्रकाश, और व्यापक तत्व स्वीकार किया है। यह दृष्टिकोण द्रव्य की व्यापकता की दृष्टि की अपेक्षा अधिक तर्क–संगत है। इसके अतिरिक्त यह द्रव्य के प्रति अनुभवात्मक है। मैं एक बार पुनः स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि पश्चिमीय अनुभवात्मक संशयवाद पर आधारित भौतिकवाद के तर्कात्मक विश्लेषण को उस बिन्दु पर पहुंचा दिया है जहां पर भौतिक द्रव्य की बाह्यात्मक एवं व्यापक सत्ता को इसलिए स्वीकार किया गया है, क्योंकि हम अपने संकल्प से एक ऐसे शून्य के अस्तित्व की कल्पना कर सकते हैं जहां चेतना अथवा मन के अस्तित्व की आवश्यकता नहीं रहती। उपनिषदों ने इसके विपरीत कर्त्ता, दृष्टा, ज्ञाता एवं अनुभवकर्त्ता के अस्तित्व को द्रव्य प्रसार अथवा द्रव्यात्मक व्यापकता की धारणा के बिना ही (प्रमाणित) सिद्ध कर दिया है। उपनिषदों का यह दृष्टिकोण

न केवल अनुभवात्मक है, अपितु पूरा अनुभवात्मक है। स्पष्ट भाषा में, आत्मा एवं ज्ञाता का एक निरपेक्ष तत्व के अस्तित्व की धारणा कम से कम बौद्धिक दृष्टि से उतनी ही यथार्थ है जितनी कि भौतिक द्रव्य की धारणा यथार्थ है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि साधारणतया हम डेविड ह्यूम की भांति ज्ञाता के अस्तित्व पर इसलिए संदेह कर सकते हैं, क्योंकि मन में एवं ज्ञाता में संवेदनाओं, विचारों, स्मृतियों आदि के अनुभव बिना किसी वस्तु की चेतना के नहीं हो सकती। यह दृष्टिकोण इस साधारण बुद्धि पर आधारित है, जिस के अनुसार मन को द्रव्य पर निर्भर माना जाता है। साथ ही यह सिद्धांत इस बात पर बल देता है कि द्रव्य उस मन की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र है, जो संवेदनाओं, संस्कारों और उन प्रत्ययों का संघात मात्र है, जो (प्रत्यय) पूर्णतया उस बाह्यात्मक, भौतिक और व्यापक सत्ता पर निर्भर है जो चेतना शून्य है।

क्या हम इस द्रव्य की उपस्थिति के बिना ज्ञाता, कर्त्ता, द्रष्टा एवं अनुभवकर्त्ता के अस्तित्व की धारणा प्रस्तुत कर सकते हैं। जिसे जानने, देखने और अनुभव करने के लिए आत्मा और ज्ञाता को प्रेरक माना जा सकता है। और जिसे ठोस व्यापक सत्ता माना जा सकता है? उपनिषद् इस प्रश्न का उत्तर "हां" में देते हैं। सर्वप्रथम ध्यान देने योग्य बात यह है कि हमारे चेतन अनुभव में हम कदापि ज्ञाता को ज्ञेय से, दृष्टा को दृश्य से, और अनुभवकर्त्ता को अनुभूत विषय से पृथक नहीं कर सकते। किसी भी वस्तु के ज्ञाता के बिना ज्ञान, दृष्टा के बिना दृष्टि और अनुभवकर्त्ता के बिना अनुभूत विषय का जागृत चेतना में मानव कभी भी अनुभूत नहीं कर सकता।

संभवतया ह्यूम का समर्थक संशयवादी यहां पर भी आपत्ति कर सकता है "यदि मैं देखना, सुनना, चखना, सूंघना, स्पर्श करना, कल्पना करना तथा स्मरण करना आदि क्रियाओं को अपने अनुभव से हटा दूं तो मन का, ज्ञाता का, द्रष्टा का अथवा अनुभवकर्त्ता का कोई अस्तित्व नहीं रहता।" संभवतया वह इस दृष्टि को पुष्ट करने के लिए यह भी कह सकता है–"जब मैं इन सभी अनुभवों को अपने मन से केवल सैद्धांतिक दृष्टि से सर्वदा बहिष्कृत कर दूं तो 'मैं अस्तित्व नहीं रखता'।" जब ह्यूम का समर्थक संशयवादी दार्शनिक ऐसा कहता है, वह एक विरोधाभास का कथन कह रहा है, क्योंकि वह यह कह रहा होता है–"मैं अस्तित्व नहीं रखता", और इसके साथ ही "मैं" शब्द को अपने उस अनुभव का आधार मान कर प्रयोग करता है जिसके बल पर वह ज्ञाता एवं आत्मा के अस्तित्व को अप्रमाणित करना चाह रहा है। किन्तु वह एक कदम आगे बढ़ कर यह भी कह सकता है कि "मैं" शब्द का यहां पर केवल लोकाचार की दृष्टि से प्रयोग किया जा जा रहा है, जबकि वास्तव में "मैं" की चेतना अस्तित्व नहीं रखती। हम तो "मैं" शब्द का प्रयोग केवल इसलिए करते हैं कि सामाजिक वातावरण ने हमारे मन पर ऐसे संस्कार और प्रभाव डाले हैं कि हमें इस रोचक विचार करने पर बाध्य कर दिया है कि "मैं" भी कोई अस्तित्व रखने वाली वस्तु है। चिन्तन को तर्कात्मक बनाने की दृष्टि से मान लीजिए कि हम उसके इस कथन को स्वीकार कर भी लें तो भी इस स्थिति को स्पस्ट करने के लिए इस युक्ति का तर्कात्मक और यथार्थ विश्लेषण करना पड़ेगा।

हमें जागृत अनुभव से एक कदम आगे चलकर स्वप्नावस्था के अनुभवों का भी उल्लेख करना चाहिए। मान लीजिये कि हम "मैं" शब्द का प्रयोग केवल सामाजिक वातावरण और प्रभाव के कारण जागृत अवस्था में एक मनगढ़ंत सिद्धांत के आधार पर करते हैं। दूसरे शब्दों में, हम केवल परंपरा या सामाजिकता के कारण ही "मैं" को स्वीकार करते हैं, जबकि वास्तव में "मैं" का कोई अस्तित्व नहीं होता। परंतु स्वप्नों में तो किसी प्रकार की परम्परा नहीं रहती। मनोविश्लेषकों का कहना है कि स्वप्नावस्था हर प्रकार के बंधनों से मुक्त है। यदि यह है तो क्या हमने कभी ज्ञाता के बिना स्वप्न का अनुभव किया है? इसका उत्तर नकारात्मक होगा। कई बार हम ऐसा स्पप्न देचाते हैं कि हम एक ऐसे स्थान पर हैं जहां न कोई मनुष्य है, न कोई पशु–पक्षी, न वृक्ष, जल, पर्वत आदि। किंतु ऐसे स्वप्नों के समय भी स्वप्न के दृश्य एवं अनुभवकर्त्ता दृष्टा और साक्षी के रूप में उस शून्य स्थान के स्वप्न को अवश्य देख रहा होता है। इतना ही नहीं, अपितु कभी–कभी व्यक्ति ऐसा भी स्वप्न देखता है जिसमें वह मर गया होता है और अपनी ही शव–यात्र में शरीक हो रहा होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञाता एवं आत्मा की चेतना बाह्यात्मक संस्कारों द्वारा ही अर्जित

नहीं होती, अपितु स्वप्नावस्था में भी यथार्थ रूप में ज्ञाता अस्तित्व रखता है।

इस बिंदु पर भी संशयवादी यह कह सकता है कि स्वप्न हमारी जागृत अवस्था के अनुभवों का परिणाम है और इस प्रकार आत्म—चेतना की भावना का मूल कारण हमारी वह आत्मा एवं "मैं" की मनगढंत धारणा है जो वास्तव में सर्वथा कल्पित और असत्य है। यहां पर हमें पुनः एक और कदम आगे लेना है और अधिक ऊँचें स्तर के अनुभव एवं अधिक आन्तरिक अनुभव का सहारा लेना है। अतीत, मध्य एवं वर्तमान काल के ऋषियों, संतों ने इस दिशा में एक नवीन विचार प्रस्तुत किया है और यही विचार स्वप्नावस्था से आगे की अवस्था पर आधारित है। हमारा संकेत गहन निद्रा और सुषुप्ति की अवस्था की ओर है। जब हमारा मन स्वप्नावस्था से स्वप्नशून्य निद्रा की अवस्था एवं सुषुप्ति में चला जाता है तो देखने, सुनने, सूंघने, चखने, स्पर्श करने, स्मरण करने तथा स्वप्न देखने की सभी मानसिक क्रियायें अवरूद्ध हो जाती है उस अवस्था में किसी प्रकार का आभास या चेतना नहीं होती। इसके बावजूद जब हम जागते हैं तो सहसा कह उठते हैं, "कल रात मैंने बड़ी गहरी, आनंद की निद्रा का अनुभव किया; ऐसी आनंदमय गहरी निद्रा का अनुभव मैंने पिछले दस वर्षों में नहीं किया।" अब यहां प्रश्न उठता है कि हमारे व्यक्तित्व का वह कौन सा ऐसा अंश है, आनंद का अनुभव करने वाला वह कौन सा ज्ञाता है, कौन सा ऐसा चेतन्य तत्व है, जो इस अचेतन स्वप्नशून्य अवस्था का मूल्यांकन कर रहा होता है? दूसरे शब्दों में, वह ज्ञाता, वह विशेष शून्य, व्यापक साक्षी उस अवस्था में भी मौजूद और चेतन्य रहता है, जिसमें वे सभी क्रियायें अनुपस्थित होती हैं जिनके संघात को ह्यूम ने कल्पित मन कहा है। आश्चर्य तो यह है कि वह अविनाशी तत्व हमारे पिछले रात के अचेतन अनुभवों का सहस्त्रों ऐसे अचेतन अनुभवों की पृष्ठभूमी में मूल्यांकन कर रहा होता है। इस संबंध में एक बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि स्वप्नशून्य सुषुप्ति का यह अनुभव, जो न तो स्वप्नों की भांति अर्द्धचेतन है, और न जागृत अवस्था के अनेकत्व के अनुभव की भांति मन की चेतन अवस्था है, (इन दोनों अवस्थाओं में द्रृष्टा और दृश्य भाग लेते हैं) पूर्णतया सामग्रीशून्य नहीं है। एकमात्र मार्मिक तथ्य यह है कि इस मानसिक रचना और धारणात्मक व्यापक अवस्था के अन्तर्गत कर्त्ता, ज्ञाता और साक्षी ज्यों—का—त्यों उपस्थित रहता है, और वह ऐसी पूर्ण अवस्था में उपस्थित रहता है कि वह स्वप्न की द्वैत मानसिक अवस्था, जहां पर द्रष्टा और दृश्य दोनों मानसिक होते हैं और जागृत अवस्था की अनेकात्मक उस अवस्था से भी परे अछूता रहता है जिस अनेकात्मक अवस्था में दृष्टा मानसिक होता है और दृश्य भौतिक दृष्टि से ठोस होता है। इस साक्षी का विशेष लक्षण निःसंदेह परा अनुभव पर आधारित है, किंतु उसका अस्तित्व अनुभवेतर नहीं है। यहां पर हम अनुभवकर्त्ता का, किसी प्रकार के अनुभूत विषय के बिना ही, अनुभव करते हैं। दूसरे शब्दों में, हम प्रतिदिन एक ऐसी अवस्था का अनुभव करते रहते हैं जो व्यापक ज्ञातत्व है। यह अवस्था आत्मा की वह विशुद्ध "हैं—पने" की अवस्था है, जो दार्शनिक के उस जड़ काल्पनिक शून्य की भांति कल्पनामात्र नहीं है, बल्कि ऐसी अवस्था है, जो वास्तविक अनुभव है और दिक्—देश—काल से परे होते हुए भी उन सभी को अपने गर्भ में लेते हुए पूर्णात्मक अवस्था है। यह अवस्था धारणात्मक और कल्पनात्मक होने के साथ—साथ अनुभवगम्य है और ज्ञाताशून्य एवं मनःशून्य संशयवादी दार्शनिक की धारणा की तुलना में अधिक अनुभवगम्य है।

यहां मैं यह बताने की चेष्टा कर रहा हूं कि स्वप्नशून्य सुषुप्ति में तथाकथित अनुभवातीत का (ज्ञाता—भाव, मैंपना) केवल कल्पना नहीं है अपितु ध्रुव सत्य है। यह अनुभ्पव मन और शरीर, ज्ञाता और श्रेय, अनुभवकर्त्ता और अनुभूत जगत् के परस्पर भेद की समस्या का समाधान कर देता है, और इस बात की ओर इंगित करता है कि "तूपने (यूनेस)" और "वस्तुपने (इटनेस)" से परे भी "आत्मपने (आइनेस)" की एक ऐसी अवस्था है जो मार्टिन बूबर की अधूरी विचारधारा की त्रुटि को दूर कर सकती है। मार्टिन बूबर ने "मैं वस्तु" संबंध और "मैं—तू" संबंध में "मैं—तू" संबंध को अधिक वांछनीय मानकर उसे मानवता के व्यवहार का आधार स्वीकार किया हे।

ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है उसका अभिप्राय यह है कि मार्टिन बूबर के दो संबंधों से परे एक तीसरा पर अनुभवात्मक संबंध है,

जिसे "मैं–मैं" एवं "आत्मा–आत्मा" का संबंध कहा जा सकता है और जिससे अनुभवकर्त्ता एक वाचक आदर्शवादी की भांति कल्पनात्मक व्यवहार ही नहीं करता, अपितु एक ऐसा वास्तविक आभास का अनुभव करता है जिसे विश्वव्यापी तादात्म्य एवं ऐसी आत्मानुभूति कहा जा सकता है जो मानव की विशुद्ध आत्मा के पूर्णत्व का प्रमाण है। मानव की यह अन्तरात्मा ही विश्वव्यापी आत्मा एवं परात्पर ब्रह्म है जिसमें मानव और प्रकृति का विरोध समाप्त हो जाता है।

यह आत्मा–आत्मा का संबंध प्रकृति को मन से मिला देता है और वातावरण की उस अपवित्रता की समस्या का समाधान करता है जो "मैं–वस्तु" के संबंध के अपनाने से उत्पन्न होती है और जिसके समाधान के बिना आणविक विनाश और वैज्ञानिक, दार्शनिक और सांस्कृतिक उपलब्धियों सहित मानवमात्र का सदा–सर्वदा के लिए लोप हो सकता है।

मेरा यह सुझाव भारतीय दार्शनिकों को एक चेतावनी है। अधिकतर भारतीय दार्शनिक यह समझते हैं कि वेदांत के पश्चात् दर्शन का विकास समाप्त हो गया। इसलिए ऐसे विद्वानों के शोध और उनके ग्रंथ या तो वेद, उपनिषद्, भगवद्गीता, षट्दर्शन और विशेष कर वेदांत दर्शन का भाष्य मात्र होते हैं, या उनमें निहित धारणाओं की पश्चिमीय दर्शन की धारणाओं के परिवेष में तुलनात्मक होते है; भारतीय चिंतनधारा सदा आत्मानुभूति पर आधारित रही है। शंकराचार्य ने भी सूक्ष्म तर्कसंगत दार्शनिक विचारधारा को प्रतिपादित और प्रचारित करने के बाद, अन्त में यही कहा, "आत्मानूभूत्ये नमः"। भारतीय दर्शन शास्त्र के विकास को रामानुज के सिद्धांत पर ही समाप्त कर दिया जाता है। यह केवल वाचकज्ञानी और वाचक वेदांतियों, रूक्षसिद्धांतवादी विद्धानों का दृष्टिकोण है। इसी दृष्टिकोण को भारत में और भारत के बाहर प्रश्रय दिया जा रहा है। यह एक भारी भूल है।

रामानुज संप्रदाय एवं रामानुज दर्शन का अनुभवात्मक विकास भक्तिमार्ग के माध्यम से, गुरू रामानंद जी ने उत्तर भारत में प्रतिपादित किया। उसी परम्परा में इस युग के आदि परमसंत परम तत्व दार्शनिक कबीर साहिब ने आत्मानुभव के आधार पर दर्शन को एक ऐसी नई शिक्षा दी जो भारतीय संस्कृति, धर्म और सनातन परम्परा की पराकाष्ठा है और जिसके आधार पर समकालीन संतों ने आत्मा–आत्मा के संबंध की जन– साधारण के लिए और विशेषकर शुष्क वादविवाद युक्त दार्शनिकों के लिए सरल और अनुभवगम्य बना दिया है। इस सरल शब्द–योग पर आधारित अपरोक्ष अनुभव से समन्वित व्यवहारात्मक विधि को अपनाने से "आत्मा– आत्मा" का संबंध, न ही केवल प्रतिपादित किया जा सकता है, अपितु जनसाधारण के द्वारा अनुभूत भी किया जा सकता है।

इस पृथ्वी पर जीवन मात्र के सम्पूर्ण सर्वनाश की संभावना को टालने के लिए उस आत्मा–आत्मा के संबंध को अपनाने की आवश्यकता है जो मानव को अनेकत्व में एकत्व के अद्वितीय अनुभव का साक्षात्कार करा देती है, जिसके द्वारा भौतिक अनेकत्ववादी आभास और मानसिक द्वैतवादी अनुभूति से ऊपर उठकर समन्वयात्मक अनुभव किया जा सकता है। सर्वसाधारण के लिए आत्मा–आत्मा का संबंध तभी अनुभवगम्य हो सकता है जब नवीनतम व्यवहारात्मक सुरत–शब्द योग की उस विधि को अपनाया जाय जो कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग एवं राजयोग का भी आधार है। इस योग को "शब्द–योग" भी कहा जाता है। इसका अभ्यास जिह्वा, नेत्र और कान की ज्ञानेन्द्रियों का नियंत्रण करने के लिए इनसे अपना ध्यान हटा कर और अन्तर्मुखी होकर आत्मानुभूति की अन्तर्तम अवस्था का साक्षात्कार किया जा सकता है। यह आन्तरिक अनुभव हर एक सामान्य व्यक्ति को दुख–सुख, लाभ–हांनि, जय–पराजय, निंदा–स्तुति आदि से ऊपर उठा देता है। इसी अवस्था को पूर्णत्मक मुक्ति की वह अवस्था कहा गया है जिसका अनुभव संघर्षमय द्वंद्वात्मक जगत् में रहते हुए भी किया जा सकता है। यह जीवन्मुक्ति एवं पूर्णात्मक अवस्था कल्पनामात्र नहीं है अपितु वास्तविकता है। यह केवल सिद्धांत नहीं है, अपितु व्यावहारिक अनुभव है।

प्रकृति और मानव को समझने और आंकने की यह आंतरिक विधि पश्चिमीय विश्लेषणात्मक और बाह्यात्मक विधि से भिन्न है और संकटकालीन युग की मांग है। भारतीय दार्शनिकों के लिए यह स्वर्णिम अवसर है कि वे इस तथ्य को प्रमाणित कर दें कि 'अनेकत्व में एकत्व' का अनुभव मानवीय जीवन में उपस्थित सामाजिक, राजनैतिक,

आर्थिक, बौद्धिक और धार्मिक भेद–भावों का अन्त कर सकता है। इन्हीं भेद–भावों ने मानव जाति को खण्ड–खण्डित कर दिया है और उसमें राजनैतिक सिद्धान्तों, सामाजिक विषमताओं, आर्थिक जातिवाद, धार्मिक और साम्प्रदायिक संघर्षों को उत्पन्न कर दिया है। यह पूर्णात्मक दृष्टिकोण एवं आत्मा–आत्मा का संबंध भारतीय राष्ट्रीयता के एकीकरण और विश्व–शांति का आधार बन सकता है। वर्तमान विश्व–संकट का मूल कारण धर्म और सम्प्रदाय, रूढ़िवाद और संकीर्ण राष्ट्रवाद एवं मनगढंत राजनैतिक सिद्धांतों का ही परिणाम है। दर्शन की यह नई दिशा ही इसका समाधान कर सकती है।

00000

मानवता का यथार्थ स्वरूप परम सन्त मानव दयाल जी महाराज के पावन जन्मोत्सव पर

ओइम् गुरूर्ब्रह्मा गुरूर्विष्णुः गुरूर्देवो महेश्वरः।
गुरूः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरूवे नमः।।

राधास्वामी!

मेरी अपनी ही आत्मा के स्वरूप सत्संगियो!

मैं आप सभी को 'मानव के यथार्थ स्वरूप' अर्थात् आत्मा के विषय में बता रहा हूं। अनेक बार मुझसे यह प्रश्न किया गया है, मेरे प्रेमी सत्संगियों के द्वारा, जिसे मैं यथासंभव सरल–भाषा में इस लेख के माध्यम से उत्तरित करता हूं। विषय 'आत्मा का ज्ञान या मनुष्य का वास्तविक स्वरूप क्या है? यह है।

इस पंचेन्द्रियग्राह्य जगत् से मनुष्य बड़ी आसक्ति से चिपका रहता है या रहना चाहता है, किंतु इस बाह्य जगत् को, जिसमें वह जीता है और क्रिया–कलाप करता है, चाहे कितना ही सत्य क्यों न समझे, हर एक व्यक्ति और जाति के जीवन में एक ऐसा समय आता है, जब वे सहज ही जिज्ञासा करते हैं; क्या यह जगत् सत्य है? जिन व्यक्तियों को अपनी इंद्रियों (शरीर और मन के तल पर जीने वाले) की विश्वसनीयता में तनिक भी शंका करने का समय नहीं मिलता, जिनके जीवन का प्रत्येक क्षण किसी न किसी प्रकार के विषय–भोग में ही व्यस्त रहता है, मृत्यु एक दिन उनके भी सिरहाने आकर खड़ी हो जाती है और विवश होकर उन्हें भी यह कहना पड़ता है–'क्या यह जगत् सत्य है?' इसी एक से धर्म का आरंभ होता है और इसके उत्तर में ही धर्म की इति (समापन) है। अनादि काल से हम देखते आ रहे हैं कि यही एक प्रश्न हर समय पूछा गया है–इसका क्या होता है? क्या यह सत्य है?

जितने प्रकार के धर्म या दर्शन जगत् में हैं, वे सब इसी प्रश्न के विभिन्न उत्तरों से परिपूर्ण हैं। अनेक बार तो इन प्रश्नों का–'परे क्या है? सत्य क्या है?' प्राणों की इस महती अशांति का अवदमन करने की चेष्टा की गई है किंतु जब तक मृत्यु नामक वस्तु या का अस्तित्व

जगत् में है, तब तक इस प्रश्न को दबा देने की सारी चेष्टाएं विफल रहेंगी। परंतु जब तक मृत्यु जगत् में रहेगी तब तक यह प्रश्न बार–बार उठेगा कि हम जो इन सब वस्तुओं को सत्य का भी सत्य, सार का भी सार समझकर इनमें भयानक रूप से आसक्त हैं, तो क्या मृत्यु ही इन सब का परिणाम है? जगत् तो एक क्षण में ही ध्वंस होकर न जाने कहां चला जाता है। ऊपर है अत्युच्च गगनचुम्बी पर्वत और नीचे है गहरी खाई, मानो मुंह फैलाये जीव को निगलने के लिए आ रही है। इस पर्वत के किनारे खड़े होने पर कितना ही कठोर अन्तःकरण (हृदय) क्यों न हो, निश्चय ही सिहर उठेगा और पूछेगा–'यह सब क्या सत्य है?' कोई तेजस्वी हृदय जीवन भर बड़े प्रयत्न के साथ इस आशा को अपने हृदय में संजोये रहा, वह एक मुहूर्त में ही उड़कर न जाने कहां चली गई; तो क्या हम इसी सब आशा को सत्य कहेंगे? इस प्रश्न का उत्तर स्वयं को देना (पाना) होगा। काल प्राणों की इस आकांक्षा का, हृदय के इस गंभीर प्रश्न की शक्ति का कभी भी ह्रास नहीं कर सकता, प्रत्युत् काल का स्रोत ज्यों–ज्यों आगे बढ़ता जाता है त्यों–त्यों इस प्रश्न की शक्ति भी बढ़ती जाती है।

मुख्य बात यह है कि मनुष्य को सुखी होने की इच्छा होती है। अपने को सुखी करने के लिए ही वह सभी ओर दौड़ता फिरता है– इंद्रियों के पीछे–पीछे भागता फिरता है। उदाहरणार्थ– जो युवक जीवन संग्राम में सफल हुए हैं, उनसे यदि पूछें तो वे कहेंगे कि 'यह जगत् सत्य है।' उन्हें सभी बातें सत्य अनुभव होती हैं। ये ही व्यक्ति जब बूढ़े हो जाएंगे, जब सौभाग्य लक्ष्मी उन्हें बार–बार धोखा देगी, तब उनसे यही पूछें तो वे शायद यही कहेंगे कि अरे भाई! यह सब भाग्य का खेल है। इतने दिनों में वे जान सके कि वासना की पूर्ति नहीं होती। वे जिधर भी जाते हैं, उधर ही मानो वज्र (पहाड़) के समान दृढ़ दीवार उनके सामने खड़ी होती है, जिसे लांघना उनके वश की बात नहीं। प्रत्येक इंद्रिय–कर्मण्यता (इंद्रियगत कर्म) के परिणामस्वरूप प्रतिक्रिया होती है। हर वस्तु क्षणभंगुर है, विलास, वैभव, शक्ति, जीवन क्षणस्थाई है।

मानव के समक्ष उसके लिए दो उत्तर ही रह जाते हैं। एक है– शून्यवादियों की भांति विश्वास करना कि सब कुछ शून्य है। हम कुछ नहीं जान सकते–भूत, भविष्य या वर्तमान के भी संबंध में कुछ नहीं जान सकते, क्योंकि जो भूत–भविष्य को अस्वीकार कर केवल वर्तमान को स्वीकार करते हुए उसी में अपनी दृष्टि को सीमित रखना चाहता है,, तो यह बात निरे पागलपन ही है। यह बात तो ऐसे ही है, जैसे माता–पिता के अस्तित्व को अस्वीकार करते हुए संतान के अस्तित्व को स्वीकार करना। दोनों समान रूप से युक्तिसंगत हैं। भूत और भविष्य को अस्वीकार करने का अर्थ है, वर्तमान को भी अस्वीकार करना। आज तक कहीं ऐसा कोई मनुष्य नहीं देखा गया, जो एक क्षण के लिए भी शून्यवादी हो सके। मुंह से कहना अवश्य बड़ा सरल है।

दूसरा उत्तर यह है कि इस मूलभूत प्रश्न के वास्तविक उत्तर की खोज करें, सत्य की खोज करें कि इस नित्य परिवर्तनशील नश्वर जगत् में सत्य क्या है? कुछ भौतिक परमाणुओं के समष्टिस्वरूप (संयुक्तावस्थ, संश्लिष्ट) देह के भीतर क्या कोई ऐसी चीज है, जो सत्य है? मानव जीवन के इतिहास में सदैव इस तत्व का अन्वेषण किया गया है। अति प्राचीनकाल से ही मनुष्य के मन में इस तत्व का अस्पष्ट प्रकाश उद्भासित हो गया था। उसी समय से मनुष्य ने स्थूल देह से परे (अतीत) एक अन्य देह का भी पता पा लिया था, जो अनेक अंशों में इस स्थूल देह के ही समान होने पर भी उसका नाश नहीं होता। सभी शास्त्रों और पुराणों में यही एक तत्व पाया जाता है कि मनुष्य जैसा पहले था वैसा अब नहीं है। आज वह पहले से गिरी हुई दशा में है। धर्मशास्त्रों ने जिसे सतयुग कह कर युग का वर्णन किया है–'जब मनुष्य की मृत्यु उसकी इच्छा अनुसार होती थी, किसी प्रकार का अशुभ या दुख नहीं था और वर्तमान युग उसी उन्नत अवस्था में भ्रटभाव मात्र है। जगत् की भ्रष्टता क्रमशः बढ़ती गई इसके बाद जब प्रलय हुआ तो अधिकांश जगत् उसमें डूब गया। फिर उन्नति आरंभ हुई और अब यह जगत् अपनी उसी प्राचीन अवस्था को प्राप्त करने के लिए धीरे–धीरे अग्रसर हो रहा है। पाश्चात्य विचारक हक्सले ने ऐसा कहा है, 'इतना कहना ही बहुतों के लिए पर्याप्त है! हम लोग सचमुच अंधवि– श्वास से मुक्त हैं। पहले था धर्म का अंधविश्वास, अब है विज्ञान का अंधविश्वास। फिर भी पहले अंधविश्वास से जीवनप्रद आघ्यात्मिक भाव आता था, पर आधुनिक अंधविश्वास के भीतर से तो केवल काम और लोभ ही आ रहे हैं। वह अंधविश्वास था ईश्वर की

उपासना को लेकर और आजकल का अंधविश्वास है महाघ्णित धन, यश और शक्ति की उपासना को लेकर। बस यही भेद है।'

हां, तो प्रश्न के वास्तविक उत्तर की खोज की बात चल रही थी। मानव–शरीर की रचना कौन करता है, कौन सी शक्ति प्रकृति में पड़ी हुई जड़ वस्तु के ढेर में से लेकर आपका शरीर एक प्रकार का और मेरा शरीर दूसरे प्रकार का निर्मित कर डालती है? ये सब अनंत विभेद कैसे होते हैं? यह कहना कि आत्मा नामक शक्ति शरीर के भौतिक परमाणुओं के विभिन्न संघातों से उत्पन्न होती है, ठीक वैसा ही है जैसे बैल के आगे गाड़ी को जोतना। ये संघात कैसे उत्पन्न हुए? किस शक्ति ने ऐसा कर दिया? यदि हम कहें कि अन्य शक्ति ने यह संघात कर दिया है और आत्मा, जो इस समय एक विशेष जड़राशि के साथ संयुक्त दिखाई दे रही है, इन्हीं सब जड़ परमाणुओं के संघात का फल है, तब तो यह कोई उत्तर न हुआ। अतएव यही बात युक्ति–संगत है कि जो शक्ति जड़त्व को लेकर उससे शरीर का निर्माण करती है और जो शक्ति शरीर के भीतर व्यक्त है, वे दोनों एक ही है। शक्ति कभी जड़त्व से उत्पन्न हो ही नहीं सकती। बल्कि यह प्रमाणित करना संभव है कि हम जिसे जड़ कहकर पुकारते हैं, उसका अस्तित्व ही नहीं है, यह केवल शक्ति की एक विशेष अवस्था है। यह सिद्ध किया जा सकता है कि ठोसपन, कठोरता आदि जो सब जड़ के गुण हैं, वे गति के ही फल हैं। द्रव्यों को प्रचुर शीर्षीय गति देने से वे ठोस हो जाएंगे। वायुपुंज में यदि अतिशय शीर्षीय गति उत्पन्न कर दी जाये जैसे तूफान में, तो वह ठोस– सा हो जाता है और अपने आघात से ठोस पदार्थों को तोड़ या काट सकता है। यदि मकड़ी के जाले के एक तन्तु को अनन्त वेग दिया जाए तो वह लोहे की जंजीर जैसा ही सशक्त हो जाएगा और पेड़ को काट कर पार हो जाएगा। इस प्रकार से विचार करने पर यह सिद्ध करना सहज है कि हम जिसे जड़त्व कहते हैं, उसका कोई अस्तित्व नहीं है।

शरीर के भीतर यह जो शक्ति की अभिव्यक्ति देखी जाती है, यह क्या है? हम सभी यह बात सरलता से समझ सकते हैं कि यही शक्ति फिर चाहे वह जो भी हो, जड़ परमाणुओं को लेकर उनसे एक विशेष आकृति–मनुष्यदेह तैयार कर रही है। अन्य कोई आकर आपके या हमारे शरीर को नहीं बना देता। ऐसा मैंने कभी नहीं देखा कि दूसरा कोई मेरे लिए भोजन कर लेता हो और शक्ति मुझे मिल जाती हो। मुझे ही भोजन का सार शरीर में लेकर उससे रक्त, सांस, अस्थि आदि का गठन करना पड़ता है। यह अद्भुत शक्ति क्या है? वह शक्ति क्या है जो हर समय हममें काम कर रहीं है? सभी प्राचीन शास्त्रों में इस शक्ति को इसी शक्ति की अभिव्यक्ति को शारीरिक आकृति वाला एक ऐसा ज्योतिर्मय पदार्थ माना गया है, जो इस शरीर के नष्ट हो जाने पर बचा रहता है। आधुनिक विज्ञानवेत्ताओं ने इसे जीवसिर (Protoplasm) कहा है। उसे केवल ज्योतिर्मय देह कहने से संतोष नहीं होता–एक और भी उच्चतर भाव लोगों के मन पर अधिकार किए दिखाई देता है। वह यह कि किसी भी प्रकार का शरीर शक्ति का स्थान नहीं ले सकता। जिस किसी वस्तु की आकृति है, वह बहुत से परमाणुओं की एक संहति मात्र है, अतएव उसको चलाने के लिए कोई दूसरी चीज होनी चाहिए। इस शरीर का गठन और परिचालन करने के लिए भी इससे भिन्न अन्य कोई वस्तु चाहिए। यह 'अन्य कोई वस्तु' ही संस्कृत भाषा में आत्मन् अर्थात् आत्मा नाम से संबोधित हुई है। यह आत्मा ही इस ज्योतिर्मय देह में से मानो स्थूल शरीर पर कार्य कर रही है। यह ज्योतिर्मय शरीर ही मन का आधार माना जाता है और आत्मा इससे अतीत (परे) है। आत्मा मन भी नहीं है, वह मन पर कार्य करती है और मन के माध्यम से शरीर पर। आपकी एक आत्मा है, मेरी भी एक आत्मा है–सभी के अलग–अलग आत्मा है और एक–एक सूक्ष्म शरीर भी। इस सूक्ष्म शरीर की सहायता से हम स्थूल शरीर पर कार्य करते हैं।

अब फिर प्रश्न खड़ा होता है–आत्मा और उसके स्वरूप के संबंध में। शरीर और मन से पृथक इस आत्मा का स्वरूप क्या है? वैसे तो भिन्न–भिन्न दर्शनों (धर्म, अध्यात्म, दर्शन) का इस विषय में मतैक्य देखा जाता है कि आत्मा का स्वरूप जो कुछ भी हो, वह अवश्य सर्वव्यापी होगा। काल (समय) का आरंभ मन से होता है। देश (स्थान) भी मन के अंतर्गत है। काल को छोड़कर कार्य–कारणवाद नहीं रह सकता। कर्म की भावना के बिना कार्य–कारणवाद नहीं रह सकता। अतएव, देश–काल– निमित्त (पात्र) मन के अंतर्गत हैं और यह आत्मा

मन से अतीत और निराकार होने के कारण, देश—काल—निमित्त के परे है और जब देश—काल—निमित्त से अतीत है, तो अवश्य अनन्त होगी।

अब दर्शन का उच्चतम विचार आता है। अनंत कभी दो नहीं हो सकता। यदि आत्मा अनंत है, तो केवल एक ही आत्मा हो सकती है और यह जो अनेक आत्माओं की धारणा है—आपमी एक आत्मा, मेरी एक आत्मा—यह सत्य नहीं है। अतएव मनुष्य का प्रकृत स्वरूप एक ही है। वह ही अनंत और सर्वव्यापी है और यह प्रातिभासिक जीव, चाहे वह कितना ही महान क्यों न हो, मनुष्य के इस अतिन्द्रिय, प्रकृत स्वरूप का धुंधला प्रतिबिंब मात्र है। अतएव मनुष्य का प्रकृत स्वरूप आत्मा कार्य—कारण से अतीत होने के कारण, देश—काल से अतीत होने के कारण, अवश्य मुक्त स्वभाव है। वह कभी बद्ध नहीं थी, न ही बद्ध हो सकती थी। यह प्रतिभासिक जीव, यह प्रतिबिंब, देश—काल—पात्र द्वारा सीमाबद्ध होने के बद्ध है। अथवा हमारे कुछ दार्शनिकों की भाषा में 'प्रतीत होता है, मानो वह बद्ध हो गई है, परंतु वास्तव में वह बद्ध नहीं है।' हमारी आत्मा के भीतर जो यथार्थ सत्य है, वह यही है कि आत्मा सर्वव्यापी है, अनंत है, चैतन्य स्वभाव है। हम स्वभाव से ही वैसे हैं—हमें प्रयत्न करके वैसा नहीं बनना पड़ता। यह दोनों ही सापेक्ष देश में हैं, जो अनंत है, वह कहां जाएगी और कहां से आएगी?

जब मनुष्य भूत और भविष्य की चिंता का (उसका क्या होगा) त्याग कर देता है, जब वह देह को सीमाबद्ध और उत्पत्ति—विनाशशील जानकर देहाभिमान का त्याग कर देता है अर्थात् सूक्ष्म से सूक्ष्मतर अहंकार का त्याग कर देता है, तब वह एक उच्चतर आदर्श में पहुंच जाता हैं देह भी आत्मा नहीं और मन भी आत्मा नहीं, क्योंकि इन दोनों में ह्रास और वृद्धि होती है। जड़ जगत् आत्मा से अतीत आत्मा ही अनंत काल तक रह सकती है। शरीर और मन सतत परिवर्तनशील हैं। वे दोनों परिवर्तनशील कुछ घटना श्रेणियों (घटना—क्रम) के केवल नाम हैं। वे मानो एक नदी के समान हैं, जिसका प्रत्येक जल—परमाणु सतत चलायमान है, फिर भी वह नदी सदा एक अविच्छिन्न प्रवाह सी दिखती है। इस देह का प्रत्येक परमाणु सतत परिवतर्नशील है। किसी भी व्यक्ति का शरीर कुछ क्षण के लिए भी एक समान नहीं रहता। फिर भी मन पर एक प्रकार का संस्कार बैठ गया है, जिसके कारण हम इसे शरीर ही समझते हैं। मन के संबंध में भी यही बात है। क्षण में सुखी, क्षण में दुखी, क्षण में सबल और क्षण में दुर्बल। यह सतत परिणामशील भंवर के समान है। अतएव मन भी आत्मा नहीं हो सकता। आत्मा तो अनंत है, परिवर्तन केवल समीम वस्तु में ही संभव है। अनंत में किसी प्रकार का परिवर्तन हो ही नहीं सकता। शरीर की दृष्टि से आप और मैं एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा सकते हैं। जगत् का प्रत्येक अणु—परमाणु नित्य परिवतर्नशील है। परंतु जगत् को एक समष्टि के रूप में लेने पर उसमें गति या परिवर्तन असंभव है। गति सर्वत्र, सापेक्ष है। मैं जब एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाता हूं, तब किसी वस्तु के संदर्भ में ही।

जगत् का कोई परमाणु किसी दूसरे परमाणु की तुलना में ही परिणाम को प्राप्त हो सकता है। किंतु संपूर्ण जगत् एक समष्टि रूप में लेने पर फिर किसी तुलना में उसका स्थान का परिवर्तन होगा? इस समष्टि के अतिरिक्त और कुछ तो है ही नहीं। अतएव यह अनंत इकाई अपरिणामी, अचल और निरपेक्ष है, सांतता में नहीं। यह एक धारणा है कि मैं एक क्षुद्र , सान्त, सतत परिणामी जीव हूं, कितना ही सुखद क्यों न हो, फिर भी यह पुराना भ्रम ही है। यदि किसी से कहें कि 'आप सर्वव्यापी, अनंत पुरूष हैं', तो वह डर जाएगा। सबके माध्यम से आप ही कार्य कर रहे हैं, सब पैरों द्वारा आप ही चल रहे हैं, सब मुखों से आप ही बातचीत कर रहे हैं, सब हृदयों से आप ही अनुभव कर रहे हैं। यदि ऐसी बाते हम किसी से कहे, तो वह डर जाएगा। वह बार—बार पूछेगा कि क्या फिर उसका अस्तित्व (Self Existence) नहीं रह जाएगा? क्या मैं नहीं रह जाऊँगा? यह व्यक्तित्व—मैं—क्या है? यदि जान जाऊँ, तो अच्छा है। इसे इस तरह समझें कि छोटे बालक के मूछें नहीं होती। बड़े होने पर उसके दाढ़ी—मूंछ निकल आती हैं। यदि अहं शरीर में रहता, तब तो बालक का 'व्यक्तित्व' नष्ट हो गया होता। यदि 'अहं या व्यक्तित्व' शरीरगत होता, तो हमारी एक आंख अथवा हाथ नष्ट हो जाने पर वह नष्ट हो जाता। फिर शराबी का शराब छोड़ना ठीक नहीं, क्योंकि तब तो उसका व्यक्तित्व ही नष्ट हो जायेगा। चोर का साधु बनना भी ठीक नहीं, क्योंकि इससे वह अपना

व्यक्तित्व खो बैठेगा। तब तो फिर कोई भी अपनी आदतें छोड़ना नहीं चाहेगा। पर सत्य यह है कि अनंत को छोड़कर और किसी में व्यक्तित्व है ही नहीं। केवल इस अनंत का ही परिवर्तन नहीं होता और शेष सभी का सतत परिवर्तन होता रहता है। 'व्यक्तित्व–भाव' स्मृति में भी नहीं है, स्मृति में यदि 'व्यक्तित्व–भाव' रहता, तो मस्तिष्क में गहरी चोट लगने से स्मृति लोप हो जाने पर, वह नष्ट हो जाता अर्थात् व्यक्तित्व–भाव हमारा बिल्कुल लोप हो जाता। किसी को भी अपने बचपन के पहले दो–तीन वर्ष का कोई स्मरण नहीं होता है और यदि स्मृति और अस्तित्व एक है, तो फिर कहना पड़ेगा कि इन दो–तीन वर्षों में अस्तित्व ही नहीं था। तब तो जीवन का जो अंश स्मरण नहीं, उस समय वह जीवित नहीं था–यही कहना पड़ेगा। यह 'व्यक्तित्व' का बहुत ही संकीर्ण अर्थ है।

हम अभी तक 'व्यक्ति' नहीं हैं। हम इसी 'व्यक्तित्व को प्राप्त करने के लिए संघर्ष कर रहे हैं और वह अनंत है, वह मनुष्य का प्रकृ त स्वरूप है, अर्थात् वास्तविक रूप है, जिनका जीवन संपूर्ण जगत् को व्याप्त किए हुए है, वे ही जीवित हैं और हम जितना ही अपने जीवन को शरीर आदि जैसे छोटे–छोटे सान्त पदार्थों से बांधकर रखेंगे, उतना ही हम मृत्यु की ओर अग्रसर होंगे। जितने क्षण हमारा जीवन समस्त जगत् में व्याप्त रहता है, दूसरों में व्याप्त रहता है, उतने ही क्षण हम जीवित रहते हैं। इस क्षुद्र जीवन में अपने को बद्ध रखना ही मृत्यु है, और इसी कारण हम सभी को मृत्यु का भय रहता है। मृत्यु–भय पर तभी विजय पाई जा सकती है, जब मानव यह समझ ले कि जब तक जगत् में एक भी जीवन शेष है, तब तक वह भी जीवित है। जब यह अनुभव कर ले, तब वह कह सकता है कि 'मैं सब वस्तुओं में, सब देशों में, सब प्राणियों में वर्तमान हूं। मैं ही सब जगत् हूं, संपूर्ण जगत् ही मेरा शरीर है। जब तब एक भी परमाणु शेष है, तब तक मेरी मृत्यु नही हो सकती। कौन कहता है कि मेरी मृत्यु होगी? तब ऐसे व्यक्ति निर्भय हो जाते हैं अर्थात् अभय–पद में स्थिति हो जाती है–तभी निर्भीक अवस्था आती है। प्राचीन भारतीय दर्शन में कहा गया है कि 'आत्मा अनंत है, इसलिए आत्मा ही 'व्यक्ति–अविभाज्य' हो सकती है।' अनंत का विभाजन नहीं किया जा सकता–अनंत का खण्ड–खण्ड नहीं किया जा सकता। वह सदा एक है, अविभक्त समष्टिस्वरूप अनंत आत्मा ही है और वही व्यक्ति मानव का यथार्थ 'व्यक्तित्व' है, वही प्रकृत मनुष्य है। मनुष्य के नाम से ही हम सभी जिसको जानते हैं, वह इस 'व्यक्तित्व' को व्यक्त जगत् में अभिव्यक्त करने के संघर्ष का फल मात्र है। 'क्रम–विकास' आत्मा में नहीं है।

यह जो सब परिवर्तन हो रहा है–बुरा व्यक्ति भला हो रहा है, पशु मनुष्य हो रहा है–यह सब कभी आत्मा में नहीं होता। कल्पना करें कि एक पर्दा आपके सामने है और उसमें एक छोटा सा छिद्र है, जिसमें से आप केवल कुछ चेहरे देख पाते हैं। यह छिद्र जितना बड़ा होता जाता है, सामने का दृश्य उतना ही अधिक आपके सम्मुख स्पष्ट होता जाता है और जब छिद्र पूरे पर्दे को व्याप्त कर लेता है अर्थात् जब पर्दा ही नहीं रहता, तब आप सब कुछ स्पष्ट देख लेते हैं। यहां पर आप में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। आप जो थे, वही रहे। केवल छिद्र का क्रमविकास होता रहा और उसके साथ–साथ आपकी अभिव्यक्ति क्रमशः अधिक होती रही या आपके ज्ञान का क्षेत्र धीरे–धीरे विकसित होता गया और आपके दृष्टिकोण में व्यापकता आती गई। आत्मा के संबंध में भी यही बात है। यहां भी किसी पूर्णता को उपलब्ध नहीं करना है क्योंकि आप पहले से ही मुक्त और पूर्ण हैं।

धर्म, ईश्वर, परमात्मा या परलोक संबंधी ये धारणणएं कहां से आईं? मनुष्य ईश्वर–ईश्वर करता क्यों फिरता है? सभी देशों में, सभी समाजों में मानव क्यों पूर्ण आदर्श की खोज करता फिरता है–भले ही वह आदर्श मनुष्य में हो या ईश्वर में अथवा अन्य किसी वस्तु में? इसलिए कि वह भाव हमारे–आपके भीतर ही जन्म से विद्यमान है। वह हमारे हृदय की धड़कन है और हम उसे नहीं जानते; हम सोचते हैं कि बाहर की कोई वस्तु यह ध्वनि कर रही है। **हमारी आत्मा में विराजमान ईश्वर ही हमें अपना अनुसंधान करने को प्रेरित कर रहा है** अर्थात् आत्म–ज्ञान, वह हमारे निकट से भी निकट है, प्राणों का प्राण है, हमारा शरीर है, हमारी आत्मा है–आप ही 'मैं' है, मैं ही 'आप' हूं। यही हम सभी का स्वरूप है–इसी को हम अभिव्यक्त करें। सारी प्रकृति देश– कालातीत सत्य को पर्दे के समान ढांके हुए है। आप जो कुछ भी अच्छा विचार या कार्य करते हैं उससे मानो वह आवरण धीरे– धीरे

क्षीण होता रहता है और देश कालातीत वह शुद्ध—स्वरूप, अनंत ईश्वर अभिव्यक्त होता रहता है।

यह आवरण जितना ही सूक्ष्म होता जाता है, उतना ही प्रकृति के पीछे स्थित प्रकाश भी अपने स्वभाववश क्रमशः अधिकाधिक दीप्त होता जाता है, क्योंकि उसका स्वभाव ही इस प्रकार दीप्त होना है। उसको जाना नहीं जा सकता। हम उसे जानने का व्यर्थ प्रयत्न करते हैं। यदि यह ज्ञेय होता, तो उसका स्वभाव ही बदल जाता क्योंकि वह स्वयं नित्य ज्ञाता है। ज्ञान एक सीमाबद्ध—भाव है। ज्ञान—लाभ करने के लिए ज्ञान को विषयाश्रित (अर्थात् विषय निर्भर) करना पड़ता है। वह तो सारी वस्तुओं का ज्ञाता है, सब विषयों का विषयीस्वरूप है। वह इस विश्व—ब्रह्माण्ड का साक्षिस्वरूप है, आपकी आत्मा है। प्रत्येक व्यक्ति वह आत्मा है और सब लोग विभिन्न उपायों से इसी आत्मा को जीवन में प्रकाशित करने का प्रयत्न कर रहे हैं। यदि ऐसा न होता तो ये सब नीति—संहिताएं कहां से आतीं? सारी नीति संहिताओं का तात्पर्य क्या है? सभी नीति संहिताओं में एक ही भाव भिन्न—भिन्न रूप से प्रकाशित हुआ है और वह है—दूसरों का उपकार करना। मनुष्यों के प्रति, सारे प्राणियों के प्रति दया ही मानव—जाति के समस्त सत्कर्मों का पथ—प्रदर्शक, प्रेरक है और ये सब 'मैं ही विश्व हूं, यह विश्व एक अखण्ड स्वरूप है', इसी सनातन सत्य के विभिन्न भाव मात्र हैं।

यदि ऐसा न हो, तो दूसरों का हित करने में भला कौन—सी युक्ति प्रदर्शक, प्रेरक है? मैं क्यों दूसरों का उपकार करूं? परोपकार करने को मुझे कौन बाध्य करता है? सर्वत्र समदर्शन से उत्पन्न जो सहानुभूति की भावना है उसी से यह बात प्रमाणित होती है। अत्यंत कठोर हृदय वाला भी यदा—कदा दूसरों के प्रति दया से भर जाता है। और तो और जो व्यक्ति यह आपात प्रतीयमान व्यक्तित्व वास्तव में भ्रम मात्र है, इस भ्रमात्मक व्यक्तित्व में आसक्त रहना अत्यंत हीन कार्य है, ये सब बाते सुनकर भयभीत हो जाता है, वही आपसे कहेगा कि संपूर्ण आत्मत्याग हो जाने पर क्या शेष रह जाता है? आत्मत्याग का अर्थ है, इस मिथ्या 'व्यक्तित्व या आत्मा' का त्याग, सब प्रकार की स्वार्थपरता का त्याग। यह अहंकार और ममत्वपूर्ण कुसंस्कारों के फल हैं और जितना ही इस 'व्यक्तित्व' का त्याग होता चला जाता है, उतनी ही आत्मा अपने नित्यस्वरूप में, अपनी पूर्णता में अभिव्यक्त होती है। यही वास्तविक आत्मत्याग है और यही समस्त नैतिकता का आधार है, केंद्र है। मानव इसे जाने या न जाने, समस्त जगत् धीरे—धीरे इसी दिशा में जा रहा है ज्यादा या कम मात्रा में इसी का अभ्यास कर रहे हैं। बात केवल इतनी सी है कि अधिकांश लोग अचेतन पूर्वक कर रहे हैं। हम सभी इसे चेतन पूर्वक करें, यही आवश्यकता हे। यह 'मैं और मेरा' प्रकृत आत्मा नहीं, किंतु केवल एक सीमाबद्ध भाव है, यह जानकर हम सभी मिथ्या व्यक्तित्व को त्याग दें। आज जो मानव नाम से परिचित है वह जगत् के परे उस अनंत सत्ता की एक झलक मात्र हे, उस सर्वस्वरूप अनंत प्रकाश का स्फुलिंग मात्र है। किंतु वह अनंत ही उसका यथार्थ है।

आप सभी फिर प्रश्न करते हैं कि इस ज्ञान का फल—इस ज्ञान की उपयोगिता क्या है? आधुनिक युग के सभी विषयों को उतनी उपयोगिता के मापदंड से नापा जाता है अर्थात् संक्षेप में यह कि इससे कितने धन का लाभ, मान—पद आदि का लाभ होगा? लोगों को इस प्रकार प्रश्न करने का क्या अधिकार है? क्या सत्य को भी उपकार या धन, पद, मान से ही नापा जाएगा? मान लें कि इसकी कोई उपयोगिता नहीं है तो क्या सत्य इससे कम हो जाएगा, खो जाएगा या मिट जाएगा? उपयोगिता सत्य की कसौटी नहीं है। जो भी हो, इस ज्ञान में ही समस्त उपकार तथा प्रयोजन भी है मानव समुदाय का। सुख तो केवल आत्मा में ही मिलता है। अतएव आत्मा में इस सुख की प्राप्ति ही मानव—जाति का सबसे बड़ा प्रयोजन है और एक बात यह है कि अज्ञान ही सब दुखों की जननी है और मूलभूत अज्ञान तो यही है कि जो अनंत स्वरूप है, वह अपने को सान्त मानकर रोता है, चिल्लाता है। समस्त अज्ञान का आधार यही है कि हम अविनाशी, नित्य, शुद्ध, पूर्ण होते हुये भी सोचते हैं कि हम छोटे—मोटे मन है, हम छोटी—मोटी देह मात्र हैं। यह सारे स्वार्थपरता की जननी है। अतः पहले कही गई ज्ञान की प्राप्ति से लाभ यह होगा कि यदि वर्तमान मानव—जाति का बिलकुल छोटा सा अंश भी इस क्षुद्र, संकीर्ण और स्वार्थी भाव का त्याग कर सके तो कल ही संसार स्वर्ग में बदल जाएगा। आत्मा के ज्ञान के बिना जो कुछ भौतिक—ज्ञान अर्जित किया

जाता है, वह सब अग्नि में घी डालने के समान है। उससे दूसरों के लिए प्राण उत्सर्ग कर देने की बात तो दूर, स्वार्थपरक लोगों को दूसरों की चीजें हर लेने के लिए, दूसरों का शोषण, रक्त पर फलने–फूलने के लिए एक और साधन सुविधा मिल जाती है।

एक प्रश्न और खड़ा होता है–क्या यह व्यावहारिक है? वर्तमान समाज में क्या इसे कार्यरूप में परिणत किया जा सकता है? इसके उत्तर में कि 'सत्य, प्राचीन अथवा आधुनिक किसी समाज का सम्मान नहीं करता। समाज को ही सत्य का सम्मान करना पड़ेगा, अन्यथा समाज नष्ट हो जाएगा। समाजों को सत्य के अनुरूप ढाला जाना चाहिए, सत्य को समाज के अनुसार अपने को ढालना नहीं पड़ता। यदि निःस्वार्थपरता के समान महान् सत्य समाज में कार्यरूप में परिणत न किया जा सकता हो, तो ऐसे समाज को छोड़कर वन में चले जाना ही बेहतर है (यथार्थ में वनों, पर्वत–कंदराओं और एकांतवास करने वाले साधु–संतो, ऋषि–मुनियों, योगियों के अंतःकरण में यही तथ्यानुभाव या सत्यानुभाव है और व्यवहार में रूपांतरित किया इन लोगों ने)। इसी का नाम साहस है। साहस दो प्रकार का होता है। एक तो साहस यह है– तोप के मुंह में दौड़ जाना अर्थात् राष्ट्ररक्षा। दूसरे प्रकार का साहस है– आध्यात्मिक विश्वास और विकास। यदि हम सभी ऐसे समाज की रचना नहीं कर सकते, जिसमें सर्वोच्च सत्य को स्थान मिले तो अपने बाहुबल की, अपने पाश्चात्य अंधानुकरण की श्रेष्ठता की बात करना ही व्यर्थ है। मेरा यही मत है–वही समाज सबसे श्रेष्ठ है, जहां सर्वोच्च सत्य (आत्मज्ञान, आत्मसंयम और आत्मत्याग) को कार्य रूप में परिणत किया जा सकता है। और यदि समाज इस समय उच्चतम सत्य को स्थान देने में समर्थ नहीं है, तो उसे बनाएं और हम सभी जितना शीघ्र ऐसा कर सकें, उतना ही अच्छा है। यही धर्म है और मानव–जाति का लक्ष्यपूर्ण उद्देश्य है।

हे मेरी आत्मा के स्वरूप भाई–बहनों! उठें, आत्मा के संबंध में जागृत हों, सत्य में विश्वास करने का साहस करें, सत्य के अभ्यास का साहस करें। अपने में वह साहस लाएं, जो न मृत्यु से डरे बल्कि उसका स्वागत करे। जो मानव–जाति को यह ज्ञान करा दे कि वह आत्मा है और सारे जगत् में ऐसी कोई वस्तु भी नहीं है, जो उसका विनाश कर सके, तब आप मुक्त हो जाएंगे। तब आप अपनी वास्तविक आत्मा को जान लेंगे। इस आत्मा के संबंध में पहले श्रवण (सुनना) करना चाहिए, फिर मनन (विचार विमर्श) और तत्पश्चात् निदिध्यासन (अभ्यास व्यवहार)।

आजकल समाज में एक और प्रवृत्ति देखी जा रही है और वह है–कार्य पर अधिक जोर देना और विचार की निंदा करना। कार्य अवश्य अच्छा है परंतु वह भी तो विचार या चिंतन से उत्पन्न होता है। शरीर के माध्यम से शक्ति की जो छोटी–छोटी अभिव्यक्तियां होती हैं, उन्हीं को कार्य कहते हैं। बिना विचार या चिंतन से कोई भी कार्य नहीं हो सकता। अतः मस्तिष्क को ऊँचे–ऊँचे विचारों, आदर्शों से भर लें और दिन–रात उनको अपने मन के सम्मुख रखें। ऐसा होने पर ही इन्हीं विचारों से बड़े–बड़े कार्य (जोकि सारी मानव जाति के लिए कल्याणकारी सिद्ध होंगी) होंगे। अपवित्रता की कोई बात मन में न लाएं प्रत्युत् (बदले में) मन से कहें कि मैं शुद्ध, पवित्रस्वरूप हूं। आप आत्मा हैं, शुद्ध, अनंत और पूर्ण हैं। विश्व की अनंत–शक्ति (महाशक्ति) आपके भीतर है।

हम सभी मानवों को मानव के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो और उसे सबल बनाएं, जिनसे उनका कुछ यथार्थ हित हो। सच्चिन्तन के स्रोत में शरीर को बहा दें, अपने मन से सर्वदा कहते रहें कि मैं ही वह हूं, मैं ही वह हूं। आपके मन में दिन–रात यह बात संगीत की भांति झंकृत होती रहे और मृत्यु के समय भी आपके अधरों पर 'सोऽहम्–सोऽहम्' प्रस्फुटित हो। यही सत्य है। जगत् की अनंत शक्ति आपके भीतर है। साहसी बनें। सत्य को जानें और उसे अपने जीवन में परिणत करें। लक्ष्य भले ही बहुत दूर है, पर उठें, जागें और जब तक लक्ष्य तक न पहुंचे, तब तक न रूकें। आत्म–ज्ञान के यात्रा–पथ के पथिक बनें और अपनी आत्मा को प्रकाशित करें। बस, इतना ही और हम सभी उस परम– तत्वाधार के समक्ष शुभ–संकल्प की भावना को आत्मसात् कर लें।

राधास्वामी!

आपका फ़कीरमय मानव

शंकराचार्य की माया तथा विश्व की धारणा
परम सन्त हुजूर मानव दयाल
डा0 ईश्वर चन्द्र शर्मा जी
महाराज द्वारा विचारित

सबसे पहले मैं आपको यह बतलाना चाहता हूं कि शंकराचार्य ने अपने भाष्यों में यह कभी नहीं कहा, जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि यह विश्व अवास्तविक है, मिथ्या है। इसके विपरीत, उनका उद्देश्य तो इस भ्रान्ति को दूर करना ही रहा है कि विश्व अवास्तविक है, अथवा निर्वाण का अर्थ शून्याता है। शंकर ने हमारा घ्यान उपनिषदों के दो ऐसे परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले महावाक्यों की ओर आकर्षित किया है जो वास्तव में विरोधी न होकर एक दूसरे के पूरक हैं। यह दो महावाक्य हैं–

1. 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' अर्थात् ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है या झूठा है।

2. 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' अर्थात् सब कुछ ब्रह्म ही है।

इन दोनो परस्पर विरोधी दिखने वाले कथनों से साधारण जन आपत्ति कर सकता है। यदि इन कथनों का विश्लेषण करके, उनकी तर्कात्मक व्याख्या की जाए, तो यह महावाकय परस्पर विरोधी सिद्ध नहीं होंगे। वास्तव में पहले महावाक्य का संबंध ब्रह्म के विश्वातीत अंग से है और दूसरा उसके विश्वव्यापी अंग से है। उपनिषदों में स्पष्टरूप से लिखा है कि ईश्वर अथवा ब्रह्म ब्रह्माण्ड का विश्वव्यापी कारण, आधार तथा उद्देश्य है। सभी वस्तुएं ब्रह्म से उत्प" होती हैं, ब्रह्म से ही पोषण प्राप्त करती हैं और अन्त में, ब्रह्म में ही विलीन हो जाती हैं। इस दृष्टि से ब्रह्म सर्वव्यापी, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान वह सत्ता हे, जो सम्पूर्ण व्यक्त जगत् का अव्यक्त आधार है। वह सृष्टि का भौतिक तथा निमित्त कारण है। देशकालिक जगत् ब्रह्म में स्थित है और इस दृष्टि से ब्रह्म ही है। वही सत्, चित् और आनन्द तत्व, जो जड़ जगत् में स्वपित है, वनस्पति जगत् में स्वप्नावस्था में है और प्राणी जगत् में चेतन अवस्था में है, मानव में आत्मचेतन हो जाता है। किन्तु इसके साथ–साथ वह सान्त विश्व का कारण भी है, गति का गतिशून्य आधार भी है, व्यक्त जगत् की अव्यक्त पृष्ठभूमि है तथा व्यक्तिगत चैतन्य जीवों की विश्वव्यापी आध्यात्मिक चेतना है। इसलिए उसे विश्व के समकक्ष नहीं माना जा सकता, चाहे वह विश्व कितना भी विशाल क्यों न हो। इस भ्रान्ति को दूर करने के लिए ही उपनिषदों कहा गया है कि ब्रह्म न काल है, न देश है, न कारण है, न कार्य है, न गति है, न स्थिति है, न प्रकाश है, न अन्धकार है, न उष्ण है, न शीत है, न सुख है, न दुख हे। संक्षेप में वह किसी भी प्रकार के गुणों अथवा उपाधियों से सीमित नहीं है। वह देखा नहीं जा सकता यद्यपि वह हमारी दृष्टि का एकमात्र कारण है। उसे सुना नहीं जा सकता यद्यपि वह हमारे श्रवण का कारण हे, उसे स्पर्श नहीं किया जा सकता, यद्यपि हम उसी के द्वारा ही स्पर्शज्ञान प्राप्त करते हैं। उसे चखा नहीं जा सकता, यद्यपि वह स्वाद का कारण है। उसे सूंघा नहीं जा सकता, यद्यपि प्राणसंवेदना उसी के द्वारा ही प्राप्त होती है।

विश्वव्यापी तथा विश्वातीत आधारभूत सत्ता की यह निषेधात्मक प्रतीत होने वाली व्याख्या, यह प्रमाणित करती है कि ब्रह्म को भाषा के द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। ब्रह्म विश्वव्यापी तथा विश्वातीत बाह्यात्मक सत्ता है, जबकि आत्मा, कर्त्ता, द्रष्टा, भोक्ता होने के कारण अन्तरात्मक सत्ता है, जो असंदिग्ध और स्वयंसिद्ध है। इसमें तनिकमात्र भी संदेह नहीं है कि आत्मा और ब्रह्म का तादात्म्य एक ऐसा तथ्य है, जो पहिले से ही उपस्थित है। परंतु उसका ज्ञान एक भूली हुई वस्तु के ज्ञान की भांति है। जिस प्रकार एक व्यक्ति, जो इस बात को भूल गया हो कि उसने सोने का हार अपने गले में पहना हुआ है तो उसे हार की उपस्थिति का ज्ञान तभी होता है जब वह अपने गले में उस हार को देख लेता है। ठीक इसी प्रकार, भूली हुई आत्मा ब्रह्म से तादात+म्य का अनुभव करती है। ऐसे ज्ञान में हार पहनने वाला व्यक्ति हार की उपस्थिति से उस समय तक अनभिज्ञ रहता है जब तक कि कोई दूसरा व्यक्ति उसका ध्यान उसी के गले में पड़े हुए हार की ओर नहीं दिलाता। इसलिए 'तत् त्वम् असि', अर्थात् 'तू वही ब्रह्म है' एक ऐसा कथन है, जिसका उच्चारण गुरू के द्वारा किया जाता है और जिसको सुनकर शिष्य का अज्ञान नष्ट हो जाता है। इस संदर्भ में मैं यहां छान्दोग्य उपनिषद् की व्याख्या देना चाहता हूं:–

उद्दालक आरूणि एक विद्वान् ब्राह्मण था। उसने यह अनुभव किया कि उसका पुत्र श्वेतकेतु, जो अपने गुरू से शिक्षा प्राप्त करके घर लौटा था और कुछ दम्भी हो गया था। उसने (उद्दालक आरूणि ने) अनुमान लगाया कि उसके पुत्र ने ब्रह्म और आत्मा के तादात्म्य का ज्ञान प्राप्त नहीं किया। अतः उसने श्वेतकेतु को ब्रह्मज्ञान देने का उत्तरदायित्व स्वयं संभाला। उसने श्वेतकेतु को पहिले यह बताया कि ब्रह्म सर्वव्यापी एवं विश्वव्यापी सत्ता है, जो ब्रह्माण्ड का आधार है। ब्रह्म की यह विश्वातीत व्याख्या करते हुए जब उद्दालक ने निषेधात्मक पदों का प्रयोग किया, तो उसने सोचा कि कहीं उसका पुत्र श्वेतकेतु ब्रह्म को शून्य न समझ ले, इसलिए उसने तुरंत उसे कहा कि ब्रह्म और आत्मा अभिन्न हैं।

उद्दालक आरूणि वार्तालाप एक ऐसी आधारभूत सत्ता की मान्यता से आरम्भ करता है, जो मानसिक अथवा आध्यात्मिक है, क्योंकि उसमें विचार की ऐक्यसत्ता है जो सत् है। इसके पश्चात् उद्दालक करता है कि किस प्रकार सम्पूर्ण विश्व, उसकी एक अभिव्यक्ति है। आध्यात्मिक तत्व परिपूर्ण है, सभी वस्तुएं जिनका अस्तित्व है, उसी से उत्पन्न हुई हैं। उद्दालक इतना कहने के बाद शीघ्रता से आधारभूत सत्ता का श्वेतकेतु की आत्मा से तादात्म्य करता है और कहता है, 'तत् त्वम् असि श्वेतकेतु' 'वह तुम हो श्वेतकेतु।' इस वाक्य का उद्देश्य श्वेतकेतु को यह बतलाना हे कि विश्व के आधारभूत स्त्रोत की सत्ता असंदिग्ध है।

उद्दालक आरूणि ने स्वयं ब्रह्म के अस्तित्व की अनुभूति कर ली है, जबकि उसका युवा पुत्र श्वेतकेतु आत्मज्ञान से परिचत नहीं है। वह श्वेतकेतु को इस बात के समझने में सहायता देता है कि बाह्यात्मक विश्वव्यापी और विश्वातीत ब्रह्म का वास्तविक अस्तित्व है। पिता उद्दालक, जिसने कि स्वयं आत्मानुभूति कर ली है, वह अपने पुत्र श्वेतकेतु के अज्ञान का भी अन्त कर देना चाहता है जो कि उने भौतिक जीवात्मक मानसिक अंग को ही आत्मा समझता रहा है और समझता है कि उसका व्यक्तित्व देश काल से सीमित है।

आध्यात्मिक चेतना का यह ज्ञान उपनिषद् काल में गुरू और शिष्य के परस्पर व्यक्तिगत सम्पर्क के कारण संभव था। शंकराचार्य के समय आत्म–शिक्षा प्रदान करने वाले आश्रमों का अभाव था। वह काल विद्वान दार्शनिकों व चिन्तकों के बीच वाद–विवाद तथा बोद्धिक प्रतियोगिता का काल था। अतः शंकराचार्य ने माया अथवा अविद्या की ऐसी धारणा को प्रतिपादित किया जो कि एक ओर तो विश्व की वास्तविकता की समस्या को और दूसरी ओर सान्त तथा सीमित जीव के अनन्त पक्ष की समस्या का समाधान कर सकती थी। शंकराचार्य ने माया को ब्रह्म अथवा ईश्वर को विवर्त्त उत्पन्न करने वाली, ऐसी शक्ति माना है, जिसकी तुलना एक जादूगर की, उस शक्ति से की जा सकती है, जो कि एक मुद्रा को अनेक मुद्राओं के रूप में दिखा सकता है। जब तक कि जादूगर के विवर्त्त का प्रभाव बना रहता है, तब तक दर्शक एक मुद्रा के स्थान पर कई मुद्राएं देखते हैं। किन्तु जब कोई व्यक्ति जादूगर की चतुराई को जान लेता है, तब तो वह अनेक की जगह एक ही मुद्रा को देखने लगता है। जब जादूगर अपनी मोहक शक्ति के प्रभाव का अन्त कर देता है तो लोग यह पहिचान लेते हैं कि मुद्रा तो एक ही थी, अनेक नहीं। इसी प्रकार साधारण बुद्धि के लोग अविद्या या माया के प्रभाव के कारण विश्व को एक न देखकर अनेक रूपों में देखते हैं। इनके लिए एक ही ब्रह्माण्ड विविध विश्व में परिवर्तित हो जाता है, जैसे कि हम भ्रम के प्रभाव में एक रस्सी को सर्प समझ बैठते हैं। जिस प्रकार सर्प उस रस्सी का विवर्त्त है, ठीक उसी प्रकार विश्व का अनेकत्व उस–अद्वैत ब्रह्म का एकत्व है, जो विश्व के अन्तस् में है। इसी कारण शंकराचार्य के दृष्टिकोण को विवर्त्तवाद कहा गया है।

शंकराचार्य यह प्रमाणित करना चाहते हैं कि विश्व ब्रह्म का विवर्त्त होने के नाते, न तो निरपेक्षरूप से अवास्तविक है क्योंकि वह केवल विवर्त्त है और न ही वह निरपेक्षरूप से अवास्तविक है क्योंकि वह खरगोश के सींगों या बांझ स्त्री के पुत्र की भांति अवास्तविक, काल्पनिक है। वह सापेक्ष रूप में वास्तविक है –खरगोश के सींगों जैसे काल्पनिक तत्वों की तुलना में वास्तविक है, किन्तु निरपेक्ष ब्रह्म की सत्ता की तुलना में, वह उसी प्रकार मिथ्या प्रमाणित होता है, जिस प्रकार कि भ्रम से प्रभावित पुरूष के लए आधारभूत रस्सी को वास्तविकता की चेतना हो जाने के बाद, सर्प मिथ्या प्रमाणित होता है।

शंकराचार्य के अनुसार माया की दो क्रियायें हैं, पहिली आवरण, जिसके द्वारा वास्तविकता को आच्छादित किया जाता है दूसरी क्रिया है विक्षेप, जिसके द्वारा वास्तविकता विवर्त्त में परिवर्तित हो जाती है। 'सर्व खलु इदं ब्रह्म' का कथन इसलिए संगत है कि सर्प का भ्रम वास्तविक रस्सी का आभास होने के कारण वास्तविक है। विश्व की विविधता इसलिए वास्तविक है कि वह अद्वैत ब्रह्म का विक्षेप है। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' का कथन कि माया के समाप्त होने पर, ब्रह्मज्ञान के उत्पन्न होने पर, द्रष्टा के लिए विश्व की विविधता, उसी प्रकार अदृश्य हो जाती है जिस प्रकार कि अज्ञान के प्रभाव के नष्ट हो जाने से, ब्रह्मज्ञान के उत्पन्न होने पर, द्रष्टा के लिए विश्व की विविधता, उसी प्रकार अदृश्य हो जाती है, जिस प्रकार कि अज्ञान के प्रभाव के नष्ट हो जाने पर रस्सी का ज्ञान हो जाने पर सर्प अदृश्य हो जाता है। अतः विश्व न तो पूर्णतया अवास्तविक है न वास्तविक है परंतु सापेक्षरूप से वास्तविक है।

शंकराचार्य की माया की धारणा, उन दो कथनों का समन्वय करती है, जिसमें यह कहा गया है कि 'सब कुछ ब्रह्म है' और ब्रह्म ही सत्य है और सब कुछ मिथ्या है।' इसके साथ ही साथ आत्मा और ब्रह्म के तादात्म्य की व्याख्या भी करती है। शंकराचार्य के तत्व—विज्ञान का सारांश यह है कि मायायुक्त ब्रह्म विविध जगत् है और अविद्यायुक्त ब्रह्म, आत्मा अथवा व्यक्तिगत जीव है। अनुभवात्मक जीव जो कि निरपेक्ष ब्रह्म का अन्तरात्मक आभास है, दोनों ही ब्रह्म हैं। वे दोनो एक ही आध्यात्मिक सत्ता की अभिव्यक्ति हैं जो उसी से ही उत्पन्न होती है और अन्त में उसी में ही विलीन हो जाती हैं। विश्व के सीमित दिखने का कारण अविद्या अथवा माया ही है। आचार—शास्त्र का संबंध जीव का पुनरूत्थान है क्योंकि वह ही जीव उसकी आध्यात्मिक महानता पुनः प्रदान करता है। जीव (अथवा आत्मा) जो कि अनन्त, सत्, चित् और आनन्द है सांसारिक दुखों का अनुभव इसलिए करता है क्योंकि वह अविद्या या माया के कारण अपनी आध्यात्मिक क्षमता को भूल जाता है। अविद्या उसके अन्तस् में स्थित आधारभूत सत्ता को ढक देती है तथा विक्षेप करती है। निरपेक्षता तथा पहिले से ही उपस्थित आध्यात्मिक पूर्णता के ज्ञान के उदय होने के कारण, उस मोक्ष की प्राप्ति होती है जिसे अद्वैत वेदान्त ने आत्मा ओर ब्रह्म का तादात्म्य माना है। किन्तु इस तादात्म्य से पूर्व जो कि प्रायः शरीर के नष्ट होने के बाद ही प्राप्त होता है, जीव जीते—जी यानि कि इस शरीर में रहते हुए भी प्राप्त कर सकता है। इस अवस्था को जीवन्मुक्ति की अवस्था कहते हैं।

शंकराचार्य के अनुसार, 'व्यावहारिक दृष्टि से यह जगत् वास्तविक है, परंतु पारमार्थिक दृष्टि से यह मिथ्या है। इसी प्रकार ही व्यावहारिक दृष्टि ब्रह्म अथवा ईश्वर सर्वव्यापी है। वह विकास और विनाश का भौतिक तथा निमित्त कारण है तथा पारमार्थिक दृष्टि से वह सत्य, ज्ञान, अनन्त और निर्गुण ब्रह्म है। इसी प्रकार, आत्मा भी व्यावहारिक दृष्टि से सीमित तथा ऐसा व्यक्तिगत जीव है, जो विश्व की विविधता और जीवों की बहुलता का अनुभव करती है।' शंकराचार्य के दृष्टिकोण के अनुसार, 'मानव उच्चतम सत्ता है तथा उसका मूलभूत लक्षण एक ओर तो विश्व के यथार्थवादी और बहुवादी स्वभाव के अनुसार व्यवहार कर सकता है और दूसरी ओर वह दृश्य विविध जगत् के आधारभूत आध्यात्मिक एकत्व को अनुभूत कर सकता है।' शंकराचार्य के अनुसार, व्यक्ति कर्मों के फल के संबंध में, ईश्वर के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण के सिद्धान्त को तभी अपना सकता है, जब वह आत्मा तथा ब्रह्म के तादात्म्य का ज्ञान रखता हो।' शंकर कहते हैं, 'नैतिक नियम जो कि बुद्धि की उत्पत्ति है, न ही केवल सांसारिक समृद्धि के लिए उपयोगी है किंतु उस यथार्थ ज्ञान का भी साघन है, जो अन्त में मोक्ष में परिवर्तित हो जाता है।

0000

परमसंत परमदयाल पं0 फकीर चन्द जी महाराज एवं परमसंत मानव दयाल डा0 आई0 सी0 शर्मा जी महाराज के बीच पत्राचार

मानवता मंदिर
होशियारपुर
29.10.1980

दयाल शर्मा
राधास्वामी!

आपके हिन्दी के दो चैप्टर आज चन्द आदमियों के बीच में किसी ने पढ़कर सुनाए। तबीयत व मेरा दिमाग कहीं का कहीं चला गया और मुझे यकीन हो गया कि जिस मिशन को पूरा करने का संस्कार मुझे दिया गया था और जिसे मैं ईल्मी लियाकत से महरूम होता हुआ भी अपने टूटे–फूटे अलफ़ाज में जाहिर करता रहा हूं, उसका फैलाव तुम्हारी जाते पाक से होगा। मुझे यकीन है कि चन्द सालों के बाद वह सत्य का धर्म, मानव धर्म, संसार का एक आदर्श मजहब बनेगा। मैं खुश हूं। अगर मेरा चोला आज भी छूट जाए तो मैं बहुत खुशनसीब हूंगा। दाता ने काम दिया था। वह फैलेगा, फैलेगा, फैलेगा। खुश रहो। यह मेरी दिली दुआ है। लम्बी उमर हो। इस मिशन को चलाते रहो।

(पिता जी के इन शब्दों से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि उनमें किसी तरह की कमी थी। लोग पिताजी के महान व्यक्तित्व को समझ नहीं सके। वह सत्य के अवतार थे, उन्होंने सत्य को आम जनता तक पहुंचाने के लिए अपने अनुभवों को सरल भाषा में कहा है। पिछले साल जैन मुनि सुशील कुमार जी जो पिता जी से मिलने के लिए मानवता मंदिर होशियारपुर आये थे ने बातचीत करते हुए कहा, "मेरे परम गुरू दाता दयाल जी तो बहुत ही विद्वान थे। मैं तो अशिक्षित हूं।" इस पर विश्व धर्म परिषद के संस्थापक आचार्य मुनि सुशील कुमार जी ने हंसते हुए कहा, "महाराज जी! यदि आप जैसे अशिक्षित व्यक्ति दो–चार और पैदा हो जाएं जो विश्व का पूरा कल्याण हो जाए।"

मैंने 1978 में अमेरिका में उनसे एक बार पूछा था, "हे परमतत्व! इस शरीर से इस समय आपका निज धाम से कितनी निकटता का संबंध है।" पिता जी ने मुझे जबाब दिया, "मानव दयाल! जब एक बुलबुला फट कर पानी से मिल जाता है, तो उसके फटने तथा पानी में मिलने में क्षण के कुछ हिस्से की अवधि होती है; मैं उस बुलबुले की तरह चैतन्य के समुद्र में फट चुका हूं और उसमें मिल रहा है। अब मेरे शरीर का अस्तित्व नाम मात्र का है।")

000000

मानवता मंदिर, होशियारपुर
नवम्बर, 1968

प्रियतम आई0 सी0 शर्मा!
राधास्वामी!
तुम्हारे कृपा–पत्र के लिए धन्यवाद।

इस समय 82 साल का हूं। यह मेरी स्वाभाविक इच्छा है कि कोई आत्मज्ञानी पुरूष, जो तुम्हारी तरह युवा हो और लग्न वाला हो मेरा चोला छोड़ने के बाद मानवता मन्दिर में– मेरे उद्देश्य को आगे बढ़ावे। ऐसा व्यक्ति खोजना सरल नहीं है, जो हर प्रकार से योग्य हो, जो सच्चे धर्म की सरल और वैज्ञानिक व्याख्या सीधे ढंग से ऐसी कर सके कि हर कोई उसके सार को, और भाव को समझ सके। मैंने कभी धन, पद, या ख्याति प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं किया, इसलिए यह आवश्यक है कि जो आदमी मेरा उत्तराधिकारी हो, वह भी ऐसा ही करे।

आपको मेरे उपदेशों का पूरा ज्ञान देने के लिए मैंने उर्दू में देहली गजट की कुछ प्रतियां आपको समुद्री डाक से भेजी हैं। इनमें मेरे सत्संग है जो सनातन या मानव धर्म पर उज्जैन के कुम्भ के मेले में दिए गए थे। मेरे विचार में ये आपको तीन महीने में मिल जायेंगे।

जब आपको मेरी इच्छा पर विचार करने का काफी समय प्राप्त हो, कृपा करके मुझे साफ–साफ अपने विचार लिखें। मैं इस मौके पर स्पष्ट कहना चाहता हॅं कि आज तक मैंने किसी व्यक्ति को कोई भी

काम उसकी स्वतत्रं इच्छा के विरूद्ध करने को नहीं कहा। इसलिए यदि आप चाहते हैं कि आपको इस काम के लिए नियुक्त किया जाय तो यह निश्चय करलें कि आपकी अनुमति जो आपकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों और संतों जैसे गुणों के अनुसार है, किसी तरह भी आपकी घर की शान्ति के विरूद्ध नहीं हो।

कृपा करके जब आप जुलाई 1969 में भारत आएं, तो मुझे मिलने का शुभ अवसर दें। उस समय मुझे तुम्हारे मन व आत्मा को टटोलने का अच्छा मौका मिलेगा कि क्या कुदरत ने तुम्हें वे गुण अता किए हैं, जिन्हें पूरी तरह से उभार कर इस प्रकार का काम सफलता से कराया जा सकता है। मेरे लिए यह बहुत आवश्यक है कि मैं पात्र व्यक्ति का पूरा–पूरा परीक्षण कर लूं और उसके पश्चात् ही निर्णय करूं। यदि मेरा पूरा परीक्षण व निरीक्षण यह स्पष्ट करेगा कि वह आवश्यक गुण तुम में स्पष्ट या अस्पष्ट रूप में मौजूद हैं, तो मैं उन्हें उभार कर इस योग्य बना सकता हूं कि तुम इस काम को निर्भय होकर कर सको। दाता दयाल ने मेरे साथ ऐसा ही किया था और मैं भी उस व्यक्ति के साथ वैसा ही करना चाहता हूं। जो मेरे चोला छोड़ने के बाद मेरे काम (मिशन) को चलाने के योग्य हो। मुझे यह लिखने की जरूरत नहीं कि अंग्रेजी भाषा का ज्ञान, भाषण देने की योग्यता, तेज बुद्धि आदि के साथ–साथ इस काम के करने के लिए मन की पवित्रता, सच्ची लगन, भक्ति, श्रद्धा और इस काम में लीन हो जाने के गुण भी बहुत जरूरी हैं। यदि ये सभी गुण आपमें असली प्रकार के हैं तो ठीक है नहीं तो ऐसे गुणों को विकसित करने का काम जारी रहना चाहिए।

अन्त में मैं यह बता देना चाहता हूं कि यह कोई जल्दी का काम नहीं है। मैं तुम्हारी इस बात को मानता हूं कि तुम्हें कुछ समय तक अमेरिका में रहना चाहिए, जिससे तुम अपने व अपने परिवार की जरूरतों के लिए साधन जुटा लो। सद्भावनाओं के साथ–आपका

फकीर 00000

उपरोक्त पत्र के जबाब में मानव दयाल जी महाराज ने अपने परम सद्गुरू परम दयाल जी को निम्नलिखित पत्र लिखा–

लिन्चबर्ग वर्जीनिया
19 सितम्बर, 1968

पूज्य संतसतगुरू वक्त फ़कीर दयाल जी महाराजः

राधास्वामी!

मुझे अभी–अभी आपका दया से भरा बहुत ही प्यारा पत्र मिला। कोई भी विश्वास नहीं करेगा कि आप 82 साल के हो गए हो। मेरे एक ताऊ जी हैं, जो इस समय 112 साल के हैं और वह गाजियाबाद में रहते हैं। हम सब यही चाहते हैं कि आप हमारे साथ लम्बे समय तक रहें। मालिक हमारी इस इच्छा को जरूर पूरा करेंगे। आपकी आध्यात्मिक या रूहानी शक्ति का केवल भारत ने ही नहीं, बल्कि सारे विश्व ने लाभ उठाना है। मुझे ज्ञात है कि आप कभी कोई काम ऐसा नहीं करते, जिसके लिए आपको मार्ग से बाहर जाना पड़े। मुझे आपकी पुस्तकें मेरी बहन के पति श्री रमेश चन्द्र शर्मा से उनके घर विनयनगर में मिली थी।

मैं आज एक बात जानना चाहता हूं जब मैंने उर्दू में वह कविता पढ़ी जो महर्षि शिवब्रत लाल जी ने आपको संबोधित करके लिखी थी और जिसकी पहली लाइन में लिखा था "तू तो आया नर देही में धर फ़कीर का भेषा।" उसको पढ़ कर मेरे रोगटे क्यों खड़े हुये थे? वह कविता मुझे बहुत ही प्यारी लगती है। कृपया मुझे वह किताब जरूर भेंजे जिसमें यह कविता लिखी है। मैं आपकी देहली गजट की कापियों की इंतजार कर रहा हूं। मैं साधना में अभी बहुत आगे नहीं बढ़ा हूं। मैं अभी केवल एक घन्टा ही बैठता हूं, साधना के लिए।

मैं आपको यकीन दिलाता हूं कि मैं आपकी हर सेवा, जिसके योग्य आप मुझे समझते हैं करने के लिए तैयार हूं। मैं आपकी इस बात को भी मानता हूं कि मुझे इस विषय में कोई अंतिम निर्णय लेने के लिए समय चाहिए। आप तो सब जानते हैं। मेरे दोनों लड़के अमेरिका में ही पढ़ते हैं। मुझे उनकी पढ़ाई पूरी करने के लिए समय–समय पर कई बार अमेरिका में आना पड़ेगा। आपकी दया से मुझे रूहानी तरक्की की वचपन से चाह है। मुझे रूपये–पैसे से मोह नहीं और न ही नाम और शोहरत की कोई इच्छा है। किन्तु फिर भी बच्चों के प्रति अपना कर्त्तव्य निभाने के लिए कुछ साल अमेरिका में

पढ़ाना चाहता हूं और कुछ पुस्तकें लिखना चाहता हूं। मेरी यह इच्छा है कि मैं आपका काम करने के लिए दुनियावी चीजों की कुर्बानी दे दूं। लेकिन यह सब कब होगा इसके बारे में तो आप ही जानते हैं। आपने ही मेरा निरीक्षण करना है और मुझे बेहतर बनाना है।

मैं आपके सामने बैठ कर आपसे बातें करूंगा आप कृपा करके अपना अधिक से अधिक आशीर्वाद मुझे भेजें। एक सप्ताह के अन्दर मैं उस शिष्ट मण्डल का प्रोग्राम भेज दूंगा, जो आपको देहली में फरवरी या मार्च 1969 में मिलना चाहता है। इससे हमें कई प्रकार का लाभ होगा। मेरी पत्नी की भी आध्यात्मिक उन्नति करनी है। वह भले ही अधिक धन चाहती हो, मुझे धन की बिलकुल परवाह नहीं। फिर भी तमाम जरूरतें यहां कुछ साल तक काम करने से पूरी हो सकती हैं। ऐसे लगता है कि मुझे यहां रहना ही पड़ेगा, लेकिन मैं कोई फैसला लेने से पहले भारत आऊँगा। यदि मुझे यहां आपका काम करना है तो यहां ठहरने की आज्ञा दें। मैं आपको विस्तार में फिर लिखूंगा।

मुझे आशा है कि आप मुझे सदा अपना आशीर्वाद भेजते रहेंगे ताकि मैं आध्यात्मिक (रूहानी) उन्नति की ओर बढ़ता चला जाऊँ। आपके दर्शन करने पर ही मैं आपको सब खोल कर बता सकूंगा। किन्तु इस समय भी मेरी सेवाएं आपको समर्पित हैं। आपने उस छोटे कागज के टुकड़े (एक रूपये का नोट) पर दस्तखत करके मुझे धनी बनने की आशीश दी थी, उसे मैं सदा अपने पास रखता हूं। भगवान की दया से धन की कभी नहीं रही। आप मुझे कब आज्ञा देंगे कि उस नोट को मैं अपनी पत्नी को सौंप दूं। आप मुझ से बेहतर जानते हैं। भाग्य को आपकी आशीशों की बहुत जरूरत है। उसका दिल बहुत ही कोमल है। अभी वह शायद इसके लिए पूरी तरह तैयार नहीं है। इसलिए मैं काफी समय तक इस बात को उसे बताऊँगा नहीं। कृपया आप अपना आशीर्वाद भेजते रहें। अधिक शीघ्र लिखूगां।

मेरा साष्टांग प्रणाम व राधास्वामी।

आपकी सेवा में ईश्वर चन्द्र

0000

होशियारपूर

10.10.80

प्यारी बेटी भाग्य;

राधास्वामी!

पत्र मिला, हर एक जीव किसी न किसी खास मिशन के लिए, अपने कर्म भोगने के लिए या मालिक की मौज के आधीन कर्म भोगने के लिए मजबूर है। शर्मा की जन्मपत्रिका ब्यास ने बनाई है। ग्रह बहुत अच्छे हैं। जब तक मेरा शरीर है, आप अमेरिका में रहें। दोनों मिल कर आध्यात्मिकता और मानवता को ख्याल में रख कर काम करें। दुःखी और अशान्त जीवों को उनके हालात के अनुसार सलाह–राय दिया करें। अब आप पति–पत्नी के रूप में नहीं रहा करें। यह बहुत जरूरी है। मैं किसी खास मिशन को लेकर मौज में फ़कीर चन्द के चोले में दाखिल हुआ हूं। मेरे काम का नतीजा संसार में मुसीबते, तबाही, दुःख, संकट होने के बाद लोगों को सच्चाई की तरफ रागब करेगा। मेरे ग्रह ऐसे है।

मैं सच्चाई का अलम्बरदार हूं। उस सच्चाई को फैलाने के लिए कुदरत ने दयाल शर्मा को मेरी मदद के लिए भेजा है। ध्यान रखो, अपने जीवन को अमली जामा दो, मालिक में विश्वास रखो। जहां तक प्रूफ पढ़ने की बात है, मैं चला रहा हूं। यह "बी मैन टैम्पल" मेरा नहीं है। जिसने मुझे यह काम सौंपा है वह इसकी रक्षा जरूर करेगा। अज्ञानी सत्संगियों के पैसे को अपने खर्चे के लिए कभी इस्तेमाल नहीं करना। उस धन को प्रकाशन में और सेवा करने में लगाना। मुझे पूरा विश्वास है कि मानव शर्मा मालिक कि मौज से महान काम करेगा।

जब तक मैं इस चोले में हूं, तुम अमेरिका में रहो लेकिन शर्मा बेसाखी पर यहां जरूर आवे। पचास किताबें दो हवाई पार्सलों द्वारा तुम्हें भेजी जा रहीं हैं। इन से प्राप्त चन्दा हमें भेज दिया जावे।

आपका फकीर

0000

मानवता मन्दिर

होशियारपुर
अक्टूबर, 1980

प्यारे दयाल शर्माः

राधास्वामी!

तुम्हारे पत्र के उत्तर में मैं तुम्हें अंग्रजी की पुस्तक "फकीर की आत्म कथा" भेजूंगा। वह छप रही है। 15 दिन के तैयार हो जायगी। मुझे उम्मीद है कि इस पुस्तक से तुम्हें जरूरी मसाला मिल जायेगा। मैं 18 नवम्बर, 1886 में पैदा हुआ था। मुझे दाता दयाल का स्वप्न 1905 में आया था। महीना और तारीख मुझे याद नहीं। मैं बसरे में पहले महायुद्ध में गया था। दाता दयाल जी का भेजा हुआ अंतिम पत्र ऊपर वाली पुस्तक में छपा है। मैं तुम्हें "फ़कीर सार शब्दावली, फ़कीर भजनावली और दाता दयाल द्वारा लिखी गई सार वचन, भाग 12" भेज रहा हूं।

जहां तक मानव मन्दिर की छपाई में संशोधन के विषय में मेरी प्यारी पुत्री भाग्य द्वारा यह काम करने की बात है, उसमें अभी कुछ नहीं किया जा सकता। क्योंकि यह संशोधन अमेरिका में बैठे हुए करना संभव नहीं है। भाग्य इस काम को उस समय कर सकती है, जब तुम यहां पर स्वयं अध्यक्ष होंगे।

हिन्दी पाण्डुलिपि मिलने पर हम तुम्हारी पुस्तक मानव मन्दिर में मेरी प्रस्तावना के साथ छापना शुरू कर देंगे।

मैं चाहता हूं! कि इस बार बैसाखी पर तुम होशियारपुर में हर हालत में आओ।

मालिक में तुम्हारा
फकीर

000000

मानवता मन्दिर
होशियारपुर
20.12.1980

प्यारे दयाल शर्मा व प्यारी भाग्यः

राधास्वामी!

आपका 25 डालर का चैक और तीसरा चैप्टर मिल गया। दूसरा चैप्टर जनवरी में छप रहा है—मानव मन्दिर में। पहले चैप्टर को बहुत पसंद किया है लोगों ने।

आप मुझे सेहत का ध्यान रखने को लिखते हैं। मैं कहता हूं कि आप अपनी सेहत का ध्यान रखा करो। मेरी सेहत ठीक नहीं रहती। मैं चाहता हूं आई0 सी0 शर्मा आ जावे। बैसाखी पर जरूर आवे। आप अपने तीनों चैप्टर भेजें।

आपका फकीर

0000

मानवता मन्दिर, होशियारपुर
23.12.1980

दयाल शर्माः

राधास्वामी!

बूढ़ा हो गया हूं, तुम्हारा इन्तजार करता हूं, ताकि जो अनुभव मैंने जिंदगी में हासिल किया, उस अनुभव को आप संसार में फैला सकें। मैं तो तुम्हें बुलाने नहीं गया था। मौज ने तुम्हें मेरे साथ लगा दिया। अब मेरे चले—चलाओ का वक्त है। बैसाखी पर जरूर आना भाग्य की बीमारी की चिन्ता है।

दयाल शर्मा कर्म भोग है। मैं बैसाखी पर इन्तजार कर रहा हूं।

आपका फ़कीर

0000

मानवता मन्दिर,
होशियारपुर
29 दिसम्बर 1980

प्यारे दयाल शर्माः राधास्वामी!

आपके चार सफे लेख के व पत्र मिला। मैं तो बुद्धु हूं—इल्म नहीं जानता। दाता ने ख्याल दिया था कि शिक्षा को बदल जाना। जो मर्जी हो करो। जिस तरह मैंने तालीम को बदला, बह तुम्हें बता देता हूं और इस उसूल को अमेरिकन्ज को बतला देना।

आदमी रात को सो जाता है—सपने में उसको गुस्सा आता है। वह किसी को मारता है, तो उसका हाथ ऊपर उठ जाता है। स्वप्न में भयानक दृश्य को देख कर, उसकी जबान बड़बड़ाती है। स्वप्न में ख्याली औरत बनाता है और उसका वीर्य निकल जाता है। जब सपने का ख्याल अपने बस में नहीं फिर भी जिस्म पर असर करता है, तो जब जागते हुए वह जो सोचता है तो उसका उस पर असर कैसे नहीं पड़ेगा। बेदों में इसलिए ही शिव संकल्पं अस्तु कहा गया है।

दयाल शर्मा! कोई भी कर्मों के फल से बच नहीं सकता। अगर आदमी यह समझ जाय कि उसके सब सुख और दुःख उसके पिछले जन्मों के कर्मों के मुताबिक ही मिल रहे हैं , तो उसे निराशा नहीं होगी, उसे शान्ति मिलेगी।

आप मुझे अपने आने की सूचना पहले दे देना ताकि आपका और आपके अमेरिकन साथियों का इन्तजाम अच्छा हो सके।

भाग्य व बच्चों को प्यार। बाकी बातें मिलने पर।

आपका फ़कीर

00000

होशियारपुर
10.10.80

दयाल शर्मा जीः

राधास्वामी!

आपका 21.10.80 का लिखा हुआ पत्र मिल गया। मैंने अपनी आटोबायग्राफी आपको 27.10.80 को भेज दी थी। उसमें आप जो कुछ चाहते हैं, सब मिल जायेगा।

एक उर्दू की किताब "गुलिस्तां हजार रंग" आपको 4.11.80 को भेजी है। यह किताब आपको हर पहलू से पूरी रोशनी देगी। अगर आप चाहें तो इसे मुखतलिफ ढंगों से जाहिर करें, तो आपका नाम अमेरिका में और भी चमक जायेगा। अगर आपने तीन महीने के लिए आना ही है तो फरवरी से अप्रैल तक भारत में रहें। 09.02.81 को बसंत का सत्संग हनमकुण्डा (ए0 पी0) में होता है। वहां सिकन्दराबाद, हैदराबाद आदि जगहों में दौरा होता है। अगर आप साथ रहें तो आपको इन्ट्रोड्यूज करवा दूंगा। फिर आप वापसी में इन्दौर भी मेरे साथ रह सकते हैं। अप्रैल 13—14 को बैसाखी का सत्संग होता है। इसके बाद आप जा सकते हैं।

तुम्हारे हिन्दी के लेख दिसम्बर के महीने से मानव मन्दिर में छपने शुरू हो जायेंगे। उसमें मैंने दीबाचा भी लिख दिया है। वह भी छप जायेगा। भाग्य को कहना कि हिन्दी के लेख हर महीने भेज दिया करे। अंग्रजी के चैप्टर भी हमें भेज दिया करे। मगर छपवाना अमेरिका में ही। उसकी रायल्टी आपकी होगी। जो खुशी हो मन्दिर को दे देना। मन्दिर अब तुम्हारा है, मेरा नहीं।

जब तक मैं जीवित हूं, आप अमेरिका में रहें। मेरे शरीर छूटने के बाद आप जाने और मन्दिर जाने। चार पैसे और कमा लो ताकि आप जब आएं तो आपको कभी किसी का मोहताज नहीं होना पड़े। बैसाखी पर इसलिए बुलाता हूं कि आपको लोगों से मिला सकूं। श्री भारद्वाज, मुंशीराम और जौड़ा आपके यहां जल्दी आने की इच्छा रखते हैं।

फ़कीर

00000

मानवता मन्दिर
होशियारपुर

प्यारे दयालः

राधास्वामी!

आपका खत पहुंचा। सुनो! मुझे किसी भी बात का दावा नहीं। मेरी सारी जिन्दगी सच्चाई की तलाश में ही गुजरी है और इस उमर

में भी सत्संगियों के तजुर्बे से इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि केवल मैं ही नहीं, हर एक आदमी चेतन का एक बुलबुला है, जिसमें एक 'मैं' आ गई है ओर 'मैं' है, शरीर की 'मैं', मन की 'मैं', आत्मा की 'मैं' ओर सुरत की 'मैं'।

दाता दयाल ने मुझे काम दिया था कि तालीम को बलद जाना– जो मैंने समझा वह कह दिया। निवृत्ति का रास्ता और है और प्रवृत्ति का रास्ता और। संसार वालों को निवृत्ति के रास्ते की जरूरत नहीं। कुदरत ने तुम्हें मेरे साथ लगा दिया है। दिल ने आवाज दी कि शायद तुम ही उस सच्चाई को जो निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों रास्तों में मदद कर सकती है, फैला सकोगे। इसलिए ही तो मैं आपको कह रहा हूं कि आप रिटायर होने के बाद फौरन होशियारपुर में मन्दिर में चले आओ। कुदरत को मंजूर हुआ तो वह खुद इस काम में तुम्हारी मदद करेगी। नहीं तो मुझे कोई परवाह नहीं।

जब तक मैं जिन्दा हूं भले ही आप अमेरिका में रहो। चार पैसा कमा लो–मेरे मरने के बाद आप जरूर मन्दिर में आना। कुछ समय भारत रहना और कुछ समय विदेशों में।

चैप्टर जो भेजे हैं उनकी नकल सब आपके पास होगी। आपका सारा मैटर एप्रूवड है।

भाग्य को तथा बच्चों को मेरी तरफ से राधास्वामी।

आपका फ़कीर

00000

मानवता मन्दिर
होशियारपुर
07.03.1981

प्रियतम मानव दयाल शर्माः

राधास्वामी!

डेढ़ महीने के दौरे के बाद होशियारपुर वापिस लौटा हूं। डाक्टर कुन्दन जौड़ा ने मुझे पत्र दिखाया। मैंने भी तुम्हारे अनुवाद का एक अध्याय पढ़ा। सुनो मानव दयाल! मेरा यकीन है कि आप इस पृथ्वी पर एक खास मकसद लेकर ही आए है। (लिसिन! आई बिलीव दाई हैव कम औन दिस अर्थ विद ए सरटेन मिशन)। मैं आपकी पवित्र हस्ती पर अपना सिर झुकाता हूं। मैं खुश हूं कि मुझे आप जैसी पवित्र हस्ती से मिलने का अवसर मिला है। मैं आपके होशियारपुर में आने की लगातार इंतजार कर रहा हूं (आई बोव माई हैड टू दाई होलीनैस आई एम हैप्पी दैट आई हैव ए चांस टू मीट यू आई एम कन्टीनुअसली वेट्गि फोर योर अराइवल इन होशियारपुर)। इस पृथ्वी पर मेरा मिशन समाप्त होने वाला है और मैं जल्दी–से–जल्दी इस संसार को छोड़ना चाहता हूं। मैं तुम्हें इस मिशन को चलाने ओर उसमें कामयाबी पाने का दिल से आशीर्वाद देता हूं। यह सन्तों का, दाता दयाल का, मेरा और तुम्हारा काम दुनिया के सभी राष्ट्रों के लिए, उस बरबादी के बाद सच्चा रास्ता दिखायेगा, जो जल्दी ही आने वाली है, जिसको कोई नहीं रोक सकता। विचार में जबरदस्त ताकत होती है। प्रजातन्त्र का आज का चुनाव का ढंग, धार्मिक मतभेद, नफरत, एक–दूसरे के प्रति द्वेष और अविश्वास पर टिका है, लोभ और झूठा अहंकार आदि सभी अवगुण संसार भर के लोगों में बहुत ज्यादा हो गये हैं, जिससे वातावरण पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ रहा है, इसलिए तबाही को रोका नहीं जा सकता। मानव बनने की शिक्षा मानव मात्र को भविष्य में मदद देगी।

आपका फ़कीर

पुनः – बैसाखी पर तुम्हारे ठहरने का आरामदेह इन्तजाम किया जायगा। 0000

मानवता मन्दिर
होशियारपुर
6 जून, 1981

प्यारे दयाल शर्मा:

राधास्वामी!

कर्म–भोगवश घसीटा जा रहा हूं। आशा हे कि मैं 23 जूलाई, 1981 को होशियारपुर से चलूंगा। डाक्टर रामदेव रावों तथा कैनेडा के नन्दसिंह सिहरा मुझे बुला रहे हैं। मैं चाहता हूं कि वह प्रोफेसर (अमेरिकन प्रोफेसर) जो अमेरिका से आपके साथ यहां आया था आप उसका पता मुझे होशियारपुर भेज दो।

आपकी पुस्तक के हिन्दी के साथ चैप्टर आ चुके हैं। वे मानव मन्दिर में नियमित रूप से छप रहे हैं–हर महीने। बाकी भी भेद दो ताकि सभी मानव मन्दिर में छपवा दिया जायं जब सभी चैप्टर छप जायेंगे तो फिर उसकी एक अलग किताब बन जायगी। हम हर एक चैप्टर की हजार–हजार कापियां अपने पास रखते जा रहे हैं।

मैं शायद पहले कैनेडा ही जाऊँगा फिर वहां से रामदेव के घर पिट्सबर्ग। वहां से वर्जीनिया–बीच, वर्जीनिया, फिर अगर कैलिफोर्निया वाले बुलायेंगे तो वहां चला जाऊँगा।

बुढ़ापा है। कर्म की गति–और क्या लिखूं। जब से तुम गए हो तो तुम्हारा कोई खत नहीं आया।

भाग्य को मेरा प्यार। क्या आप इसी दिसम्बर में होशियारपुर जा रहे हो?

आपका फ़कीर

पुनः–तुम अपना लेख मुझे जरूर भेजो जो तुमने वहां वर्ल्ड कान्फ्रेन्स में पढ़ना है।

00000

मानवता मन्दिर
होशियारपुर
12 जून, 1981

प्यारे दयाल शर्मा:

राधास्वामी!

परसराम अग्रवाल का लड़का स्वीटजरलैंड में है। परसराम की धर्मपत्नी भी स्वीटजरलैंड गई हुई है क्योंकि उनका लड़का वहां स्वीट– जरलैंड की ही लड़की से शादी कर रहा है। शादी के बाद पति–पत्नी परसराम की धर्मपत्नी के साथ भारत आ रहे हैं। इसलिए परसराम इस बार मेरे साथ नहीं आ सकता और मैं हंसराज घेयी को ही अपने साथ ला रहा हूं। घेयी एक ऊँची शिक्षा वाला होम्योपैथिक डाक्टर है और सुरक्षा विभाग में एक अफसर के पद से रिटायर हो चुका है।

मैंने रामदेव राओ को तार दे दिया है कि वह मेरे और घेयी दोनों के लिए निमन्त्रण भेज दे।

दयाल शर्मा! हम अपना–अपना कर्त्तव्य निभाने का काम अपने– अपने भाग्य में लेकर आए हैं। हर एक व्यक्ति से कोई भी काम लेना मालिक के हाथ में है। भाग्य को प्यार।

आपका फ़कीर

पुनः–मैं तुम्हारे हिन्दी के तीन अध्यायों का इंतजार कर रहा हूं। तुम्हारी पत्नी और तुम्हारे बच्चों को हार्दिक प्यार।

ओ मेरे दयाल–तुम्हारी उमर लम्बी हो।

फ़कीर

0000

मानवता मन्दिर
होशियारपुर
24.06.81

दयाल शर्माः

राधास्वामी!

आपका पत्र आया। जब अकेला होता हूं तो सोचता हूं क्या किया? क्यों किया? तेरी इस काम से क्या गर्ज है? अपने मन को टटोलता हूं–कोई जाति गर्ज नहीं–नाम इज्जत की इच्छा नहीं। हां पेट को पालने के लिए गुजारे से अधिक धन की मनुष्य की इच्छा रहती है। कभी सोचता हूं, यह सब क्यों किया?

न कुछ किया न कर सका, न करने योग्य शरीर।
जो कुछ किया सो हरि किया, भयो कबीर कबीर।।

जो–जो जीव जिन–जिन ग्रहों में पैदा हुआ है और जो उसके पिछले जन्मों के कर्म हैं उनके फल से वह बच नहीं सकता। हम सब भाग्य के अधीन हैं। फिर सोचता हूं कि क्या इससे बचने का कोई तरीका भी है। केवल एक ही बात समझ में आती है। वह यह कि **अपने सेल्फ को हमेशा अपने आधार की ओर लगाए रखो, मन को फंसाओ नहीं।** फिर सोचता हूं, मन के चक्कर में फंसना या ना फंसना भी तो ग्रहों के असर के कारण होता है। तब मैं इस नतीजे पर पहुंचता हूं तो मेरे अंदर एक ऐसी अवस्था पैदा होती है, जिसको कोई उनमुन कहता है तो कोई विदेह गति और कोई उसे कहता है–खामोसी।

अपने कर्मों के कारण ही इस बुढ़ापे में मौज मुझे घसीट ले जा रही है। आ रहा हूं, जैसा होगा वैसा खेल खेलूंगा। यात्रा दूर की है। जो काम कुदरत ने मुझसे या तुमसे लेना है वह तो ले कर ही रहेगी। दयाल! काम करते जाओ, मान इज्जत की खातिर नहीं। हां पेट के लिए काम करना जरूरी है।

दयाल! सत्संगियों ने मेरी अन्दर की आंखे खोल दी हैं। लेकिन आम लोग अन्दर की आंखों को खोलना नहीं चाहते। उनको तो तुम श्रद्धा और विश्वास के ख्याल दिया करो। यह भूल जाना कि मैं आपसे कोई धन की मदद चाहता हूं। मन्दिर मेरा नहीं दाता का है, चलना होगा चलेगा। भाग्य को प्यार!

आपका फ़कीर

पुनः–हार्दिक प्यार तथा सम्मान, ओह मेरे प्यारे दयाल शर्मा!

0000

मानवता मन्दिर
होशियारपुर
5 जुलाई, 1981

प्यारे दयाल शर्माः

राधास्वामी!

मैंने तुम्हारी सभी चिट्ठियों का उत्तर दिया है। तुम्हारा 19 जून का पत्र मेरे सामने है।

दयाल शर्मा! यह बात सदा ध्यान में रखना कि हम कुदरत के हाथ में खिलौने मात्र ही हैं। यह कभी भूल कर भी नहीं सोचना कि तुमने कोई चमत्कार या करिश्मा पैदा किया है। यह वह मालिक ही है, जो अपने प्यारे भक्तों को समय–समय पर मदद देता है। मैं दिल से चाहता हूं कि तुम्हारा लड़का स्वस्थ हो जाय।

दयाल शर्मा! मुझे मालूम नहीं कि इस बुढ़ापे में कुदरत मुझे विदेश क्यों खींचे ले जा रही है? मालिक की मौज है। अपने लक्ष्य पर चलते जाओ। तुम अपने सत्संगियों द्वारा मिले पैसे को यात्रा पर खर्च कर सकते हो, पर इस धन को अपने और अपने परिवार के लिए कभी खर्च मत करना। भगवान ने तुम्हें बहुत दिया है। अपना अभ्यास लगा–तार करते रहो, इसे कभी मत भूलो। अगर कोई दुखी जीव तुम्हारे पास आए और दया की मांग करे, तो तुम अपने अंतर में ध्यान करके अपने आपको अपने इष्ट, अपने आदर्श को समर्पित कर दो, प्रकाश और शब्द में विलीन हो जाओ और जो कुछ तुम्हारी अंतरात्मा प्रेरणा दे साफ–साफ कह दो, तुम्हारा वचन सत्य सिद्ध होगा। लोगों के काम बन जाया करेंगे।

दुनिया को रूहानियत नहीं चाहिए। सब लोग अपनी–अपनी इच्छाओं की पूर्ति चाहते हैं। दाता दयाल तुम्हारी मदद करेंगे और मुझे पक्का यकीन है कि तुम भारत ओर विश्व में शोहरत पाओगे। तुम लोगों न मेरी यात्रा का बहुत ही लम्बा–चौड़ा प्रोग्राम बना दिया है। मालिक तुझे इस काम के लिए स्वस्थ रखे। भाग्य को प्यार।

मालिक में तुम्हारा फ़कीर

0000

मानवता मन्दिर
होशियारपुर
12 जुलाई, 1981

प्यारे दयाल शर्माः

राधास्वामी!

तुम्हारा 7 जुलाई का खत इस समय मेरे सामने है। एक श्री आर0 जे0 साहनी 157 ग्लेनवुड ड्रइव स्काट्स वेली केलिफोर्निया, अमेरिका ने मुझे अपने पास सत्संग के लिए बुलाना चाहता है, उसको प्रोग्राम में रख लेना।

दयाल शर्मा! मुझे पता नहीं कि क्यों मालिक की मौज इतनी दूर घसीटे ले जा रही है। मैंने किसी चीज की खोज या तलाश में अपनी सारी जिन्दगी लगा दी है। मैं नहीं जानता कि कब तक जिन्दा रहूं। टिकटों की इन्तजार कर रहा हूं।

भाग्य को कहना कि मैं उसके लिए चन्द्रप्रभावटी के दो पैकेट अपने साथ ला रहा हूं।

मुझे भाग्य द्वारा भेजे गए हिन्दी के दो अध्याय और मिल गए हैं।

टिकटों की इन्तजार में।

मालिक में तुम्हारा
फ़कीर

हुजूर मानव दयाल डा0 ईश्वर चन्द्र जी महाराज के चुने हुए कुछ अमृत वचन

1. लोग साये के पीछे बेतहाशा भाग रहे हैं और ठोस सार वस्तु को नहीं देखते। जब तक उस सार तत्व से मिलने की सच्ची तड़फ दिल में पैदा नहीं होती, जीवन में शान्ति नहीं आ सकती।
2. जब तक परमतत्व से साक्षात्कार नहीं होता, आप चाहे संसार भर की सम्पदा–सम्मान क्यों न प्राप्त कर लें, आपको सच्ची शान्ति नहीं मिलेगी।
3. मालिक यदि पैसे से मिलता, तो पैसे वाल मालिक पर एका–धिकार कर लेते और गरीबों को मालिक के दर्शन भी मुहाल हो जाते।
4. धन कुबेरों की अशान्ति ओर आत्म–हत्याएं इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि सम्पत्ति और सम्मान के बावजूद भी मनुष्य की आत्मा को मालिक के मिलने की कुरेद निरन्तर सताती रहती है।
5. किसी राजपुरूष या नेता से मिलना इतना महत्वपूर्ण नहीं होता, जितना कि एक संत या अवतारी पुरूष की पुस्तक को पढ़ना।
6. लोग अधिकार के झूठे अहंकार में भूल जाते हैं कि सम्पदा एक घोड़ा है। लोग घोड़े के पीछे पड़े रहते हैं, पर सवार की सुध नहीं। सवार तो मनुष्य खुद ही है।
7. जो लोग शुभ कार्य के लिए समय के अभाव की शिकायत करते हैं, उसका कारण यह होता है कि वे मालिक के ध्यान के लिए समय नहीं देते।
8. मालिक का नियमपूर्वक नित्य ध्यान करने से मनुष्य का मन स्थिर और सशक्त हो जाता है और उसके सभी कार्य स्वतः ही जल्दी ठीक हो जाते हैं, और समय के अभाव की शिकायत दूर हो जाती है।

9. सच्चा त्याग और वैराग्य मन से होता है, संसार को त्यागने की कोई आवश्यकता नहीं है।
10. अविनाशी परमतत्व, परम आधार के अनन्त सागर की एक बिन्दू मात्र से समस्त सौर मण्डल, सूर्य, चन्द्र, तारे, आकाश गंगाएं तथा अनन्त ब्रह्माण की रचना होती रहती है।
11. राधा रूपी बिन्दु भी उतना ही पूर्ण और प्रभावशाली है, जितना कि परम तत्व रूपी सिन्धु। दोनों एक और अभेद हैं।
12. स्वामी आधार है और सुरत –आत्मा उसी की धारा है। जब आत्मा की धारा उलट कर स्वामी की ओर चलती है, तब वही राधा बन जाती है।
13. सम्पूर्ण स्थूल सूक्ष्म तथा कारण जगत् राधा है और स्वामी उसका आधार है।
14. यह समपूर्ण ब्रह्माण्ड राधा है, जो अत्यन्त सुन्दर है, क्योंकि यह राधा उस स्वामी की ही धारा है।
15. कोई कितना भी प्रतिभाशाली, सम्पन्न तथा शक्तिशाली क्यों न हो, वह घट–घट में विराजमान परमेश्वर को तब तक नहीं देख सकता, जब तक कि उसमें श्रद्धा और विश्वास न हो।
16. मन अत्यन्त शक्तिशाली है। यह आपको आकाश पर भी उड़ा सकता है और पाताल में भी गिरा सकता है।
17. प्रेम में एकता और मिलाप करने की अनन्त शक्ति है। ईर्ष्या और वैमनस्य अलगाव–बिलगाव करती है।
18. संत किसी को बुरा या अच्छा नहीं समझते। वे सब के प्रति सम भाव और प्रेम का व्यवहार करते हैं।
19. संत सद्गुरू हमेशा निश्चय की शक्ति देता है। उसका आशीर्वाद ही निश्चय की शक्ति है, जिसकी समझ पहले तो नहीं आती, किन्तु बाद में आती है।
20. लोक राधा है और परलोक स्वामी है। जो गुरू शिष्य का लोक नहीं सुधार सकता, वह उसे परलोक कैसे पहुंचायेगा।
21. जिसने इस जीवन में सच्चिदानन्द का अनुभव नहीं किया, उसे मरने के बाद भी यह अनुभव नहीं हो सकता।
22. चोला छोड़ते समय गुरू का व्यक्तित्व नहीं, बल्कि उसके द्वारा दिया गया सच्चा ज्ञान मोक्ष का कारण बनता है।
23. राधा शक्ति है और स्वामी शक्तिमान है। दोनों एक दूसरे की अपेक्षा करते हैं।
24. सभी धर्मों का लक्ष्य है कि मानव अपनी आन्तरिक आध्यात्मिक पूर्णता को विकसित करे।